जैन विश्वभारती संस्थान

(मान्य विश्वविद्यालय)

लाडनूं-341306 (राजस्थान)

दूरस्थ शिक्षा निदेशालय

एम. ए. (उत्तरार्द्ध)

विषय : राजनीति विज्ञान

अष्टम पत्र : भारत में राज्य राजनीति

Expert Committee

Sr. No.	Name	Designation	Organization
1.	**Prof. K.S. Saxena**	Retd. Professor	Rajasthan University, Jaipur
2.	**Prof. Kanta Katariya**	Professor	Jai Narayan Vyas University, Jodhpur
3.	**Dr. Rajesh Sharma**	Associate Professor	Rajasthan University, Jaipur
4.	**Prof. Anil Dhar**	Professor	Jain Vishva Bharati Institute, Ladnun
5.	**Dr. Jugal Kishore Dadhich**	Associate Professor	Jain Vishva Bharati Institute, Ladnun
6.	**Prof. A.P. Tripathi**	Professor,	Jain Vishva Bharati Institute, Ladnun

ISBN No. 978-93-83634-51-4

लेखक

डॉ. राणा प्रताप सिंह

प्रोफेसर एवं विभागाध्यक्ष, राजनीति विज्ञान विभाग
माधव विश्वविद्यालय
आबू रोड़, (सिरोही-राजस्थान)

कापीराइट

जैन विश्वभारती संस्थान, लाडनूं

नवीन संस्करण : 2019

मुद्रित प्रतियां : 140

प्रकाशक

जैन विश्वभारती संस्थान

(मान्य विश्वविद्यालय)
लाडनूं - 341306 (राजस्थान)

मुद्रक :
M/s ADITYA PRINTERS & STATIONERS, JAIPUR

अनुक्रमणिका

क्र. सं.	अध्याय	पृष्ठ संख्या
1	भारत में राज्यीय राजनीति का विकास	1-5
2	विश्लेषण के दृष्टिकोण	6-11
3	भारतीय विविधताओं की प्रकृति व राष्ट्रवादी प्रतिक्रियाएँ	12-18
4	संविधान व्यवस्था में राज्य	19-25
5	राज्य प्रणाली का विकास	26-32
6	चुनाव और चुनावी राजनीति	33-42
7	दल और दलीय व्यवस्था	43-49
8	भारतीय राज्यों में मतभेद प्रतिमान और विरोधान्दोलन	50-55
9	विकास के मुद्दे और क्षेत्रीय विषमताएँ	56-64
10	कृषि परिवर्तन एवं भूमि सुधार	65-71
11	उद्योग धन्धे और श्रमिक वर्ग	72-78
12	भूमण्डलीकरण, उदारीकरण : राज्यीय राजनीतिक–तात्पर्य	79-84
13	अन्तरराज्यीय विवाद : जलीय व क्षेत्रीय सीमाएँ	85-89
14	साम्प्रदायिक राजनीति के प्रतिमान	90-98
15	दलितों और पिछड़े वर्गों की अधिकार–माँग	99-110
16	राज्यीय राजनीति में भाषाई एवं नृजातीय अल्पसंख्यक	105-110
17	भारत में राज्य स्वायत्तता आन्दोलन	111-116

अध्याय–1
भारत में राज्यीय राजनीति का विकास

अध्याय की रूपरेखा

1.1 उद्देश्य
1.2 प्रस्तावना
1.3 राज्यीय राजनीति : पचास से साठ का दशक
1.4 क्षेत्रीय दलों का उदय और राज्यीय राजनीति : सत्तर का दशक
1.5 राज्यीय राजनीति : अस्सी के दशक से आगे
1.5.1 पहचान संबंधी अधिकार की माँग
1.5.2 भूमण्डलीकरण का प्रभाव
1.5.3 विप्लवतथा राज्यीय राजनीति
1.6 सार–संक्षेप
1.7 अभ्यास

1.1 उद्देश्य

इस इकाई का उद्देश्य आपको भारत में राज्यीय राजनीति के विकास से परिचित कराना है। यह इकाई राज्यीय राजनीति का विश्लेषण नहीं करती। राज्यीय राजनीति की विषय–वस्तु का विश्लेषण इस पाठ्यक्रम की अन्य इकाइयों में किया जायेगा। प्रस्तुत इकाई इस बात की विवेचना करती है कि किस प्रकार 1950 के दशक से भारत में राज्यीय राजनीति के प्रतिमान बदले हैं। इस इकाई में लिए गए मुख्य मुद्दों में शामिल हैं । क्षेत्रीय व राष्ट्रीय राजनीति में राज्यों के दर्जे में परिवर्तन, विचारार्थ विषय व समस्याएँ, नेतृत्व प्रतिमान तथा राजनीतिक दल व राजनीतिक प्रक्रियाएँ। इस इकाई का मुख्य लक्ष्य यह दर्शाना है कि एक अवधि विशेष में राज्यीय राजनीति के प्रतिमान किस प्रकार विकसित हुए।

1.2 प्रस्तावना

भारत में राजनीति के एक विशिष्टीकृत कार्यक्षेत्र के रूप में राज्यीय राजनीति का विकास स्वातंत्र्योत्तर कालमें हुआ। भारतीय संघ के राज्यों ने 1956 में अपने पुनर्गठन का अनुकरण कर विशिष्ट पहचानों का रूप धारण कर लिया। अपने पुनर्गठन से पूर्व उन्हें चार श्रेणियों में रखा गया था। ए, बी, सी, और डी राज्य।परन्तु यह 1960 के दशक में ही हुआ कि राजनीति–वैज्ञानिकों को राज्यीय राजनीति का अध्ययन एकविशिष्टीकृत विषय के रूप में करने की आवश्यकता महसूस हुई। अनेक राज्यों में पचास व साठ के दशक में व्याकुल करते घटनाक्रम ने उनमें से बहुतों को प्रेरित किया कि वे विभिन्न राज्यों में राजनीति का अध्ययन करें।

भारत में राज्यीय राजनीति को एक परिप्रेक्ष्य में रखने के प्रयास में, अमेरिका में मायरन वीनर की पहल परदो सेमिनार आयोजित किए गए । 1961 में (शिकागो विश्वविद्यालय) और 1964 में (मैसास्यूसेट तकनीकीसंस्थान्)। भारत में सत्रह में से नौ राज्यों पर अध्ययनरत विद्वानों ने अपने अनुभव परवर्ती सेमिनार में प्रस्तुतकिए। प्रथम सेमिनार पर रिपोर्ट जून 1961 के *एशियन सर्वे* में प्रकाशित की गई। 1964 के सेमिनार में प्रस्तुतदस्तावेज़ राज्यीय राजनीति पर सर्वप्रथम पुस्तक :- मायरन वीनर संपादित *स्टेट पॉलिटिक्स इन इण्डिया*(1968) में प्रकाशित हुए इसी तर्ज़ पर इक़बाल नारायण ने एक पुस्तक सम्पादित की :-*स्टेट पॉलिटिक्स इन इण्डिया* (1976), जो कि भारत में असम व जम्मू–कश्मीर समेत सभी राज्यों की राजनीति को समेट लेने कासर्वप्रथम प्रयास था। इसकी पूर्ववर्ती, यथा वीनर की पुस्तक, में सभी राज्य नहीं लिए गए थे।

स्वातंत्र्योत्तर काल में राज्यीय राजनीति महत्त्वपूर्ण परिवर्तनों से गुज़री है। वह भारत की राजनीति में राष्ट्रीयराजनीति की परिधि से निकल कर केन्द्रीय मंच पर उभरी है। नब्बे के दशक से भारतीय राज्य केन्द्र मेंगठबंधन सरकारों में भागीदार हो गए हैं। पहले वे भारत की राजनीति में केन्द्र के मुकाबले दूसरे दर्ज़े पर थे। अब वे इस स्थिति में

हैं कि न सिर्फ़ भारत में राजनीति हेतु कार्यावली तय करें, बल्कि राज्यीय राजनीति के स्पष्ट वर्णन में वे भागीदारी भी बन गए हैं। ये राज्य किसी न किसी गठबंधन पक्ष के सदस्य बनकर राष्ट्रीय राजनीति में भाग लेते हैं। वे विभिन्न क्षेत्रीय व सामाजिक दलों का प्रतिनिधित्व करते हैं।

1.3 राज्यीय राजनीति : पचास से साठ का दशक

स्वतंत्रता पश्चात् प्रथम दो दशकों में राज्यीय राजनीति केन्द्र के प्रभाव में ही अंकुरित हुई, जिसने भारत में राष्ट्र–राज्य निर्माण के अनुशीलन पर ध्यान केन्द्रित किया। इस अवधि में विकास के नेहरूवादी आदर्श और कांग्रेस के एक–दलीय प्रभुत्व ने ही भारत में राजनीति को अभिव्यक्ति प्रदान की। राज्यीय राजनीति मुख्य रूप से राष्ट्रीय राजनीति का ही प्रतिरूप थी। केन्द्र सरकार भारतीय राजनीतिक व्यवस्था में एक प्रभावशाली स्थिति रखती थी, जिसमें कि राज्यीय राजनीति को दूसरा स्थान प्राप्त था। केन्द्र के दिशानिर्देश पर राज्य सरकारों ने अनेक कदम उठाये ताकि राष्ट्र–निर्माण की दिशा में योगदान मिले; जैसे – भूमि सुधार, और सामुदायिक विकास कार्यक्रम। केन्द्र में और बहुत से राज्यों में सत्ता कांग्रेस पार्टी के पास थी। राज्यों में साम्प्रदायिक हितों का प्रतिनिधित्व करती कांग्रेस के भीतर विभिन्न स्वार्थी गुट राष्ट्रीय स्तर पर स्वार्थी दल नेतृत्व के उपांग थे। यह तथ्य कि केन्द्र व अनेक राज्यों में प्रबल दल का ही बोल–बाला रहता था, ने इसके साथ ही यह मन में बैठा दिया कि राज्यों व केन्द्र में राजनीति का एक सर्वमान्य प्रतिमान है। राज्यपाल, केन्द्र में अनुकूल सरकारों की यथा नियुक्तियों के रूप में, कुछ एक को छोड़कर, निर्विवादात्मक ही रहते थे। निस्संदेह, यह एक प्रभावी प्रतिमान था। परन्तु इसके साथ ही, राज्यीय राजनीति के भीतर एक ही समय में असम्मत प्रतिमान भी सामने आये। इस घटनाक्रम ने राजनीति के प्रमुख प्रतिमान को चुनौती दी : यथा, कांग्रेस की प्रमुख स्थिति और राज्यीय राजनीति की गौण अथवा द्वितीयक स्थिति। स्वतंत्रताप्रप्ति के कुछ ही वर्षों के भीतर उत्तर–पूर्वी भारत में नागा और मिज़ो विद्रोह विप्लव शुरू हो गए, जम्मू–कश्मीर में जनमत मोर्चा आन्दोलन शुरू हो गया, और दक्षिण भारत में राज्यों के पुनर्गठन की माँग उठायी गयी। यहाँ तक कि कांग्रेस से भिन्न वैचारिक धारणा रखने वाले दलों ने भी राज्यों की राजनीति में इस दौरान महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाई। बिहार, उत्तर प्रदेश, केरल व पश्चिम बंगाल में समाजवादियों व वामपंथ ने मिलकर, उत्तर भारतीय राज्यों में जनसंघ ने, और पंजाब में अकाली दल ने लोगों को कांग्रेस के खिलाफ़ विभिन्न मुद्दों पर संघटित किया। इस घटनाक्रम ने राज्यीय राजनीति के एक ऐसे प्रतिमान हेतु तान छेड़ी जो निकट भविष्य में भारत में उदय होने को था। महाराष्ट्र व उत्तर प्रदेश में आरपी. आई. के नेतृत्व में दलित आन्दोलन, और महाराष्ट्र में दलित पंथेर; उत्तर भारत में जन संघ, राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ व उनके संबद्ध दलों के गौ–रक्षा आन्दोलन; हिन्दी भाषा के प्रसार हेतु समाजवादी आन्दोलन; तथा तमिलनाडु में हिन्दी भाषा थोपे जाने का विरोध व भारत से मद्रास/तमिलनाडु के संबंध–विच्छेद हेतु माँग राज्यीय राजनीति के प्रतिमानों हेतु नृजातीय आयामों के आरंभिक उदाहरण हैं। कांग्रेस के आधिपत्य को गुजरात व राजस्थान में 'स्वतंत्र' जैसी रूढ़िवादी पार्टियों द्वारा भी चुनौती पेश की गई। इस घटनाक्रम ने सेलिग हैरिसन को 1950 के दशक को ''सर्वाधिक खतरनाक दशक'' पुकारने के लिए प्रेरित किया। राज्यीय राजनीति के प्रभावी प्रतिमान को कांग्रेस के भीतर तक से चुनौती पेश की गई। कांग्रेस के भीतर स्वार्थी गुटों के नेतागण अपने–अपने सामाजिक आधार तैयार करने में पीछे नहीं रहे। कांग्रेस के सदस्य रहते हुए भी उन्होंने अपने–अपने राज्यों में अपने स्वयं के आधारों को मज़बूत किया। इसका परिणाम हुआ :- विभिन्न स्वार्थी–गुट नेताओं के बीच आरोप–प्रत्यारोपों का आदान–प्रदान। चौधरी चरण सिंह का उदाहरण यहाँ सबसे सटीक बैठता है। आप कांग्रेस में रहते–रहते, उत्तर प्रदेश के मझले व पिछड़े वर्गों के भीतर अपने लिए एक आधार पहले ही तैयार कर चुके थे। चरण सिंह व अन्य कांग्रेसी नेताओं के बीच गुटबाज़ी की लड़ाई का परिणाम हुआ :- उत्तर प्रदेश में कांग्रेस का विभाजन और उत्तर भारतीय राज्यों की राजनीति में एक सर्वथा सशक्त क्षेत्रीय व ग्रामीण दल का उदय। इस प्रतिमान को अभिव्यक्ति मिली 1967 में हुए आम चुनावों में अनेक राज्यों में कांग्रेस की हार तथा 1969 में गठबंधन सरकारों के गठन के रूप में। इसने भारतीय संघ के राज्यों में राजनीति की एक नई विचारधारा को जन्म दिया।

1.4क्षेत्रीय दलों का उदय और राज्यीय राजनीति : सत्तर का दशक

साठ व सत्तर के दशक में राज्यीय राजनीति के प्रतिमानों में परिवर्तन जवाहरलाल नेहरू की मृत्यु पश्चात् हुए:- कांग्रेस प्रणाली का पतन और इंदिरा गाँधी का उदय, जिन्होंने कांग्रेस व शासन संस्थाओं को व्यक्तिगत बना लिया था। साठ के दशकांत व सत्तर के दशक के बीच राज्यीय राजनीति के सबसे महत्त्वपूर्ण अभिलक्षणों में एक रहा ग्रामीण धनाढ्यों अथवा कुलकों का उदय, खासकर उन क्षेत्रों में जहाँ हरित क्रांति देखी गई। सर्वाधिक प्रासंगिक उदाहरण हैं :- उत्तर प्रदेश, हरियाणा व पंजाब में जाट; बिहार व पूर्वी उत्तर प्रदेश में यादव और कुर्मी; आन्ध्र प्रदेश में रेड्डी व काम्मा; कर्नाटक में वोक्कालिग्गा और लिंगायात, आदि। कृषिक कार्यवली पर विशेषकर ध्यान आकृष्ट करते हुए चरण सिंह ने भारतीय क्रांति दल का गठन किया। उन्होंने दो दशकों (1967–1987) तक उत्तर भारत में राज्यीय राजनीति में एक सशक्त वर्ग को नेतृत्व और मच प्रदान किया। इस अवधि में बिहार व हरियाणा में राज्य–स्तरीय नेताओं को साथ लेकर उत्तर भारत

की राजनीति पर छाये रहे। उत्तर प्रदेश के नक्शेकदम पर कृषि–वर्गों के बीच प्रबल सामाजिक आधारों को लेकर बड़ी संख्या में राज्यों में सशक्त क्षेत्रीय नेताओं का उद्‌गमन हुआ। इन नेताओं व पार्टियों ने क्षेत्रीय मुद्‌दों पर ध्यान आकृष्ट किया और केन्द्र–राज्य संबंधों को सुधारे जाने की माँग की। राज्यपाल, जो कि प्रभावी दल, यथा कांग्रेस, के प्रति अनुकूल माना जाता था, की भूमिका पर संदेह किया जाने लगा और केन्द्र–राज्य संबंधों में परिवर्तन की माँग उठी। यह घटनाक्रम आने वाले वर्षों में राज्यीय राजनीति में निर्णायक सिद्ध हुआ।

क्षेत्रीय नेताओं व राजनीतिक दलों के बीच समन्वय प्रक्रिया ध्यानाकर्षक बन गयी। इनमें से कुछ नेताओं ने राष्ट्रीय स्तर के नेताओं की अर्हता प्राप्त कर ली। इन नेताओं ने अपनी शक्ति क्षेत्रीय/राज्यीय राजनीति (राष्ट्रीय राजनीति की योग्यता प्राप्त कर लेने के बावज़ूद) से ही निष्कर्षित की और क्षेत्रीय राजनीतिक दलों का नेतृत्व किया। आपातकाल लागू किए जाने ने अनेक राज्यीय व राष्ट्रीय नेताओं व दलों को अवसर प्रदान किया कि वे प्रभुत्व वाली कांग्रेस के खिलाफ़ एक साथ खड़े हों। जनता पार्टी के नेतृत्व वाली सरकारों ने केन्द्र व राज्यों, दोनों में कुछ कदम उठाये जिनमें राज्यीय राजनीति की गूँज सुनाई दी। मंडल आयोग की नियुक्ति और बिहार व उत्तर प्रदेश में पिछड़े वर्गों के लिए आरक्षण लागू किए जाने ने नए रुझान पैदा किए जो कि राज्यीय के साथ–साथ राष्ट्रीय राजनीति के लिए महत्त्वपूर्ण थे।

राज्य स्तरीय नेताओं व राजनीतिक दलों ने न सिर्फ इंदिरा गांधी के प्रतीक वाली कांग्रेस के नेतृत्व एवं संगठन को चुनौती दी, बल्कि केन्द्र–राज्य संबंधों में राज्यों के लिए एक अधिक युक्तियुक्त स्थिति भी प्राप्त करने का प्रयास किया। साठ के दशकांत से अस्सी के दशकारंभ तक केन्द्र–राज्य संबंधों को सुधारने के लिए विपक्षी नेताओं की बैठकें, राजमन्नार आयोग की नियुक्ति, पश्चिम बंगाल में वाम–मोर्चा का संकल्प तथा 1983 में सरकारिया आयोग की नियुक्ति, आदि क्षेत्रीय राजनीतिक ताकतों के बढ़ते महत्त्व के सबसे महत्त्पूर्ण उदाहरण रहे। सत्तरके दशक में कांग्रेस के नेतृत्व व इंदिरा गाँधी को जे.पी. आन्दोलन व गुजरात आन्दोलन द्वारा चुनौती पेश की गई। क्षेत्रीय ताकतों, जे.पी. आन्दोलन तथा इंदिरा गाँधी के विरुद्ध इलाहाबाद उच्च न्यायालय के अभिनिर्णय संबंधी चुनौती को झेल पाने में अक्षम केन्द्र ने बीस महीनों (1975–1977) के लिए देश में आपातकाल लागू कर दिया। आपातकाल–पश्चात् युग में चरण सिंह जैसे क्षेत्रीय नेताओं का राष्ट्रीय राजनीति की ओर उन्नयन देखा गया। इसके साथ ही, बिहार में कर्पूरी ठाकुर, हरियाणा में देवी लाल, उत्तर प्रदेश में तथा अनेक दक्षिण भारतीय राज्यों में रामनरेश यादव और फिर मुलायम सिंह यादव जैसे राज्य स्तर के नेतागण केन्द्र की राजनीति में अपने कार्यक्रमों को दस्तंदाज करने लगे।

1.5 राज्यीय राजनीति : अस्सी के दशक से आगे

1.5.1 पहचान संबंधी अधिकार कीमाँग

अस्सी के दशकोपरांत घटनाक्रम ने भारत में राज्यीय राजनीति के बदलते दौर और राष्ट्रीय राजनीति में राज्योंकी भूमिका में और अधिक योगदान दिया। यह घटनाक्रम इस प्रकार था :- राष्ट्रीय एवं राज्यीय स्तरों परगठबंधन राजनीति की बारंबारता; भूमण्डलीकरण; नेतृत्व की पुनः एक और पीढ़ी का उद्‌गमन; नृजाति, यथाजाति (दलित व पिछड़े वर्ग), जनजाति, भाषा आदि, पर आधारित बहुत–सी पहचानों की अधिकार–माँग; किसानोंके आन्दोलन; उत्तरी–पूर्व, जम्मू–कश्मीर व पंजाब में विप्लव; तथा स्वायत्तता आन्दोलन। विभिन्न सामाजिकसमूहों के आन्दोलनों को नव सामाजिक आन्दोलन के रूप में जाना जाने लगा है। हालाँकि ये घटनाएँ मुख्य तौरपर राज्यीय राजनीति के परिणामस्वरूप हुईं, फिर भी पूर्व काल के मुकाबले ये लक्षण भिन्न थे।हाल के दिनों में उत्तर में दलितों व पिछड़े वर्गों की अधिकार–माँगों ने सिर्फ़ पहले दक्षिण में इसी प्रकार के दावोंवाली राजनीति में इज़ाफा किया है। ब.स.पा. के रूप में उत्तर भारत में दलितों के, बिहार व उत्तर प्रदेश मेंजनता दलों के विभिन्न अवतरणों के रूप में पिछड़े वर्गों के, और विभिन्न जातियों के साथ–साथ धर्म से जुड़ेग़ैर–पार्टी मोर्चों के राजनीतिकरण ने भारत में राज्यीय राजनीति को नए आयाम प्रदान किए हैं।

इस अवधि में उत्तर प्रदेश व पंजाब में भारतीय किसान यूनियनों (भा.कि.यू.), महाराष्ट्र में 'शेतकारी संगठन',गुजरात में 'खेदयुत समाज' तथा कर्नाटक में 'कर्नाटक राज्य रयैत संघ' के रूप में धनाढ्य किसानों काउद्‌गमन देखा गया। इन समूहों ने पहले सत्तर के दशक में भी अवतार लिया था, जब उन्हें उत्तर के साथ–साथदक्षिण में भी कुलकों के रूप में सम्बोधित किया गया था। परन्तु सत्तर के दशक के और अस्सी के दशक केरुझानों में अन्तर था। जबकि पूर्ववर्तियों ने हरित क्रांति व भूमि–सुधारों के परिणामस्वरूप मुख्य तौर परराजनीतिक सत्ता में भागीदारी एवं कृषिक उत्पादों के लिए व्यापार संबंधी अनुकूल शर्तों के लिए प्रयास किया,परवर्तियों ने बाज़ार अर्थव्यवस्था से जुड़े मुद्‌दों पर ध्यान केन्द्रित किया। नव सामाजिक बलों ने विभिन्न राज्योंमें बहुविधि माँगें उठायीं। ये माँगें आरक्षण, नए राज्यों के गठन तथा केन्द्र से राज्यों को संसाधन आबंटन केरूप में प्रकट हुईं।

1.5.2 भूमण्डलीकरण का प्रभाव

बीसवीं सदी का अन्तिम दशक समाप्त होते–होते राज्यीय राजनीति ने एक नया मोड़ ले लिया। एक ओर,भूमण्डलीकरण ने केन्द्र की स्थिति को कमज़ोर कर दिया है, और दूसरी ओर राज्यों को इस योग्य बना दियाहै कि

राष्ट्रीय के साथ–साथ राज्यीय राजनीति में भी स्वतंत्र खिलाड़ी बनें। विदेशी सीधा निवेश (एफ.डी.आई)ने सभी राज्यों पर एकसमान प्रभाव नहीं डाला; कुछ राज्य तो इस से लाभान्वित हुए हैं जबकि अन्य पिछड़ गएहैं। वस्तुतः, निवेशों का सहारा लेने में उदारीकरण राज्यों के बीच प्रतिस्पर्धा में परिणत हुआ है। कुछ पर्यवेक्षकोंको लगता है कि इसने राज्यों के बीच अनमेलपन पैदा किया है। कुछ राज्य तो अधिक उन्नत हो गए हैं जबकिअन्य और अधिक पिछड़ गए हैं।

लॉरेन्स सेज़ की पुस्तक *फ़ैडॅरॅलिज़्म विदाउट ए सैंटर* दर्शाती है कि भूमण्डलीकरण ने भारत में राज्यों को इसयोग्य बना दिया है कि वे अपनी कार्यसूचियों का अनुसरण करने के लिए स्वतंत्र सत्ता के रूप में काम कर सकें;वे अब अन्तर्राष्ट्रीय दानदाताओं से सीधे सौदेबाज़ी कर सकते हैं, और विभिन्न एजेन्सियों के साथ समझौते करसकते हैं। अवश्य ही, यह काम केन्द्र सरकार की सहमति और स्वीकृति के साथ ही करना होता है।ऐसा पूर्व–भूमण्डलीकरण दौर में संभव नहीं था। भूमण्डलीकरण अन्तर–सरकारी संस्थानों के अपरदन में भीपरिणत हुआ है। सेज़ का दावा है कि अन्तर–सरकारी सहयोग ने ही ''अन्तर–अधिकारिक *प्रतिस्पर्धा'' को राह दिखाई है।*

भूमण्डलीकरण के दौर में दलीय प्रणाली तक में बदलाव देखा गया है। अधिकांश राज्यों में दो या दो से अधिकपार्टियाँ मुख्य दलों के रूप में उभरी हैं। यहाँ पश्चिम बंगाल ही अपवाद सिद्ध हुआ जहाँ एक ही दल प्रभावी दलबना रहा। यहाँ भी, वह वाम मोर्चा के रूप में अन्य समान–विचारधारा दलों के साथ मिलकर ही सत्ता संभालनेमें सफल हुआ था। राज्य–स्तरीय पार्टियाँ विशिष्ट क्षेत्रों, धर्म एवं जाति की ओर अभिविन्यस्त होती हैं। ये पर्टियाँपूर्व व उपरांत चुनावी गठबंधनों, मोर्चों तथा गठबंधन सरकारों में साझीदारों के माध्यम से अपने प्रभाव का प्रयोगकरने में सक्षम होती हैं। इस संबंध में सबसे ध्यानाकर्षक उदाहरण हैं :- उत्तर प्रदेश, पंजाब व मध्य–प्रदेश मेंअपना आधार रखने वाली बहुजन समाज पार्टी; उत्तर भारतीय राज्यों में समाजवादी पार्टी, राष्ट्रीय लोकदल,भारतीय राष्ट्रीय लोकदल, राष्ट्रीय जनता दल, राष्ट्रवादी कांग्रेस पार्टी, अकाली दल; पूर्व में उड़ीसा में बीजूजनता दल; दक्षिण में तेलुगुदेशम् पार्टी, ऑल इण्डिया अन्ना द्रमुक मुनेत्र कड़गम् व द्रमुक मुनेत्र कड़गम; तथापश्चिम में शिव सेना। उत्तर–पूर्व भारत में क्षेत्रीय राजनीतिक दल अधिकता में हैं।

राजनीतिक दलों की भूमिका आम तौर पर चुनावी संघटन पर केन्द्रित रहती है। परन्तु दलितों व अन्य–पिछड़े–वर्गोंजैसे नव सामाजिक बलों के उद्‌गमन ने राज्य में ग़ैर–चुनावी संघटन में भी इज़ाफा किया हैं। परवर्ती, हालाँकि,चुनावी लामबंदी से भी जुड़ जाया करता है।

राजनीतिक एवं सामाजिक शक्तियों की बढ़ती संख्या के कारण कोई एक शक्ति राज्य राजनीति पर हावी होनेकी स्थिति में नहीं है। वे सभी सत्ता में अपनी भागेदारी चाहते हैं। यद्यपि गठबंधन और मोर्चे बनने के पीछेसामान्यतौर पर वैचारिक कारण होते हैं, इनके पीछे मुख्य कारण व्यवहारिक और राजनीतिक होते हैं।

1.5.3 विप्लवतथा राज्यीय राजनीति

इस इकाई में अब तक चर्चित विषयों के अलावा, विप्लव अर्थात् विद्रोह या बगावत तथा संबद्ध विषय अनेक राज्योंकी राजनीति में एक मुख्य स्थान रखते हैं, खासकर उत्तर–पूर्व भारत, जम्मू–कश्मीर तथा पंजाब में। येआत्म–निर्णयन् आन्दोलन से भी जुड़े हैं। यह घटनाचक्र न सिर्फ संबद्ध राज्यों की राजनीति को प्रभावित करताहै बल्कि देश की राष्ट्रीय राजनीति पर भी गंभीर अप्रत्यक्ष प्रभाव डालता है। विप्लव संबंधी समस्याएँ विकास,अंतर–नृजातीय संबंधों एवं स्वायत्तता आदि मुद्‌दों से जुड़ी हैं। यद्यपि विप्लव राष्ट्र–राज्य अथवा उसका हवालादेने वालों के खिलाफ दिशानिर्देशित होता है, अनेक उदाहरणों में वह नृजातीय उपद्रवों एवं नृजातीय समूहों केबीच संघर्ष को भी जन्म देता है। विप्लव की समस्या भारत के लिए नई नहीं है। जैसा कि पहले उल्लेख कियागया, स्वतंत्रताप्राप्ति के तुरंत पश्चात् भारत ने अनेक समस्याओं का सामना किया; जैसे :- उत्तर–पूर्व भारत मेंनागा और मिज़ो विद्रोह, जम्मू–कश्मीर में जनमत मोर्चा आन्दोलन, दक्षिण भारत में तमिल भाषी जनता के लिएएक पृथक् संप्रभु राज्य हेतु माँग, आदि। परन्तु यह अस्सी के दशक से ही हुआ है कि विप्लव अन्य राज्यों में भीफैल गया है। यद्यपि सत्तर के दशक तक राज्य स्तरीय नेताओं व दलों ने प्रबल दल प्रणाली को चुनौती दी थी,विप्लव आन्दोलन ''संघ–निर्माण'' अभिगम के समर्थन में केन्द्र के ''राष्ट्र–निर्माण'' अभिगम को समांगी बनाएजाने पर आपत्ति करते हैं। कुछ मामलों में विप्लव स्वायत्त आन्दोलन अथवा बाहरी व्यक्तियों के विरुद्ध आन्दोलनका उपजात रहा है। इस प्रक्रिया में नए समूह स्वायत्तता अथवा आत्म–निर्णयन् की माँग करते हैं। ऐसे उदाहरणउत्तर–पूर्व भारत में अधिकता से हैं। उदाहरण के लिए, असम संयुक्त मुक्ति मोर्चा (उल्फा) आन्दोलन केसमर्थक, बोडो के और कार्बी के आन्दोलन कभी असम में अखिल असम दल संघ (आसू) आन्दोलन का हिस्साहुआ करते थे। 'आसू' आन्दोलन के भीतर प्रबल समूहों द्वारा अपने को उपेक्षित महसूस किए जाने पर उन्होंनेभारतीय संघ के भीतर संप्रभुता अथवा स्वायत्तता की माँग करते हुए अपने पृथक् आन्दोलनों का सहारा लिया।

1.6सार–संक्षेप

भारत में राज्यीय राजनीति कई पड़ावों से गुज़री है। स्वतंत्रता पश्चात् लगभग दो दशकों से, खासकर 1956 में जब से राज्यों के पुनर्गठन के चलते अधिकांश राज्यों ने अपनी विशिष्ट पहचानें कायम कर लीं, राज्यीयराजनीति ने स्थूल

रूप से राष्ट्रीय राजनीति के प्रतिमान को ही अपनाया। तब आम तौर पर केन्द्र के साथ–साथराज्य सरकारों पर भी एकमात्र प्रभावी पार्टी के रूप में जाने जाने वाली कांग्रेस का नियंत्रण था। तथापि, राज्यीयराजनीति जिसने साठ के दशकांत तक एक विशिष्ट रूप ले लिया था, अनेक राज्यों में 1967 के आम चुनावोंमें कांग्रेस की हार और 1969 में ग़ैर–कांग्रेसी सरकारों के गठन की पूर्वगामी थी। तदोपरांत अपने मज़बूतसामाजिक आधारों को लेकर क्षेत्रीय नेताओं एवं राजनीतिक दलों का उदय हुआ। साठ के दशकांत और सत्तरके दशकारंभ में चले इस घटनाचक्र हेतु कारण अनेक राज्यों में कांग्रेस के भीतर गुटबाज़ी तथा विपक्षी दलों द्वारालोकप्रचलित जन–संघटन कार्यवाही में छुपे हैं। आपातकाल ने क्षेत्रीय आधार वाले राज्य–स्तरीय नेताओं को एकअवसर दिया कि वे मिलकर एक ही मंच पर आएँ।

अस्सी के दशक तक भारत में जाति, क्षेत्र, धर्म व नृजाति पर आधारित पहचानों तथा अपने क्षेत्रीय आधारों वदलों को लेकर, नयी पीढ़ी के नेताओं के उद्‌गमन ने राज्यों की कार्यसूचियों में एक प्रमुख स्थान पा लिया।भूमण्डलीकरण का प्रभाव सम्पाती होने तथा राष्ट्र–राज्य की भूमिका में तनृकृत होने के साथ ही भारत में राज्योंको भारतीय राजनीति में एक केन्द्रीय मंच मिल गया। राज्य, क्षेत्रीय राजनीतिक दल तथा नेतागण राष्ट्रीयराजनीति में निर्णायक भूमिकाएँ निभा रहे हैं। वे ऐसा गठबंधन सदस्यों के रूप में अथवा राजनीतिक संस्था सेबाहर राजनीतिक विस्तार में रहकर ही करते हैं। नब्बे के दशक से पूर्व ऐसा संभव नहीं था। इसी कारण, हमकह सकते हैं कि राज्यीय राजनीति एक नए दौर में प्रवेश कर चुकी हैं जहाँ राज्य अब केन्द्र के अनुगामी नहींरहे हैं, वरन् वे राष्ट्रीय राजनीति में निर्णायक भागीदार हो गए हैं।

1.7 अभ्यास

1) स्वतंत्रता–पश्चात् प्रथम दो दशकों में भारत में राज्यीय राजनीति के प्रभावी लक्षण क्या रहे?

2) कांग्रेस प्रणाली अथवा प्रबल–दल प्रणाली के पतन के क्या कारण रहे?

3) भारत में राज्यीय राजनीति पर पहचानों के प्रभाव को स्पष्ट करें।

4) भूमण्डलीकरण तथा भारत में राज्यीय राजनीति के बीच क्या संबंध है?

अध्याय–2
विश्लेषण के दृष्टिकोण

अध्याय की रूपरेखा

2.1 प्रस्तावना
2.2 व्यवस्थित (Systemic) दृष्टिकोण
2.3 मार्क्सवादी दृष्टिकोण
2.3.1 क्लासिकल मार्क्सवादी दृष्टिकोण
2.3.2 नव–मार्क्सवादी दृष्टिकोण
2.4 उत्तर–आधुनिकतावादी दृष्टिकोण
2.5 संघ–निर्माण दृष्टिकोण
2.6 सामाजिक पूँजी दृष्टिकोण
2.7 चुनाव–अध्ययन हेतु दृष्टिकोण
2.8 सार–संक्षेप
2.9 अभ्यास

2.1 प्रस्तावना

जैसा कि हमने इकाई 1 में पढ़ा, भारत में राज्यीय राजनीति पाँच से भी अधिक दशकों तक नई समस्याओं, प्रक्रियाओं एवं राजनीतिक शक्तियों के उद्‌गमन से लक्षणान्वित हो रही। इन परिर्वतनों ने राज्यीय राजनीति को विशिष्ट पहचान प्रदान की। उन्होंने इनके अध्ययनार्थ विद्वानों का ध्यान आकृष्ट किया। सामाजिक व राजनीतिक वास्तविकता को समझने के लिए कुछ विश्लेषी उपकरणों की आवश्यकता पड़ती है। इस प्रकार के उपकरणों को परिप्रेक्ष्यों अथवा दृष्टिकोणों के रूप में जाना जाता है। बिना किसी दृष्टिकोण के वास्तविकता को समझने का प्रयास अंधकार में टटोलने जैसा है। भारत में राज्यीय राजनीति के प्रतिमानों का प्रग्रहण एवं बोध करने के लिए राजनीति–वैज्ञानिकों ने विभिन्न दृष्टिकोणों का प्रयोग किया है। यह बात ध्यान दिए जाने योग्य है कि राज्यीय राजनीति हेतु अनन्य रूप से कोई विशिष्ट दृष्टिकोण नहीं है। राजनीति के किसी भी संक्रिया स्तर पर– राष्ट्रीय, राज्यीय अथवा स्थानीय – उसके अध्ययनार्थ अभिन्न दृष्टिकोणों को व्यवहार में लाया जा सकता है। दृष्टिकोणों का श्रेणीबद्धन आमतौर पर उस स्तर द्वारा जाना जाता है जिस पर उसे लागू किया जा रहा हो, तदनुसार, जब राज्यीय राजनीति के अध्ययनार्थ प्रयोग किया जाता है तो इन दृष्टिकोणों का राज्यीय राजनीति के विश्लेषणार्थ दृष्टिकोणों के रूप में उल्लेख किया जा सकता है। इस इकाई में हम इन दृष्टिकोणों का ही अध्ययन करेंगे।

2.2 व्यवस्थित (Systemic) दृष्टिकोण

व्यवस्थित दृष्टिकोण उन दो दृष्टिकोणों में से एक है जो राज्यीय राजनीति के विश्लेषण हेतु सर्वाधिक सर्वमान्य रूप से प्रयोग किए गए हैं। इसे संरचनात्मक–प्रकार्यात्मक, आधुनिकीकरण अथवा विकासात्मक दृष्टिकोणों, द्वारा भी जाना जाता है। इस प्रकार का दूसरा दृष्टिकोण है – मार्क्सवादी, जिसका अध्ययन हम अगले पाठांश में करेंगे। वस्तुतः सत्तर के दशक तक यही दो दृष्टिकोण प्रबल थे। जैसा कि हम इस इकाई में पढ़ेंगे, बाद की अवधि में अन्य दृष्टिकोण भी सामने आये। परन्तु ये दो दृष्टिकोण किसी रूप में प्रयोग किए जाते ही रहे। कुछ परवर्ती दृष्टिकोण इन दो मुख्य दृष्टिकोणों– व्यवस्थित दृष्टिकोण एवं मार्क्सवादी दृष्टिकोण – की शाखाएँ है। इसके अलावा, कुछ विद्वानों ने एक ही समय में दृष्टिकोणों के मिश्रण को भी प्रयोग किया है।

सामाजिक विज्ञानों में व्यावहारिक (Behaviouralist) आन्दोलन के एक हिस्से के रूप में यह दृष्टिकोण राजनीति वैज्ञानिकों द्वारा राजनीतिक व्यवस्था में परिवर्तनों एवं क्रम का अध्ययन करने के लिए अपनाया गया। मूल रूप से अमेरिका में विकसित यह दृष्टिकोण उन देशों की राजनीति का अध्ययन करने के लिए प्रयुक्त हुआ जो औपनिवेशिक शासन से मुक्त हुए थे। 1960 में जी ए. आमन्ड एवं जे.एस. कोलमॅन (सं.) द पॉलिटिक्स ऑफ डिवैलपिंग एरिआज़ के प्रकाशन के बाद इन देशों में यह काफी प्रचलित हो गया। सर्वांगी दृष्टिकोण के मूल अभिलक्षण निम्नलिखित है :–

राजनीतिक गतिविधियों की इकाई राजनीतिक व्यवस्था होती है। राजनीतिक व्यवस्था में आती है – राजनीतिक संस्थाएँ/दृष्टिकोण एवं प्रक्रियाएँ। इस व्यवस्था के विभिन्न घटक दृष्टिकोण/संस्थाएँ स्वयं को संतुलित एवं प्रतिसंतुलित करती हुई, परस्पर अन्तर्क्रिया, संघर्ष एवं समन्वय करती रहती है। ये प्रक्रियाएँ एक सामाजिक एवं राजनीतिक वातावरण में होती हैं। ऐसी स्थिति में राजनीतिक व्यवस्था अपने आप कायम रहती है। यह भंग नहीं होती। राजनीतिक व्यवस्था तदनुसार लोचदार होती है।

अनेक विद्वानों ने भारतीय राजनीति का अध्ययन करने के लिए व्यवस्थित दृष्टिकोण को अपनाया है। इसको संपूर्ण देश की राजनीति के साथ–साथ राज्यीय राजनीति के अध्ययन के लिए भी प्रयोग किया गया है। इसके भारत–स्तरीय राजनीति हेतु प्रयोग का सबसे महत्त्वपूर्ण उदाहरण है – रजनी कोठारी कृत पॉलिटिक्स इन इण्डिया। राज्यीय राजनीति को अध्ययन के विशिष्ट कार्यक्षेत्र की मान्यता मिलते ही व्यवस्थित दृष्टिकोण को अनेक वैयक्तिक विद्वानों द्वारा राज्य–विशेष अथवा राज्य–समूह के अध्ययनों के अवसर पर प्रयोग किया जाने लगा। उन्होंने राज्यीय राजनीति के विभिन्न पहलुओं का अध्ययन किया। इन पहलुओं में मुख्य रूप से शामिल थे – राजनीतिक दल, दलों के भीतर स्वार्थी गुट, जाति, धर्म, भाषा, नेतृत्व, चुनाव, दबाव समूह, आदि। इन पहलुओं को राजनीतिक व्यवस्था की उप–व्यवस्था के रूप में भी लिया गया। दो विषय जो अध्ययनों के सबसे महत्त्वपूर्ण अंग गिने जाते हैं, वे हैं – राजनीतिक दल एवं जाति। पॉल ब्रॉस तथा रिचर्ड सिन ने व्यवस्थित दृष्टिकोण का प्रयोग कर क्रमशः उत्तर प्रदेश तथा राजस्थान में कांग्रेस का अध्ययन किया है। रिचर्ड सिसन ने कांग्रेस के संस्थानीकरण का अध्ययन किया यथा आधुनिक संस्था – राजनीतिक दल – की पारंपरिक जाति–व्यवस्था के प्रति अनूकूलता। रजनी कोठारी दरअसल, कांग्रेस पार्टी का प्रत्ययीकरण 'कांग्रेस प्रणाली' के रूप में कर चुकी थी। कांग्रेस ने अपने भीतर गुटबाजी के प्रति अनुकूलन में लचीलापन दर्शाया था। अग्रलिखित व्यवस्थित दृष्टिकोण के व्यवहार संबंधी कुछ उदाहरण हैं।

जाति ने समाजशास्त्रियों की ही भाँति राजनीति वैज्ञानिकों का भी ध्यान आकृष्ट किया। विकासशील अथवा परंपरागत समाजों को समझने के प्रयास में उन्होंने आधुनिकता एवं परंपराओं के बीच अन्तर्क्रिया को पूरी तरह से समझने के लिए अथ परिश्रम किया। आधुनिकता को आधुनिक राजनीतिक संस्थाओं एवं प्रक्रियाओं से पहचान मिली, यथा – निर्वाचित सरकार, राष्ट्र–राज्य, आधुनिक नेतृत्व या अभिजात वर्ग, सार्वभौम वयस्क मताधिकार, पार्टियाँ चुनाव, आदि जो कि नव–अनोपनिवेशीकृत देशों के लिए नए थे। दूसरी ओर, परंपरा को पहचान मिली जाति, धर्म, जनजाति, आदि आरोप्य अथवा आदिम सहज–गुणों से। आधुनिकता – चुनाव, राजनीतिक दल, आदि और जाति जैसी परम्परा के बीच अन्तर्क्रिया का अध्ययन करते हुए रजनी कोठारी तर्क देते है कि जाति और राजनीति के बीच अन्तर्क्रिया एक द्वि–मार्गी प्रक्रिया है; जाति और राजनीति दोनों एक–दूसरे को बदल डालती है। जाति इस प्रक्रिया में परंपरावादी अथवा रीतिबद्ध भूमिका अब और नहीं निभाया करती। वह अब धर्मनिरपेक्ष हो चुकी है।

मायरन वीनर (सं.) स्टेट पॉलिटिक्स इन इण्डिया में प्रकाशित, विस्तृत व्यवस्थित दृष्टिकोण के भीतर विभिन्न राज्यों में राजनीति के पुरगामी अध्ययनों का अनुशीलन करते हुए अनेक विद्वानों ने निम्नलिखित पहलुओं पर ध्यान केन्द्रित किया – राजनीतिक प्रक्रियाओं का सामाजिक एवं आर्थिक परिवेश, राजनीतिक प्रक्रियाओं की कामोबेश पूर्ण परिभाषा, और राज्य सरकार का कार्य–प्रदर्शन। सामाजिक एवं आर्थिक परिवेश के अध्ययनार्थ प्रमुख रूप–रूपान्तरों में शामिल थे– सामाजिक विन्यास (जाति, धर्म, भाषा, आदि), आर्थिक दृष्टिकोण, ग्रामीण–शहरी विभाजन; राजनीतिक दलों की साथ की जाने वाली प्रक्रियाओं की कामोबेश पूर्ण परिभाषा (कांग्रेस के भीतर गुटबाजी पर विशेष जोर के साथ), हित समूह, नेतृत्व प्रतिमान एवं सार्वजनिक नीति पर विवाद; तथा सरकार के कार्य–प्रदर्शन का मूल्यांकन मुख्यतः वस्तुओं व सेवाओं के वितरण के लिहाज से किया जाता था। विद्वानों के इन रूप–रूपांतरों का प्रयोग भिन्न–भिन्न अवस्थाओं में किया, परन्तु उनके विश्लेषण का सर्वसामान्य ढाँचा व्यवस्थित दृष्टिकोण ही रहा।

विभिन्न राज्यों संबंधी अध्ययन जो इकबाल नारायण (सं.) स्टेट पॉलिटिंक्स इन इण्डिया में प्रकाशित किए गए हैं, वे भी व्यवस्थित दृष्टिकोण मे ही ग्राह्य है; वे भी राज्यीय राजनीति के संदर्भ को प्रमुख स्थान देते है। इस संदर्भ में शामिल हैं – इतिहास, राज्यों की राजनीतिक प्रतिष्ठा, राष्ट्रीय आन्दोलनों में राज्यों की भूमिका, जातियाँ एवं धार्मिक संघटन, आर्थिक विकासों के स्तर, तथा शिक्षित मध्यवर्गों की भूमिका। इन निर्धारक तत्वों अथवा संदर्भ के स्तरों की भिन्नताएँ राज्यीय राजनीति की भिन्त्ताओं में प्रकट हो जाती है। इन भिन्नताओं के बावजूद, इन अध्ययनों में विश्लेषण का व्यस्थित दृष्टिकोण व्यवस्थित विश्लेषण ही है।

व्यवस्थित दृष्टिकोण विभिन्न पहलुओं से आलोचना का शिकार हुआ है। इसकी सबसे कटु आलोचना मार्क्सवादी विद्वानों द्वारा की गई है। उनका तर्क है कि व्यवस्थित दृष्टिकोण राजनीति में वर्ग की भूमिका को अनदेखा करता है; वह राजनीतिक प्रक्रियाओं में इतिहास के महत्त्व का तलोच्छेदन करता है; वह राज्य को राजनीतिक व्यवस्था का दास बना देता है और उसका साम्राजवाद जैसी बाहरी ताकतों पर असर डालने हेतु देश के भीतर की राजनीति से कोई संबंध नहीं है। वे निश्चयपूर्वक कहते है कि व्यवस्थित दृष्टिकोण मूल रूप से परिर्वतन विरोधी एवं यथास्थितिवादी है।

2.3 मार्क्सवादी दृष्टिकोण

मार्क्सवादी दृष्टिकोण राजनीति का विश्लेषण उत्पादन के वर्ग–संबंधों अथवा सामाजिक संबंधों तथा उत्पादन–बलों के आधार पर करता है। वह राजनीति को वर्ग–संबंधों के प्रकटन के रूप में लेता है। किसी भी समाज में राजनीति आर्थिक संबंधों द्वारा ही प्रभावित अथवा निर्धारित होती है। राज्स समेत राजनीतिक संस्थाएँ वर्ग–हितों का प्रतिनिधित्व ही करती है। और एक वर्ग–विभाजित समाज में वे उच्च अथवा सुसम्पन्न वर्गों के हितों को ही देखते हैं। व्यवस्थित दृष्टिकोण से भिन्न, मार्क्सवादी दृष्टिकोण एक विकासशील देश में राजनीति को विकसित देशों के साम्राज्यवाद से जोड़ता है। साम्राज्यवाद विश्व बैंक व अन्तरराष्ट्रीय मुद्रा कोष (आई.एम.एफ.) जैसी अंतर्राष्ट्रीय वित्तीय संस्थाओं की शर्तबद्धताओं द्वारा विकासशील देशों में राजनीति को प्रभावित करता है। इन शर्तबद्धताओं के परिणामस्वरूप विकासशील देशों के भीतर राज्य ऐसी नीतियाँ सोच निकालते है तो आम जनता को प्रतिकूलतः प्रभावित करती है। इन नीतियों को जानिब लोगों की प्रतिक्रिया ही शासक वर्गों के विरूद्ध संघर्ष का हिस्सा बनती है। व्यवस्थित विश्लेषण से भिन्न, मार्क्सवादी दृष्टिकोण राजनीति को उसके इतिहास से जोड़ता है। वह सामाजिक व राजनीतिक वास्तविकता को अच्छी तरह समझने के लिए द्वंदात्मक भौतिकवाद के सिद्धांत का प्रयोग करता है। द्वंदात्मक भौतिकवाद के इस प्रकार के प्रयोग को 'ऐतिहासिक भौतिकवाद' के नाम से जाना जाता है। यह बात महत्त्व दिए जाने योग्य है कि मार्क्सवादी विश्लेषण का प्रयोग व्यवस्थित विश्लेषण के मुकाबले अधिक अन्तरविषयक (Interdisciplinary)रहा है। इन भिन्नताओं के आलोक में मार्क्सवादी दृष्टिकोण को दो समूहों में बाँटा जा सकता है– क्लासिकल मार्क्सवादी दृष्टिकोण एवं नव–मार्क्सवादी दृष्टिकोण। वर्ग की भूमिका अथवा आर्थिक कारकों को निर्धारित करने के विषय में मार्क्सवादी विद्वानों के बीच भेद है।

2.3.1 क्लासिकल मार्क्सवादी दृष्टिकोण

'कम्युनिस्ट मैनिफैस्टो' में उल्लेखित सैद्धान्तिक मार्क्सवादी अभिगम राजनीति के संबंध में अर्थव्यवस्था की एक अति–निर्णयकारी भूमिका का अनुसरण करता है। इस स्थिति में अर्थव्यवस्था आधार होता है और राजनीति अधिरचना। द एटीन्थ ब्रुइमियर ऑफ द लुई बोनापार्ट में आधार की निर्णयकारी भूमिका के संबंध में मार्क्स व एंजिल ने अपने शोध–प्रबंध को संशोधित किया। तदोपरांत वे ऐसा मानने लगे कि अधिरचनाएँ हमेशा ही आधार द्वारा निर्धारित नहीं होती। परवर्ती की अपनी सापेक्ष स्वायत्तता (Relative autonomy)है। परन्तु अन्तिम विश्लेषण में यह आधार ही होता है जो अधिरचना को निर्धारित करता है। तदनुसार, राजनीति अपनी सापेक्ष स्वायत्तता रखती है।

व्यवस्थित दृष्टिकोण की भाँति, क्लासिकल मार्क्सवादी दृष्टिकोण का प्रयोग भी राष्ट्रीय एवं राज्यीय स्तरों पर राजनीति के अध्ययनार्थ किया गया है। क्लासिकल मार्क्सवादी दृष्टिकोण द्वारा किए गए स्वातंत्र्योत्तर काल में संबंधित प्रमुख अखिल भारतीय स्तर के अध्ययनों में चार्ल्स बैतलहीम की इण्डिया इण्डिपैन्डॅन्ट तथा अचिन वनायक की द पेन्फुल ट्रैन्जिशन : इण्डिया'ज बुर्ज्वा डिमॉक्रसी शामिल है। क्लासिकल मार्क्सवादी विश्लेषण का प्रमुख प्रयास कृषिक संबंधों एवं भूमि सुधारों तथा विभिन्न राज्यों में श्रमिक–संघ आन्दोलनों का अध्ययन रहा है।

गैर–आर्थिक कारकों के मुकाबले आर्थिक कारकों को अत्यधिक महत्त्व देने के लिए क्लासिकल मार्क्सवादी दृष्टिकोण की आलोचना की जाती है। सैद्धांतिक मार्क्सवादी अभिगम के अनुयायी यह आरोप लगाते है : मार्क्सवादी दृष्टिकोण वर्ग से राजनीति की सवायत्तता को स्वीकार करता है, जो कि सापेक्ष होती है, परन्तु अन्ततोगत्वा यह वर्ग ही है जो निर्णयकारी होता है; इसकी बजाय वे सर्वांगी दृष्टिकोण के अनुयायी जन है, जो वर्ग की भूमिका की कीमत पर जाति अथवा गैर–आर्थिक कारकों की अपेक्षा करते है।

2.3.2 नव–मार्क्सवादी दृष्टिकोण

वह मार्क्सवादी पहलू जो गैर–आर्थिक कारकों – सस्कृति, राजनीति अथवा किसी अन्य विषय के विश्लेषण के प्रति चेतना – पर उचित ध्यान देता है, नव–मार्क्सवाद के नाम से जाना जाता है। नव–मार्क्सवाद ने ग्राम्सी, फ्रैंकफर्ट स्कूल तथा राल्फ मिलिबॉंड के प्रभाव के चलते जन्म लिया। ग्रैम्सीवादी प्रभाव सबार्ल्टन स्कूल में सबसे अधिक दिखाई देता है। रणजीत गुहा द्वारा प्रचलित सबार्ल्टन स्कूल आधुनिक भारतीय इतिहास संबंधी अध्ययन में प्रसिद्ध है। परन्तु सबार्ल्टन स्कूल द्वारा प्रयुक्त अन्तदृष्टि एवं संकल्पनाएँ वैयक्तिक राजनीति–वैज्ञानिकों द्वारा समकालीन राजनीति के अध्ययनार्थ भी प्रयोग की जाती हैं। सबार्ल्टन स्कूल का प्रयोग करने वाले विद्वानों का तर्क है कि जन–साधारण अपनी स्वतंत्र चेतना विकसित करता है और तदनुसार ही, बाह्य अभिकरणों के प्रभाव से मुक्त रह कर, फैसले करता है। फ्रैंकफर्ट स्कूल जो कि फ्रैंकफर्ट, जर्मनी में स्थित है, से संबंध रखने वाले अल्थूसर, कोकाकोस्की, पूलान्जों, आदि दार्शनिकों ने क्लासिकल मार्क्सवाद के द्वंदवात्मक भौतिकवाद की आलोचना की।

2.4 उत्तर–आधुनिकतावादी (Post-Modern) दृष्टिकोण

भारत में अनेक महत्त्वपूर्ण राजनीतिक, सामाजिक एवं आर्थिक परिवर्तन हुए है। इन परिवर्तनों का संकेत उन्नतशील भूमण्डलीय, लोकतत्रीकरण, विकेन्द्रीकरण, जाति, धर्म व नृजाति पर आधारित पहचानों का प्रकटन एवं अभिकथन, तथा नये सामाजिक आन्दोलनों से मिलता है। इस घटनाक्रम को अनेक पहलुओं से देखा–समझा जा सकता है, जिनमें व्यवस्थित एवं मार्क्सवादी पहलू शामिल है। कुछ विद्वान एक से अधिक दृष्टिकोणों का संस्करण कर रहे हैं। परन्तु कुछ विद्वानों में यह समझ बढ़ रही है कि इस समय तक उपलब्ध दृष्टिकोण राजनीति के नए अभिलक्षणों को स्पष्ट करने में सक्षम नहीं है। वे वैकल्पिक दृष्टिकोण अपनाते है, जिन्हें ''उत्तर–आधुनिकतावाद (Post-modern)''दृष्टिकोण कहा जाता है। ल्योतार्द जैसे दार्शनिकों की कृतियों से प्रेरित, उत्तर–आधुनिकवादी अनेक विचारधाराओं के लिए विश्लेषण संबंधी एक महत्त्वपूर्ण दृष्टिकोण बन गया है। उत्तर–आधुनिकतावादी दृष्टिकोण के अनुयायी जन समाज में सकंटकाल के लिए विकास की आधुनिकतावादी युक्ति व उसके प्रतीक विचारों को जिम्मेदार ठहराते है। उनके अनुसार, आधुनिकतावादी युक्ति ने लघुतर पहचानों, परम्पराओं एवं देशज विद्या–पद्धति को स्वायत्तता प्रदान नहीं की है। उत्तर–आधुनिक परिप्रेक्ष्य का प्रयोग पहचानों, सामाजिक आन्दोलनों एवं पराकाष्ठाप्राप्त सामाजिक संघर्षों अथवा नृजातीय/साम्प्रदायिक दंगो के भी इन दिनों उठ खड़े होने के कारण जरूरी हो गया है। वे विद्वान जो उत्तर आधुनिकतावादी दृष्टिकोण का प्रयोग करते है, परम्पराओं, सतत विकास और देशज ज्ञान में आधुनिकता का विकल्प पाते है। आधुनिकता के विरोध के कारण गाँधीवादी, समाजवादी, ''गैर–पारंपरिक'' मार्क्सवादी, पर्यावरणविद्, आदि एक साझा मंच पर आएँ। ऐसे आन्दोलन – आधुनिकता से मोहभंग व किसी विकल्प की तलाश– को उत्तर–आधुनिकतावाद कहा जाता है। उत्तर–आधुनिकतावादी दृष्टिकोणों का प्रयोग पहचानों, उपद्रवों, सामाजिक आन्दोलनों के अध्ययन हेतु होता है। इनका प्रयोग विभिन्न विचारधाराओं के विद्वानों द्वारा किया जाता है।

चलिए, राज्यीय राजनीति के अध्ययनार्थ इसके प्रयोग पर विचार करते है। कुछ विद्वानों के बीच यह समझ बढ़ रही है कि राजनीतिक व्यवस्था का अध्ययन विश्लेषण की वृहद् इकाई– राष्ट्र–राज्य, राजनीतिक व्यवस्था, दलीय प्रणाली, जाति–व्यवस्था आदि – के रूप में किए जाने पर आधुनिकीकरण योजना का प्रभाव पड़ा है। जबकि व्यवहार में आधुनिकीकरण अथवा आधुनिकता की राजनीति किसी राजनीति इकाई के अवयवों को पर्याप्त स्वायत्तता नहीं देती, शास्त्रीय अध्ययनों में आधुनिकीकरण योजना अथवा आधुनिकता का प्रभाव इन अवयवों की उपेक्षा में दिखाई देता है। विश्लेषण के इस प्रकार के दृष्टिकोण से अलग होने के लिए अनेक विद्वजन उनकी स्वायत्तता को स्वीकार करने के लिए वृहद् इकाइयों के खडों का अध्ययन किए जाने की आवश्यकता पर बल देते हैं।

उत्तर–आधुनिकतावादी के एक पहलू जटिल रूप से जुड़ा है – ''डिस्कार्स'' अथवा ''डिकन्सटर्क्सनिष्ट''। ''डिस्कार्स'' अथवा ''डिकन्सटर्क्सनिस्ट'' परिप्रेक्ष्य के अनुसार किसी विवरण की विषयवस्तु को टूकड़ों में तोड़कर अथवा उसकी व्याख्या करते समझा जा सकता है। उसे समझने का सबसे अच्छा तरीका उक्त विवरण का ज्ञान शक्ति व व्याख्यान रचना के लिहाज से प्रासंगीकरण करना है, जो क्षेत्र औरों के अलावा माइकल फूको द्वारा व्यापक रूप से सैद्धान्तीकृत किए गए है। उदाहरण के लिए, एक से अधिक पक्षों के बीच विवाद की स्थिति में, यह जानना मुश्किल होता है कि सच क्या है। विवाद में हर पक्ष अपने बयान को सही ठहराया है, और तर्कसंगत रूप से यह पता लगाना कठिन होता है कि कौन–सा बयान सच्चा है। इस प्रकार की स्थिति में, यदि विवाद, पक्षों व उससे जुड़ी प्रक्रियाओं को विशिष्ट प्रसंग में रखा जाता है तो उसे समझना संभव हो जाता है। पॉल ब्रास ने अपनी पुस्तकों द थैफ्ट ऑफ ऐन आइडल : टैक्ट एण्ड कॉन्टैक्स इन रिप्रैजेन्टेशन ऑफ कॅलैक्टिव वॉइलॅन्स तथा प्रॉडक्शॅन ऑफ हिन्दु–मुस्लिम वॉइलॅन्स इन कॅन्टेम्पॅररि इण्डिया में सामाजिक समूहों के बीच नृजातीय दंगों के विश्लेषणार्थ एक दृष्टिकोण विकसित किया है। उसका तर्क है कि दंगों में वास्तविकता को समझना मुश्किल होता है। यह सिर्फ दंगों, संस्थाओं, व्यक्तियों एवं प्रक्रियाओं को उचित प्रसंग में रखकर ही संभव हो सकता है।

2.5 संघ–निर्माण दृष्टिकोण

यह दृष्टिकोण आधुनिकीकरण अथवा विकास के विपरीत तैयार किया जाता है ताकि आत्म–निर्णयन् आन्दोलनों से जुड़ी समस्याओं का अध्ययन किया जा सके, यथा देश की बाहरी सीमा पर स्थित राज्यों, खासकर उत्तर–पूर्व भारत, में स्वायत्तता आन्दोलन, विप्लव, पृथकवादी आन्दोलन तथा उनके कारण उठने वाले विवाद; इसको जम्मू–कश्मीर, पंजाब व किसी अन्य राज्य में भी लागू किया जा सकता है जहाँ आत्म–निर्णयन् आन्दोलन होते हैं। इस पहलू की सबसे सुस्पष्ट अभिव्यक्ति संजीव बरुआ कृत इण्डिया अगेन्स्ट इटसेल्फ में पायी जाती है। इस पहलू के समर्थकों का कहना है कि संघवाद, आत्म–निर्णयन् आन्दोलनों, आदि की समस्याओं के अध्ययनार्थ आधुनिकीकरण अथवा विकास दृष्टिकोण राष्ट्र–राज्य के गठन की ओर अभिनत है, वह उन घटकों के दृष्टिकोण की अपेक्षा करता है जो राष्ट्र–राज्य का निर्माण करते है। राष्ट्र–राज्य, उनके अनुसार, वस्तुतः एक संरचना है। इस प्रकार का मनोगत दृश्य मुद्दों को परंपरा एवं आधुनिकता के बीच द्वैदाश्य, अभिलाषापूर्ण नए सामाजिक बलों के बीच असंगति तथा उनकी माँगों को पूरा करने हेतु

व्यवस्था की समर्थता के लिहाज से देखते हुए राज्यों की समस्याओं को टालता है। नीति–निर्मातागण तथा देश में प्रभावी मत का प्रतिनिधित्व करते विद्वजन संविधानी राज्यों के पहलू को ध्यान में नही रखते हैं। वे छोटे राज्यों की ओर "सौतेला" और अक्खड़ व्यवहार अपनाते हैं। संजीव बरुआ का सुझाव है कि "राष्ट्र–राज्य" के पहलु को हटा दिया जाना चाहिए ताकि "असली संघ–निर्माण" परिप्रेक्ष्य को अपनाया जा सके जिससे "उप–राष्ट्रवाद तथा सर्व–भारतीयवाद" के संबंधों को मज़बूती मिले।

2.6 सामाजिक पूँजी दृष्टिकोण

पटनम कृत मेकिंग डिमॉक्रसी वर्क : सिविल ट्रैडिशन्स इन मॉडर्न इटली के प्रकाशन के साथ ही सामाजिक पूँजी जन–जीवन में संघों के महत्त्व का अध्ययन करने हेतु नितांत लोकप्रिय संकल्पना हो गई है। सामाजिक पूँजी को सभ्य समाज व लोकतंत्र के अस्तित्व का सूचक समझा जाता है। संघों से संबंधित टॉकविलवादी (Toquevillian)धारणा पर ध्यान खींचते हुए, पटनम ने सभ्य समाज की धारणा को लोकप्रिय बनाया; जिसके सहजगुण हैं – आस्था, साझा मूल्य व मानदण्ड तथा संघ–सदस्यों के बीच संचार–जाल बिछाना। नए सामाजिक आन्दोलनों, सभ्य समाजों व यथार्थ लोकतंत्र के अध्ययन हेतु बाध का उदय होने से इस परिप्रेक्ष्य के महत्त्व में इजाफा हुआ है। विखण्डित समाजों में सामाजिक पूँजी के अध्ययन हेतु प्रयास में ही विद्वानों ने इसे महत्त्व दिया है। अपनी पुस्तक एथनिक कॉन्फ्लिक्ट एण्ड सिविक लाइफ : हिन्दूज एण्ड मुस्लिम्स इन इण्डिया में आशुतोष वार्ष्णेय ने भारत के छह शहरों में नृजातीय दंगों के अध्ययनार्थ सामाजिक–पूँजी दृष्टिकोण का प्रयोग किया है। उनका तर्क है कि नृजातीय दंगे उन्हीं शहरों में होते है जहाँ लोग अपने बीच अच्छे संबंध नहीं रखते है। और ये वहाँ नही होते जहाँ संघीय संबंधों का अभाव होता है। वह एक छः शहरों के युग्म का अनुभवजन्य अध्ययन को लेकर अपने तर्क को सिद्ध करने का प्रयास करते हैं, जिनमें से तीन ने तो दंगों को देखा है मगर शेष तीन ने नहीं। इसी प्रवृत्ति को लेकर, अनेक अध्ययन जिन्होंने कुछ राज्यों में राजनीति के अध्ययनार्थ सामाजिक पूँजी को दृष्टिकोण को माना है, द्वैपायन भट्टाचार्य, नीरजा जयाल, सुधा पई एवं विष्णु एन. महापात्र द्वारा संपादित इन्टॅरगेटिंग सोशल कैपिटल में प्रकाशित किए गए है। इन अध्ययनों के विद्वानों के छिन्न–भिन्न सामाजिक रूप में सामाजिक पूँजी के अस्तित्व की संभावना तथा भारतीय राज्यों में लोकतंत्र से संबंध के अध्ययन करने का प्रयास किया।

2.7 चुनाव–अध्ययन हेतु दृष्टिकोण

चुनावों को लोकतंत्र के अस्तित्व संबंधी सबसे सार्थक माध्यम माना गया है; लोकतंत्र की महज न्यूनतमतावादी धारणा का द्योतक होते हुए भी, जो उसके आलोचकों के अनुसार सत्तावाचक लोकतंत्र से भिन्न सच्चे लोकतंत्र के अस्तित्व को हमेशा सिद्ध नहीं करते हैं। तिस पर भी, चुनाव भारत में अपने कार्यान्वयन के विभिन्न स्तरों– राष्ट्रीय, राज्यीय व स्थानीय– पर लोकतंत्र के सबसे महत्त्वपूर्ण अभिलक्षणों में है। उनका महत्त्व बीसवीं संदी के अन्तिम दशक से ही भारत में बढ़ी चुनाव बारंबारता के साथ और भी बढ़ गया। चुनावों ने चुनावी राजनीति के अध्ययनार्थ विद्वानों, पत्रकारों व चुनाव–विश्लेषकों के अवधान को विवादित बनाया है, खासकर राष्ट्रीय व राज्यीय स्तर पर। चुनावों में आम रुचि जो मुख्यतः साठ के दशक में शुरू हुई, नब्बे के दशक में और भी बढ़ गयी। चुनावों के पहले और बाद में जन–समूह, सर्वेक्षण एजेन्सियाँ, चुनाव–विश्लेषक जन सर्वेक्षण कराते हैं ताकि जनता की जिज्ञासा तुरंत शांत कर सकें। साथ ही भारत में लोकतंत्र कके विश्लेष आँकड़े उपलब्ध करा सकें। इसको 'सर्वेक्षण अनुसंधान' कहा जाता है। इस दिशा में 'विकासशील समाज अध्ययन केन्द्र (Centre for the Studies of Developing Societies), 'नई दिल्ली' द्वारा किए गए प्रयास, जहाँ तक कि शास्त्रीय विश्लेषण के उपयोग हेतु उसके आँकड़ों के प्रयोग का संबंध है, सराहनीय हैं। अतिसावधानीपूर्वक चुने गए नमूनों पर किए गए चुनाव–सर्वेक्षण मतदाताओं, निर्वाचन क्षेत्रों की रूपरेखा पर आधारित आँकड़े जुटाते हैं और उनसे चुनाव–परिणाम को जोड़ते है ताकि दलों, लोकतंत्र, आदि के कार्य–प्रदर्शन का मूल्यांकन कर सकें। "क्या भारत और अधिक लोकतांत्रिक बन रहा है ?" जैसे सवालों को उत्तर बड़ी संख्या में सामाजिक समूहों की बढ़ती भागीदारी के आलोक में पाने का प्रयास किया जाता है।

चूँकि चुनावों के अध्ययनार्थ सर्वेक्षण अनुसंधान समयबद्ध होते हैं, वे चुनावों के पूर्व या पश्चात् कराये जाते हैं। ये यह नहीं बताते कि जब चुनाव नहीं होते हैं तो क्या होता है। पॉल. आर. ब्रॉस का तर्क यह है कि यदि सर्वेक्षण अनुसंधान पारिस्थितिक विश्लेषण के साथ पुष्ट किया जाये तो हम राजनीतिक प्रक्रियाओं का काफी बेहतर विश्लेषण करने में सक्षम हो सकते हैं। पारिस्थितिक विश्लेषण का अर्थ है – किसी देश अथवा देश के भीतर राज्य के विभिन्न क्षेत्रों से प्राप्त आँकड़ों का विश्लेषण। ये आँकड़े आर्थिक, सामाजिक, शैक्षणिक, आदि विभिन्न क्षेत्रों में रह रहे लोगों की रूपरेखा विषयक हो सकते है। सह–संबंध सहायक(Correlation co-efficient)विश्लेषण की मदद से विभिन्न सामाजिक समूहों के साथ राजनीतिक दलों के चुनावी प्रदर्शन को निश्चित किया जा सकता है। ब्रास ने "द पॉलिटिसाइजेशन ऑफ पीजेंट्रि इन यू. पी." के अध्ययन हेतु पारिस्थितिक विश्लेषण के साथ सर्वेक्षण आँकड़ों को जोड़कर प्रयोग किया।

2.8 सार–संक्षेप

सरांशतः, दृष्टिकोण सामाजिक यथार्थ के अध्ययन हेतु आवश्यक उपकरण हैं। राजनीति के अध्ययन के लिए कुछ प्रमुख दृष्टिकोण होते हैं। ये हैं – व्यवस्थित, मार्क्सवादी, नव–मार्क्सवादी, उत्तर–आधुनिकतावादी, चुनावों के अध्ययनार्थ दृष्टिकोण, आदि। व्यवस्थित दृष्टिकोण विश्लेषण की राजनीतिक इकाई को एक व्यवस्था बतौर लेता है। उसका तर्क है कि हर व्यवस्था में विभिन्न घटक होते है जो एक–दूसरे से संघर्ष और समञ्जन करते रहते हैं। इस प्रक्रिया में व्यवस्था अपने आपको कायम रखती है, वह चुनौतियों एवं परिवेश को अपने अनुकूल बनाती है। दूसरी ओर, मार्क्सवादी दृष्टिकोण का कहना है कि राजनीति समाज में वर्ग–संबंधों का प्रकटीकरण है। राजनीति की प्रकृति किसी समाज में आर्थिक प्रतिवादों की प्रकृति पर निर्भर होती है। परन्तु इन परिवर्तनों के समर्थक यह स्वीकार करते हैं कि राजनीति को प्रभावित करने में अर्थव्यवस्था महत्त्वपूर्ण है परन्तु आर्थिक कारक भी बड़े महत्त्व के हैं। परवर्ती की अपनी सापेक्ष स्वायत्तता भी होती है। इन परिवर्तनों के साथ मार्क्सवादी दृष्टिकोण को नव–मार्क्सवादी दृष्टिकोण के नाम से जाना जाता है। यह ध्यान देने योग्य बात है कि ये दृष्टिकोण स्थानीय राज्यीय अथवा राष्ट्रीय स्तरों पर राजनीतिक विश्लेषण की इकाई के लिए ही खासकर नहीं हैं। ये किसी भी इकाई – स्थानीय, राज्यीय अथवा राष्ट्रीय – हेतु प्रयोग किए जा सकते हैं क्योंकि राजनीति के विभिन्न पहलू राज्यों में ही दिखाई देते है। वास्तव में, राज्यीय राजनीति का कोई एकरूप प्रतिमान नहीं है। इस प्रसंग में ये दृष्टिकोण विशेष महत्त्व के हो जाते हैं।

2.9 अभ्यास

1) राज्यीय राजनीति के अध्ययनार्थ व्यवस्थित दृष्टिकोण को किस प्रकार प्रयोग किया जाता है ? चर्चा करें।
2) मार्क्सवादी दृष्टिकोण के मूल अभिलक्षणों पर प्रकाश डालें।
3) राज्यीय राजनीति में पहचानों, नए सामाजिक आन्दोलनों एवं चुनावों के अध्ययन हेतु विभिन्न दृष्टिकोण किस प्रकार प्रयोग किए जाते हैं ? चर्चा करें।

अध्याय 3
भारतीय विविधताओं की प्रकृति वराष्ट्रवादी प्रतिक्रियाएँ

अध्याय की रूपरेखा

3.1 प्रस्तावना

3.2 जाति, अस्पृश्यता एवं दमनकारी विविधता

3.3 धार्मिक विविधता बनाम सम्प्रदायवाद

3.4 भाषा : एकरूपता या अनेकता?

3.5 जनजातीय विद्रोहः सम्मीकरण और सुरक्षित रखना

3.6 सार–संक्षेप

3.7 अभ्यास

3.1 प्रस्तावना

नेहरू का तकिया–कलाम 'अनेकता में एकता' शायद विविधता द्वारा दी गई चुनौतियों को आधुनिक राष्ट्रवादीप्रत्युत्तरों का सबसे अच्छा कटाक्ष है। वर्ष 1937 के आम चुनावों की पूर्व–संध्या पर भारत भर में भ्रमण करतेहुए हुए नेहरू की उसप्राकृतिक व सांस्कृतिक विविधता को जानकर उमंग से भर उठे जो उन्होंने हर जगहदेखी:- देश की भौतिक रूपरेखा के साथ–साथ लोगों की शारीरिक आकृतियों में, उनके सांस्कृतिक रीति–रिवाजोंव धार्मिक भिन्नताओं में। परन्तु इस विविधता के मूल में उन्होंने 'एकता के स्वप्न' की 'झलक' देखी थी। यहएकता मान्यताओं व प्रथाओं के बाह्य मानकीकरण में नहीं दिखाई पड़ती थी वरन् 'कुछ गहरे छिपी' थी। यहमहज कोई बौद्धिक एकता न थी बल्कि अनुभव की जाने वाली एक भावनात्मक एकता थी। क्या यह एकतावाकई संसार में 'कहीं' विद्यमान थी? यह बात महत्त्वपूर्ण रूप से ध्यान देने की है कि नेहरू ने एकता के 'स्वप्न'के बारे में लिखा; किसी भी स्वप्न की भाँति जिसने हमारी ओर से सक्रिय परिकल्पना एवं प्रयास हेतु आह्वानकिया। नेहरू की ही भाँति अधिकतर राष्ट्रवादियों ने माथा ठनकाने वाली विविधता को देखा और एकता कासपना देखा; परन्तु सभी सपनों की ही भाँति उनका सपना राजनीति की वास्तविकताओं द्वारा निरन्तर अवरुद्व,विकृत एवं आकार प्रदान किया गया।

चलिए, शीर्षक के संबंध में कुछ स्पष्टीकरणों से शुरू करते हैं। प्रथमतः विविधता पर; सामान्य प्रयोग मेंविविधता को वैविध्य एवं भिन्नता के अर्थ में लिया जाता है। इस अर्थ में विविधता हर जगह पायी जा सकती है, प्राकृतिक दृश्य से लेकर सांस्कृतिक रिवाजों तक, जैसा कि नेहरू ने अनुभव किया। पर विविधता अपने आप मेंसंभवतः राजनीतिक रूप से महत्त्वपूर्ण नहीं होती जब तक कि वह किसी मान्यता पाने हेतु संघर्ष का आधार नबने। चाहे हम जाति का प्रश्न ले लें, चाहे धर्म का अथवा भाषा अथवा जाति का, हम पाते हैं कि राष्ट्रवादीनेतागण कुछ सक्रियावादी सुधारकों व सामाजिक आन्दोलनों द्वारा दी गई गंभीर चुनौतियों की सूरत में विविधताका प्रत्युत्तर देने के मज़बूर थे। दूसरे शब्दों में, जब अम्बेडकर ने अलग निवार्चक–मण्डलों के माध्यम सेसामाजिक अर्थ में ज़ोर दिया तो गाँधी पर एक राजनीतिक अर्थ में जाति के प्रश्न की छानबीन करने के लिएदबाव डाला गया। निस्संदेह, गाँधी अम्बेडकर से मिलने से पूर्व जाति के साथ एक नैतिक अर्थ में व्यवहार करतेथे, न कि एक राजनैतिक अर्थ में। इसी प्रकार, जब मुस्लिम लीग ने एक पृथक् राष्ट्र हेतु माँग उठाई तो कांग्रेसीनेताओं पर धार्मिक विविधता विषयक राजनीतिक अर्थ में विचार करने पर दबाव डाला गया।

दूसरे, इन विविधताओं के प्रति कोई एक राष्ट्रवादी प्रतिक्रिया नहीं थी। अपने वैचारिक पूर्वाग्रहों व तात्कालिकराजनीतिक प्रसंग पर निर्भर करते हुए राष्ट्रवादियों ने भिन्न–भिन्न रूप से प्रतिक्रियाएं व्यक्त कीं। उनकीप्रतिक्रियाएं दो स्तरों पर जाँची जा सकती हैं :- विचारधारात्मक स्तर और राजनीतिक उपकारिता स्तर। चूँकि आखिरकार, राष्ट्रवादी प्रतिक्रिया का निहितार्थ सिर्फ यही नहीं है कि नेतागण विविधता के बारे में किस प्रकारसोचते थे, बल्कि यह भी है कि कुछ समझौते करने पड़े ताकि विविधता व भिन्नता को मान्यता मिल सके।ऐतिहासिक रूप से, जाति–समूहों व धार्मिक अल्पसंख्यक वर्गों ने राष्ट्रवादियों को आरम्भ से ही कड़ी चुनौती दीथी और उनसे नियमित रूप से निपटना पड़ा था। भाषा व जनजाति अधिकांश राष्ट्रवादियों की जानकारी मेंकुछ–कुछ हाशिये पर ही रहे।

3.2 जाति, अस्पृश्यता एवं दमनकारी विविधता

जाति पहचान, चाहे एक चौ–वर्ण व्यवस्था के रूप में अथवा बिरादरी के रूप में, एक भारतीय विविधता कीअभिव्यक्ति के रूप में आसानी से प्रचारित नहीं की जा सकी। परन्तु यह बीसवीं सदी के आरम्भिक वर्षों तकएक

सुव्यक्त राष्ट्रवादी अभियान का विषय नहीं बनी। भिक्खू पारेख ने लिखा है कि चूँकि भारतीय राष्ट्रवादीजन औपनिवेशिक सरकार से सामाजिक व राजनीतिक समानता की माँग करने लगे थे, इस तथ्य का भी सामनाकरना पड़ा कि इस प्रकार की समानता से हिन्दू समाज के भीतर कुछ लोगों को वंचित रखा गया था। एक दूसराराजनीतिक कारण यह था कि हिन्दू नेतागण यह सोचने लगे थे कि आंतरिक विभाजनों व विच्छेद पर काबू पानाही होगा ताकि उपनिवेशवाद के खिलाफ एक प्रभावशाली संघर्ष छिड़ सके। लाला लाजपत राय ने इस बात परक्षोभ व्यक्त किया कि किस प्रकार अस्पृश्यता ने अनेक लोगों को धर्मपरिवर्तन पर मज़बूर किया था जिससेमुसलमानों व ईसाइयों की संख्यात्मक शक्ति बढ़ी। उन्होंने चेतावनी दी कि हिन्दू जन अपने ही देश मेंअल्पसंख्यक हो जाएँगे यदि उन्होंने अपने घर को नहीं सँवारा। इस प्रकार, अस्पृश्यता धीमे परन्तु निश्चित रूप से एक शर्मनाक विषय बन गई, यथा हिन्दू धर्मज्ञान पर 'धब्बा' जो धोया जाना था। इस विषय पर व्यापकसहमति के बावज़ूद कांग्रेस ने अस्पृश्यता की निंदा में एक भी प्रस्तावना पारित नहीं किया, खासकर 1917तकमौखिक छुआछूत के कारण।

वैचारिक रूप से हिन्दू राष्ट्रवादियों ने अस्पृश्यता की तीखी आलोचना के लिए विभिन्न बौद्धिकोतों पर ध्यानखींचा। कुछ ने यह तर्क देने के लिए हिन्दू धर्मग्रन्थों का सहारा लिया कि इस प्रथा का कोई धार्मिक आधार नहींहै। परन्तु हिन्दू अवतरणों को नहीं कहा जा सकता था कि वे इस प्रथा के असंदिग्ध रूप से विरोध में हैं। दूसरोंने यूरोपीय उदारवादी स्रोतों के अनुसरण का मार्ग चुना और इस प्रथा को एक अमानवीय एवं अनुचित विरासतके रूप में देखा जो अपनी सबसे अच्छी दशा के पीछे छोड़ दी गई थी। नेहरू ने उदारवादी विरोध जताया जबउन्होंने दावा किया कि जाति–पहचान कुछ समूहों के मुख्यधारा से निष्कासन एवं दमन की ओर प्रवृत्त करतीहै और सभी में योग्य एवं उत्कृष्टता के अनुशीलन को हतोत्साहित करती है। एक तीसरी रणनीति इस व्यवस्थाकी महज़ एक राजनीतिक समालोचना आरंभ करने संबंधी थी, यह उल्लेख करते हुए कि इस प्रथा नेउपनिवेश–विरोधी संघर्ष को किस प्रकार नुकसान पहुँचाया है।परन्तु अस्पृश्यता ने धीरे–धीरे राष्ट्रवादियों को मजबूर किया कि स्वयं जाति के बड़े से प्रश्न पर सोच विचारकरें। अधिकतर राष्ट्रवादियों ने महसूस किया कि जाति प्रथा मूल रूप से युक्तियुक्त और अच्छी थी। साथ ही,उन्होंने मनन किया कि अन्तर्निहित सिद्धांत श्रम–विभाजन अथवा व्यावसायिक विशेषज्ञता ही होना चाहिए था।गाँधी जी, महसूस करते थे कि इसने परंपरागत व्यवसायों की व्यवस्था बनाई जिससेप्रतिस्पर्धा रुकी, धार्मिक एवं नैतिक मानदण्डों एवं प्रथाओं को आगे बढ़ाया, स्थानीय व्यवस्था एवं शान्ति सुनिश्चितकी और एक भावात्मक एवं आर्थिक समर्थन व्यवस्था को जन्म दिया। इस प्रकार, यद्यपि यह व्यवस्था सिद्धांततःयुक्तिपरक थी, मानवीय लोभ एवं स्वार्थ ने इसको दूषित कर दिया और वह अपभ्रष्ट हो गई। अब क्या करते?

उदारवादियों को उम्मीद थी कि जाति धीरे–धीरे समाप्त हो जाएगी और भुला दी जाएगी। परंपरावादी लोगों को,जो एक ऐसी ग़ैर–पदानुक्रमित जाति–व्यवस्था को सही ठहराते थे जहाँ व्यावसायिक प्रशिक्षण विविध स्वाभाविकअभिक्षमताओं पर आधारित हो, बड़े पापड़ बेलने पड़े।

इस दृष्टिकोण की सर्वाधिक आलोचना अम्बेडकर ने शुरू की, यह दावा करते हुए कि जाति हिन्दूवादका एक अभिन्न हिस्सा है; दूसरे, यह लोगों को जन्म के आधार पर श्रेष्ठ अथवा निकृष्ट के रूप में बाँटने केविषय में कुछ भी युक्तिपरक अथवा नैतिक दृष्टि से सही नहीं है; तीसरे, अस्पृश्यता जाति प्रथा का एक अभिन्नहिस्सा है; और चौथे, इनमें से किसी को भी आसानी से नहीं सुधारा जा सकता, बशर्ते स्वयं धर्म में ही कोईबड़ा फेरबदल न हो। उन्होंने याद दिलाया कि शंकर अथवा रामानुज जैसे प्रबुद्ध संतों और मनीषियों तक नेकभी सामाजिक असमानता की आलोचना नहीं की, सिर्फ़ ईश्वर के समक्ष असमानता की निंदा की। अम्बेडकरका जी–जान से इस प्रश्न को हल करने का प्रयास और उनका अन्ततः हिन्दूवाद से पलायन इस संबंध मेंप्रभावकारी हैं।

गाँधीजी ने स्वयं बारंबार जाति एवं पदानुक्रम, जाति एवं छुआछूत के बीच भेद करने का प्रयास किया औरअन्ततः निष्कर्ष निकाला की 'जाति को चले जाना ही होगा'। लेकिन तब यह संदेहयोग्य है कि क्या गाँधी जीने अपनी खुद की गतिविधियों में उच्च–जाति पूर्वाग्रहों पर पूरी तरह से विजय पा ली थी। जैसा कि दिलीप मैननलिखते हैं, अपनी त्रिवेन्द्रम यात्रा के विषय में गाँधीजी के भाषण सफाई एवं शराब जैसी बुराइयों से परहेज़ रखनेहेतु निचली जातियों से की गई अपीलों से अटे पड़े हैं। उत्तर–भारत में 'शुद्धि सभा' काफी लम्बे समय तक चलतीरही। एक तरह से सफाई पर यह ज़ोर शुद्धता एवं प्रदूषण वाली ब्राह्मणवादी सनक पर ध्यान खींचता है।निस्संदेह, गाँधी जी त्रिवेन्द्रम के उन रूढ़िवादी नम्बूदरी पंडितों के मुकाबले अधिक प्रगतिशील थे जो नहीं चाहतेथे कि अछूत जन भी उन्हीं के रास्तों का प्रयोग करें। परन्तु गाँधी जी ने छुआछूत को मुख्य रूप से हिन्दू जातिके एक 'पाप' के रूप में देखा जिसके लिए उन्हें प्रायश्चित करना होगा। यही कारण है कि उन्होंने अपने 'हरिजनउत्थान' कार्यक्रम में हिन्दू जाति को शामिल किया न कि छुआछूत को। भीखू पारेख ने लिखा है कि गाँधीजी ने एक राजनीति स्तर तक किसी नैतिक एवं धार्मिक आयाम से परे कभी भी जाति के प्रश्न को नहीं उठाया।

यह बात 1932के पूना अनशन में पृथक् निर्वाचक–मंडलों हेतु उनके विरोध में बिल्कुल स्पष्ट दिखाईपड़ती है।जातिवादी प्रवृतियाँ राष्ट्रवादी आन्दोलन में अन्य स्तरों पर भी बनी रहीं। रणजीत गुहा ने हमें इस तथ्य से सावधान किया है कि अनेक गाँवों में उनको, जिन्होंने 'स्वदेशी' अथवा 'असहयोग' आन्दोलनों में भाग नहीं लिया,सामाजिक बहिष्कार झेलना पड़ा। यहाँ तक कि जब राष्ट्रवादी लोग एक सैद्धांतिक स्तर पर जाति को छोड़ते जारहे थे, व्यावहारिक रूप में वे जाति अनुमोदनों पर ही निर्भर रहे। यदि किसी ने लिवरपूल नमक का प्रयोग कियातो सामाजिक बहिष्कार का सहारा लिया जाता अथवा यदि कोई व्यक्ति स्वदेशी आन्दोलन में शामिल नहीं होतातो उसे नाई या धोबी की सेवाओं से वंचित कर दिया जाता; और इन पेशेवर लोगों की सेवाओं के बिना किसीहिन्दू को अशुद्ध ही बताया जाता। दूसरे शब्दों में, जबकि एक स्तर पर जाति को अस्वीकार किया जा रहा थातो दूसरे पर उसे मज़बूत किया जा रहा था।

राष्ट्रवादी संलाप में पैतृकवादी स्वर ने इस तथ्य को झुठला दिया है कि राष्ट्रीय आन्दोलन के दौरान तथाकथितनिम्न जातियाँ अपना हक विभिन्न स्तरों पर कायम कर रही थीं। दक्षिण में ई.वी. रामास्वामी नैकर, जिनकोबाद में पेरियर या 'बड़ा आदमी' के रूप में जाना गया, ने गैर–ब्राह्मणवादी आन्दोलन को उग्रवादी और वामपंथीदिशाओं में मोड़ दिया। इस आन्दोलन में बड़ी संख्या में लोग मंदिर–प्रवेश, शादियाँ सम्पन्न कराने वाले पुजारियों,आदि को अस्वीकार करते जा रहे थे। कई बार नीचे से उठे आन्दोलनों में राष्ट्रीय आन्दोलन को दूसरी दिशामें मोड़ने का प्रयास किया और उसे तेज किया।

इन खामियों के बावजूद संवैधानिक समझौते में आशा की गई है कि राजनीतिक प्रतिनिधित्व बढ़ाने के लिए रखेगए विशेष प्रावधानों के माध्यम से अनुसूचित जातियाँ व अन्य पिछड़े वर्ग सशक्त होंगे तथा उनके आर्थिक वरोजगार के अवसर बढ़ेंगे। अनुच्छेद 17 ने अस्पृश्यता का निवारण किया जबकि अनुच्छेद 15 व 19 कुछजाति–समूहों के लिए विशेष प्रावधान रखे जाने हेतु सुस्पष्ट हैं। संरक्षणों के कामकाज को देखने के लिए औरसंसद को रिपोर्ट देने के लिए एक राष्ट्रीय आयोग होगा।

3.3 धार्मिक विविधता बनाम सम्प्रदायवाद

भारतीय राष्ट्रवादियों को भारतीय प्रसंग में धर्मों के भीतर व उनके बीच विविधताओं व भिन्नताओं का सामनाकरना पड़ा। अधिकांश राष्ट्रवादियों ने, चाहे वो तिलक जैसे हिन्दू पुनर्जागरणवादी रहे हों अथवा नेहरू जैसेउदारवादी, एक धर्म अथवा भाषा पर आधारित किसी बहुमतवादी शासन संबंधी विचार को स्पष्ट रूप से ठुकरादिया। धरातल पर रहकर उन्होंने किसी एकल धार्मिक पहचान के शब्दों में राष्ट्र का विचार अपने से दूर हीरखा।

एक आम स्तर पर धार्मिक विविधता अपने आप में कोई समस्या नहीं थी; वस्तुतः उसको भारतीय, अधिक सतर्करूप से हिन्दू सहिष्णुता की एक अनोखी अभिव्यक्ति के रूप में दिल में रखा जाता था। परन्तु सम्प्रदायवाद, यथाएक धार्मिक समुदाय पर स्वयं को आधारित करती, पर वास्तव में हितबद्ध समूह की राजनीति सत्ता एवं संरक्षणसे संबंध रखती एक संकीर्ण सामुदायिक मानसिकता एक ऐसी समस्या थी जिसे अंग्रेजों की 'फूट डालो, शासनकरो' नीति द्वारा भड़काया जाता था।परन्तु फिर कुछ राष्ट्रवादी जन साम्प्रदायिक सोच से ऊपर उठने और धर्मों के भीतर और उनके बीचविविधता को बचा रखने में सफल रहे। तिलक जैसे हिन्दू पुनर्जागरणवादियों ने हिन्दूवाद के भीतर विविधता कोकुछ हद तक हिन्दू एकता बाधक के रूप में लिया। साम्प्रदायिक पूर्वाग्रहों को हिन्दू समुदाय को कमज़ोर करनेवाले तत्त्वों के रूप में देखा गया। तिलक ने इतिहास को काफी हद तक विभिन्न धार्मिक समुदायों के बीच एकसंघर्ष के रूप में देखा। उनका दावा था कि अतीत में बौद्धों ने हिन्दूवाद पर प्रहार किया; भविष्य में, हिन्दूवादको चुनौती देते ईसाई धर्म का उन्हें पूर्वाभास था। इस ख़तरे के खिलाफ़ हिन्दू समुदाय को स्वयं को मज़बूतबनाना पड़ा। जिस तरीके से तिलक ने अतीत को देखा वह कुछ हद तक भविष्य हेतु उनकी उम्मीदें लिए शर्तोंसे बँधा था। उन्होंने यह नहीं बताया कि क्या अतीत में भी रणक्षेत्र उसी प्रकार बँटे थे जैसे कि वर्तमान में, यानीधार्मिक पहचानों व सामुदायिक निष्ठाओं के लिहाज से। सामाजिक इतिहासकारों ने बताया है कि ये पहचानेंअकेले ही संकटपूर्ण घटनाओं को जन्म नहीं देतीं।

इसके अलावा, तिलक का भावी दृष्टिकोण जिसमें उन्होंने हिन्दुओं को एक शक्तिशाली समुदाय में एकीकृत देखा,पर भी नज़र डालनी पड़ी। इस प्रकार का दृष्टिकोण किस हद तक हिन्दूवाद के भीतर विविधता के प्रति मैत्रीपूर्णहै? अधिकतर राष्ट्रवादियों ने, चाहे वो तिलक रहे हों या राधाकृष्णन, हिन्दू को चुनिन्दा 'अद्वैत' संबंधीपराभौतिकीय विचारों से प्रभावित किया और आचरण संबंधी बहुपरती विविधता को नकार दिया। कुछ हद तकउन्होंने गीता व उपनिषदों जैसे कुछ मुख्य ग्रन्थों का सहारा लिया और हिन्दूवाद की विविधता को सामी (एकही जाति–समूह के) धर्मों की विचारधारा में लाने का प्रयास किया, यथा एक ग्रंथ, एक ईश्वर और शायद एकही संस्था या चर्च? परिणामस्वरूप, यह बात हिन्दूवाद के भीतर परस्पर विरोधी धर्मशास्त्रों से इन्कार किए जानेको प्रवृत्त करती है जिसने विभिन्न ऐतिहासिक मोड़ों पर उसकी शक्ति बढ़ाने में योगदान दिया। इसकेअतिरिक्त हिन्दुओं को एक समुदाय के भीतर संघटित करने के लिए गणेश व शिवाजी उत्सवों को शुरू किए जानेके प्रयास ने बहुमतवादी प्रयोजनों के लिए धर्म के राजनीतिक प्रयोग का खतरनाक संभावनाएँ खोल दीं।'विवाह–योग्य आयु विधेयक' जिसने लड़कियों की विवाह–योग्य आयु को 10 से बढ़ाकर 12 करने का

प्रयासकिया, के विरोध ने भी रूढ़िवादी हिन्दुओं को महत्त्व प्रदान किया। यद्यपि तिलक स्वयं व्यक्तिगत रूप सेमुसलमानों के विरुद्ध नहीं थे और उनके बीच अनेक प्रशंसकों के नायक थे, उन्होंने राजनीति की एक ऐसी शैलीका सूत्रपात किया जिसमें एक आक्रामक हिन्दू राष्ट्रवाद के बीज थे। इस काल में भी 'स्वदेशी' अक्सर हिन्दूधार्मिकता से जा मिला हालाँकि वे भिन्न–मतावलम्बी थे। 'स्वदेशी' में रवीन्द्रनाथ टैगोर का प्रवेश और बहिर्गमनसंभवतः उस मनोहरता एवं उत्कंठा दोनों की सर्वाधिक वाग्मितापूर्ण अभिव्यक्ति है जो इस प्रकार की उग्रराजनीति एवं धार्मिकता के प्रचंड संयोग से अभिप्रेरित थी।

इसके विपरीत, गाँधी जी ने एक ऐसी राष्ट्रवादी प्रतिक्रिया को जन्म दिया जो अपेक्षाकृत अधिक अंतर्भूत और अन्यधर्मों के मुकाबले कम आक्रामक थी। 'गीता' के अलावा उन्होंने अन्य ोतों हेतु भी आग्रह किया जैसे 'सर्मन ऑनद माउण्ट', अहिंसा संबंधी जैन आदर्श और वैष्णवी भक्ति। गाँधीजी निरन्तर 'स्वराज' या 'रामराज्य' जैसे हिन्दूआदर्शों पर आधारित भारतीय राष्ट्र की धारणा करते रहे। परन्तु अहिंसक कार्यवाही के आदर्श के माध्यम सेउन्हें उम्मीद थी कि वे हठधर्मी आवेग को आक्रामक हिन्दू राष्ट्रवाद में तब्दील होने से बचाकर सही परिणामले आयेंगे। हिन्दू समुदाय संबंधी उनके दृष्टिकोण को विवादित स्थलों पर नए मंदिरों की दरकार नहीं थी। साथही, उन्होंने हिन्दुओं को ध्यान दिलाना चाहा कि पौराणिक स्थलों को विशिष्ट घटनास्थलों के साथ नहीं उलझनाहै; भक्ति धर्मशास्त्र का तर्क है कि ये स्थान हृदय में ही तलाशे जाने हैं। गाँधी जी ही शायद एकमात्र ऐसे उपासकथे जिन्होंने कहा कि 'गीता' और 'कुरान' उनकी दो आँखें हैं। जैसे कि आशीष नन्दी बताते हैं, गाँधी एकधार्मिक सहिष्णुता को जन्म दिया जो कि शायद भारतीय मानस से अधिक मेल खाती थी। वह अपने सक्रियधार्मिक आचरणों में और उनके माध्यम से दूसरों के प्रति खुले थे। यह खुलापन हठधर्मी हिन्दुओं को स्वीकार्यनहीं था।

धार्मिक विविधता के प्रति एक तीसरी वैचारिक प्रतिक्रिया नेहरू जैसे उदारवादी धर्मनिरपेक्ष व्यक्तियों की ओर सेहुई। नेहरू के अनुसार, मुसलमान हिन्दू समुदाय के खिलाफ कोई समुदाय नहीं थे। उन्होंने उन्हें वर्ग, भाषा वविचारधाराओं द्वारा समान रूप से विभाजित माना। इसी प्रकार, उन्होंने हिन्दुओं को किसी सजातीय समुदाय केरूप में नहीं देखा। जैसा कि ऊपर उल्लेख है, वह संघर्ष की ओर ले जाती इस प्रकार की सोच के प्रति अधिकगंभीर थे। नेहरू भली–भाँति समझते थे कि लोगों को अधिकार है कि वे विभिन्न देवी–देवताओं व पुस्तकों मेंविश्वास करें, परन्तु वे स्वयं राजनीतिक उन्माद को जन्म देने वाले धार्मिक विश्वास के प्रति आशंकित थे। लेकिनफिर गाँधीजी ने महसूस किया कि आधुनिक युग में राजनीति सभी जगह है और इस कारण धर्म का भीराजनीतिकरण हो जाता है। सवाल किसी भी क्षेत्र को राजनीति से बचाने का नहीं, वरन् लोगों को प्रशिक्षितकरने का है ताकि वे लोकतांत्रिक आदर्शों का आदर करें और अपने निजी हितों के लिए धार्मिक विचारधाराओंव प्रतीकों का प्रयोग करते समय कानून के नियम का सम्मान करने को बाध्य हों।अब इन वैचारिक प्रतिक्रियाओं को धरातल पर लाकर राजनीतिक परिस्थितियों एवं आन्दोलनों द्वारा आकार प्रदानकिया गया। क्या हिन्दू और मुस्लिम वास्तव में सुस्पष्ट समुदायों में बँटे थे जैसा कि तिलक हमें सोचने कोउकसाते हैं? अथवा क्या वे वास्तव में फूट डालने और शासन करने की मंशा से अंग्रेजों के आने से पूर्व संतोषपूर्णमैत्री में रह रहे थे? जैसा कि सुमित सरकार बताते हैं, साम्प्रदायिक एवं राष्ट्रीय चेतना दोनों का ही विकासआधुनिक दृश्यघटनाएँ हैं, इस लिहाज से कि उन्हें आधुनिक आर्थिक संबंधों एवं संप्रेषणों की सुविधा प्राप्त रही।

उससे पहले, विभिन्न घटनादृश्यों में हिन्दुओं और मुसलमानों ने अपनी भिन्नताएँ खोजी तो होंगी परन्तु उन्होंनेसंभवतः स्वयं को सजातीय समुदायों के रूप में नहीं देखा होगा। दूसरे, यद्यपि हिन्दू और मुसलमान सम्पूर्ण मैत्रीमें नहीं रहे हो सकते हैं, साम्प्रदायिक दंगे नियमित अथवा प्रायिक घटनाएँ नहीं थीं। झगड़े होते थे परन्तुशिया–सुन्नी और जाति–संघर्ष भी हुआ करते थे।हिन्दुओं और मुसलमानों के बीच सुधार–आन्दोलनों ने उन्हें साम्प्रदायिक पहचान का भाव ग्रहण करने में मददकी। हिन्दू सम्प्रदायवाद सुधार–आन्दोलनों की बदौलत ही संभव हुआ। गत शताब्दी के आरम्भ में दयानन्दसरस्वती का आर्य समाज एक सर्व–हिन्दू चेतना के साथ शुरुआती समाज–सुधार मुद्दों (बाल–विवाह, मूर्तिपूजा,बहुवाद वैधव्य वर्जना, ब्राह्मणवादी प्रभुत्व आदि) को जोड़ने में सफल रहे। शुद्धि अभियानों को चलाकर उन्होंनेजाति–समूहों के वैविध्य के बीच गहरी जड़ें जमा लीं। 1890के दशक तक आर्य समाज ने कांग्रेस के पूर्ण रीतिसे हिन्दू न होने के लिए इसकी आलोचना शुरू कर दी और फिर कुम्भ मेलों एवं सनातन धर्म सभाओं में कईसम्मेलन आयोजित किए। अन्यत्र कहीं, बंगाल में रामकृष्ण मिशन, क्षेत्र में प्रार्थना समाज और मद्रास मेंथिऑसॅफ़िकल सोसाइटि ने भी अपने पुनर्जागरणवादी कार्यों के माध्यम से हिन्दू सम्प्रदाय की सार्थकता कोप्रोत्साहित किया।अब देखते हैं मुस्लिम सम्प्रदायवाद का क्या हाल था। उनके बीच भी सुधारवादी एवं पुनर्जागरणवादी प्रवृत्तियाँउभरीं। उत्तर प्रदेश में, उदाहरण के लिए, मुसलमानों के बीच सुधारों के लिए सर सैयद अहमद खान कीउम्मीदों को उन पारम्परिक मुस्लिम भूस्वामियों एवं नौकरी–पेशा परिवारों (अलीगढ़ के आभिजात्यों) में एकमुस्तैद श्रोतावर्ग मिल गया जिन्होंने अपना प्रभाव घटता पाया। शुरू–शुरू में अंग्रेजों ने सुधारवादियों की मददकी ताकि देवबंद शिक्षालय से होने वाले ज़ोरदार साम्राज्य–विरोधी, खिलाफ़त–समर्थक इस्लाम के प्रसार कासामना किया जा सके। तदोपरांत, अंग्रेजों ने यह तर्क देते हुए अलगाववाद को बढ़ावा दिया कि बंगाल–विभाजनका अर्थ होगा मुसलमानों के लिए अधिक नौकरियाँ। यद्यपि 'स्वदेशी' ने कुछ मुसलमानों को आकर्षित तो किया,अंग्रेजों का दुष्प्रचार आन्दोलनों से उच्च वर्गों को निकालने में सफल रहा।

एक राजनीतिक स्तर पर, सर सैयद अहमद खान ने एक आम मुद्दे के आधार पर परिषद् प्रवेश और प्रतियोगितापरीक्षाओं का विरोध किया कि इससे सिर्फ़ हिन्दुओं का सशक्तीकरण होगा जिनका कि अंग्रेजी शिक्षा में पलड़ाभारी था। अनेक मुस्लिमों को भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस लुभा नहीं पायी थी। 1906 में मुस्लिम लीग के गठनऔर पृथक् निर्वाचन मंडलों संबंधी रियायत ने सुनिश्चित कर दिया कि पृथक्तावादी कार्यावलियाँ घोषित हैं औरसिद्ध भी। दूसरे शब्दों में, अलगाववाद उन अभिजात वर्गों के दिल में जगह बना सकता है जो कि लोगों को अपनेनिजी हितों के लिए संघटित करते हैं।

बहरहाल, लोग हमेशा इसके शिकार नहीं होते; वे एजेण्टों के रूप में भी कार्य करते हैं। यदि वे पुनर्जागरणवादीऔर पृथक्तावादी राजनीति द्वारा प्रभावित हो रहे हैं तो उसके पीछे कुछ वास्तविक कारण अवश्य होंगे। उत्तरप्रदेश और पंजाब में साम्प्रदायिक दंगे 1880 के दशक से प्रायः ही होने लगे। सुमित सरकार बताते हैं किसामाजिक आर्थिक तनावों ने ही संभवतः इन दंगों को भड़काने में भूमिका निभाई। हिन्दू किसानों ने अवध औरअलीगढ़ के बड़े हिस्सों में मुस्लिम तालुक़दारों और ज़मीदारों को झेला, मुस्लिम दस्तकारों, दुकानदारों व छोटेव्यापारियों ने उत्तर प्रदेश के नगरों में बड़े सौदागरों व बैंकरों को झेला जबकि पंजाब में मुस्लिम किसानों ने हिन्दू साहूकारों को झेला। बंगाल में, विभिन्न क्षेत्रों में, 1906–07 में उत्तरोत्तर रूप से उपद्रव हुए। निशाना थे हिन्दू ज़मींदार व साहूकार, और मुस्लिम दंगाइयों को राष्ट्रवादियों द्वारा अंग्रेजों के भाड़े के एजेण्टों के रूप में देखा गया। और फिर 1917 में, 50,000 हिन्दुओं की भीड़ ने शाहबाद और पटना में 124 गाँवों में मुसलमानोंपर आक्रमण किया। गौ–रक्षा प्रचार और सनातन धर्म सभाओं ने ऐसे दंगों को भड़काने में भूमिका निभाई, परवे एकमात्र कारण नहीं थे; 'गोरी सरकार अचानक गिर गई' जैसी बड़ी–बड़ी अफवाहें और गप्पों का सिलसिला,और साथ ही खदबदाता किसान असंतोष, आदि को ऐसे दंगों में संभवतः एक अहम् अभिव्यक्ति मिली।लेकिन लोग हमेशा ही किसी साम्प्रदायिक/धार्मिक वेश में केवल आर्थिक असंतोष को ही व्यक्त नहीं करते रहेथे। और हमेशा मुसलमान ही साम्राज्य–समर्थक और पृथक्तावादी राजनीति की ओर नहीं खिंचते रहे थे।

खिलाफ़त आन्दोलन में मोहम्मद अली जैसे मुस्लिम नेताओं ने नवम्बर 1919 में पहले असहयोग हेतु आह्वानकिया। मुस्लिम नेताओं ने, जो असहयोग को सफल बनाने हेतु हिन्दू समर्थन की आवश्यकता के सचेत थे,बक़रीद पर गायों के वध को रोकने का आह्वान करता एक मुस्लिम लीगी प्रस्ताव पारित किया। जलियाँवाला बागहत्याकांड के बाद गाँधी और कांग्रेस ने खिलाफ़त कार्यकर्त्ताओं से हाथ मिला लिया। खिलाफ़त–पश्चात् काल मेंपृथक् निर्वाचक–मंडलों व बढ़ती बेरोज़गारी की बदौलत पृथक्तावादी पहचान का पुनरुथान देखा गया। हिन्दूसम्प्रदायवाद भी अड़ियल और प्रतिकूल होता जा रहा था। 1924 से मुस्लिम लीग ने एक सम्पूर्ण प्रांतीय स्वायत्तता वाले राज्य–संघ की माँग उठाई; तब तक 1940 में पाकिस्तान के लिए माँग नहीं उठी थी।

हिन्दू महासभा के प्रति कांग्रेस की प्रतिक्रिया हमेशा अस्पष्ट रही। असहयोग के प्रति अपने विरोध के बावजूद मदनमोहन मालवीय को कांग्रेस नेताओं द्वारा अपनी तरफ करें लिया गया। बीसवें दशक–मध्य से कांग्रेस हिन्दी,शुद्धि और हिन्दूवाद के प्रसार में आर.एस.एस. के साथ सक्रिय रही। बनारस जैसे कुछ स्थानों में 'स्वराज पार्टी'और 'हिन्दू महासभा' एक ही संगठन के दो नाम थे। 1937 में मौलाना अबुल कलाम आज़ाद ने शिकायत कीकि कांग्रेस सदस्य लीग में शामिल हो सकते परन्तु वे हिन्दु महासभा में सक्रिय होने से नहीं रोके गए हैं। 1938में जाकर ही कांग्रेस ने घोषणा की कि हिन्दू महासभा की सदस्यता कांग्रेस में बने रहने की अनर्हता होगी। तीसवें दशक–मध्य में हिन्दू व मुस्लिम दोनों का सम्प्रदायवाद बढ़ना जारी रहा, और 1939 में नेहरू ने डॉ॰ राजेन्द्रप्रसाद के सामने कबूल किया वे मुसलमानों के बीच कांग्रेस–विरोधी मनोभाव पर काबू पाने में असमर्थ रहे हैं।

जो कुछ हो, नेहरू द्वारा शुरू किया गया मुस्लिम व्यापक संपर्क अभियान महासभाइयों के आधिपत्य वाली स्थानीयकांग्रेस समितियों द्वारा मटियामेट कर दिया गया।इसके अतिरिक्त, मुसलमानों के बीच राष्ट्रवादी स्वरों, जैसे कि अबुल कलाम आज़ाद, ने लम्बे समय तकविभाजन के खिलाफ़ लड़ाई की पर उनकी आवाज़ों को पहचान नहीं मिल पाई। उन्होंने नेहरू व पटेल दोनोंके सामने तर्क रखा कि विभाजन साम्प्रदायिक समस्या को हल नहीं करेगा बल्कि उसे अधिक स्थायी बनायेगा।परन्तु किसी कारण से पटेल जैसे प्रबल राष्ट्रवादियों का मूड विभाजन स्वीकार करने और उसे मान लेने काही था। हमें यह भी ध्यान देना चाहिए कि कुछ अन्य स्वर भी थे, यथा 'जमाएते उलमा–ए–हिन्द' जो किपाकिस्तान–निर्माण के विचार विरुद्ध थे और यह महसूस करते थे कि विभाजन भारत में मुसलमानों को खतरेमें डालेगा। परन्तु वे मुसलमानों के बीच कोई ज़ोरदार आवाज़ साबित नहीं हुए।

इस प्रकार, पुनरावलोकन कर हम देख सकते हैं कि राष्ट्रवादी आन्दोलन अपने स्वयं के भीतर साम्प्रदायिकघटनाक्रमों पर काबू पाने में बार–बार असफल रहा। सिद्धान्ततः यह इस कारण था कि अनेक राष्ट्रवादी जनअक्सर हिन्दुओं और मुसलमानों को एक–पत्थरी समुदायों के रूप में अथवा उनके अपने समुदायों हेतु कच्चे मालके रूप में देखते थे। ऐतिहासिक रूप से, विभिन्न ऐतिहासिक कारकों ने किसी न किसी कारण से साम्प्रदायिकचेतना के विकास में योगदान किया और हो सकता है यह कल्पना करना लाभप्रद न हो कि क्या यह टाला जासकता था। जो बात साफ होनी चाहिए वो यह है कि धार्मिक पहचान और भिन्नता का एक बार राजनीतिकरणहोने के बाद सौम्य के साथ–साथ दुर्भावपूर्ण रूप भी ले सकते हैं।

उदारवादी संवैधानिक सिद्धांतों पर एक न्यूनतमसमझौता इस बात को सुनिश्चित करने का सर्वश्रेष्ठ तरीका हो सकता है कि धर्म का इस प्रकार काराजनीतिकरण कानून–व्यवस्था के उच्छेदन अथवा दूसरों के हिंसक दमन में घटित न हो। इस प्रकार काअल्पतम ढाँचा संविधान द्वारा मुहैया कराया जाता है जो कि सांस्कृतिक एवं शैक्षणिक अधिकारों के साथ–साथ एकमौलिक अधिकार के रूप में धार्मिक स्वतंत्रता हेतु भी प्रावधान रखता है।

3.4 भाषाः एकरूपता या अनेकता?

भाषाई विविधता का सवाल राष्ट्रीय/राजकीय भाषा और भाषाई प्रांतों की व्यवहार्यता/वाछनीयता पर बहसों केरूप में उभरा। एक वैचारिक स्तर पर कई लोगों को यह स्पष्ट लगता है कि एक 'राष्ट्रीय' या 'राजकीय' भाषाहोनी ही चाहिए हालाँकि किसी राष्ट्रीय अथवा शासकीय धर्म की कोई आवश्यकता नहीं है। अंग्रेजी को राजकीयभाषा के रूप में जारी रखने के विषय में क्या कहना है? नेहरू तक ने तर्क दिया था कि यह एक विदेशी भाषाहै और अपने राष्ट्र के विशाल जन–साधारण द्वारा नहीं जानी जाती। लेकिन उन्होंने अंग्रजी हटाने के मुद्दे परनरम रुख़ अपनाया।

आमतौर पर, तिलक जैसे अनेक राष्ट्रवादियों ने भाषाओं की विविधता को राष्ट्रीय एकता में बाधक पाया औरएक आम भाषा की आवश्यकता पर बल दिया। उन्होंने सुझाव दिया कि सभी उत्तर–भारतीय भाषाओं के लिएदेवनागरी लिपि प्रयोग की जाए। तदोपरांत, कांग्रेस के उत्तर–केन्द्रित संघटन और हिन्दू महासभा के प्रभाव नेनागरी लिपि में हिन्दी हेतु योगदान दिया ताकि उसका स्वतंत्र भारत हेतु एक संभावित राष्ट्रीय भाषा के रूप मेंउत्थान हो सके। गाँधी जी भी हिन्दी को प्रत्साहित किए जाने के इच्छुक थे, खास कर दक्षिण में। परन्तु इससंबंध में दक्षिण का अनुभव जरा बढ़ कर था। 1938 में राजगोपालाचारी, तत्कालीन मद्रास के प्रमुख, ने एकवैकल्पिक विषय के रूप में, चाहे नागरी अथवा उर्दू लिपि में, हिन्दी को लागू किया या कहें, इस रूप में कि 'एकपत्ते पर चटनी :- खाओ या छोड़ो'। और इस विषय में असफलता ही हाथ लगी कि :- प्रोत्साहन उच्च कोटितक ही न रुका रहे। परन्तु उनके अनुभव ने द्रविड़ संस्कृति पर आर्य व आर्य भाषा थोपे के खिलाफ़ ई.वीरामास्वामीनैकर के जनप्रिय संघर्ष में अच्छे ढंग से योगदान दिया। इस अनुभव के चलते ही राजा जी नेस्वातंत्र्योत्तर भारत में हिन्दी थोपे जाने का विरोध किया।

ग्रॉविले ऑस्तें ने उस सीमा के प्रमाण प्रस्तुत किए हैं जहाँ तक कि हिन्दी–समर्थकों को राजकीय भाषा के रूप में हिन्दी अपनाये जाने पर ज़ोर देना था। 'हिन्दी अतिवादियों' ने एक हिन्दी संविधान प्रस्तुत किया जिसकोसंस्कृतीकरण की वजह से उत्तर भारत के हिन्दी–भाषियों तक के लिए समझना मुश्किल पाया गया। ऑस्तें नेलिखा, ''एक संस्कृतीकृत अनुवाद न सिर्फ़ समझने के अनुपयुक्त होगा, दीक्षित व्यक्तियों के एक छोटे से समूहको छोड़कर, बल्कि यह संदेहपूर्ण है कि क्या एक संस्कृतीकृत संविधान संसदीय सरकार और उस ब्रिटिशआम–कानून की परम्परा की बुनियाद पर लादा जा सकता है जिसका कि राष्ट्र अभ्यस्त है और जिसे सदन केसदस्य बनाये रखना चाहते हैं।'' अन्ततः इस मुद्दे पर 1960के दशक में आन्दोलन होने तक कम से कमपचास वर्षों तक अंग्रेजी के निरंतर प्रयोग पर आम सहमति दिखाई दी।उठने वाला एक दूसरा मुद्दा भाषाई प्रांत संबंधी था। चूँकि एकता को पूर्वनियोजित ढ़ग से व्यर्थ कर देने के लिएअंग्रेजों ने बहु–भाषाई राज्यों का निर्माण कर दिया था, कांग्रेस भाषाई राज्य बनाने जाने हेतु सिद्धांततः सहमतथी। परन्तु नेहरू स्वतंत्रता पश्चात् इस मुद्दे पर ढीले पड़ गए और उसे प्रमुखता पचास के दशक में हीमिल पायी।

3.5 जनजातीय विद्रोहः सम्मीकरण और सुरक्षित रखना

इतिहास लिखना नीचे से शुरू करते हुए सुमित सरकार ध्यान दिलाते हैं कि भारत में किस प्रकार जनजातीयसमुदायों ने प्रायः हमेशा ही और हिंसक विद्रोह किए हैं। जंगल तक सीमित आदिम असभ्य होने की बजाय (इसप्रकार की जनजाति केवल औपन्यासिक कल्पना और पर्यटक–पुस्तिकाओं में ही जीवित बची है), जनजातियाँभारतीय समाज में निम्नतम सामाजिक स्तर पर कृषि मज़दूरों, भारिकों इत्यादि के रूप में ही एकीकृत हैं। वनोंके वाणिज्यीकरण, भूमि हथियाने व बढ़ते आप्रवासन के चलते अनेक विद्रोह हुए, जैसे संथाल विद्रोह (1855), मुण्डा विद्रोह (1895–1900) और 1922–24 में गोदावरी क्षेत्र में अलूरी सीताराम राजू आन्दोलन कुछ उल्लेखनीय नाम हैं। यत्र–तत्र घटित और आकस्मिक होने के अलावा इन आन्दोलनों ने उजागर किया :-निशाना बनाए जाने वालों की स्पष्ट पहचान (प्रायः ज़मींदार और साहूकार), राजनीतिक संचार के नए–नएतरीके, और स्थानीय शोषकों व बाहरी शासन के बीच अन्तर्सम्बंधों की चेतना। 1914–18 में जब आवश्यकवस्तुओं के दाम बढ़ गए, मिदनापुर में बाज़ार लूटे जाने के बारे में लिखते हुए स्वप्न दास गुप्ता बताते हैं किआदिवासियों ने अनाज व्यापारियों की बजाय कपड़ा व्यापारियों व साहूकारों पर चुन–चुन कर हमला किया क्योंकिआड़े वक्त में वे ही ज़्यादा शोषण करते थे।

ये राष्ट्रवादी जनजातियों के पास मुख्यतः इस बात को लेकर पहुँचे कि यह अनपढ़ जनसमूह 'सभ्य' बने औरमुख्यधारा में शामिल हो। जैसा कि अन्य निचले जाति–समूहों के साथ था, राष्ट्रवादियों ने उनके विषय में यहनहीं सोचा कि वे अपना इतिहास खुद रचते स्वायत्त अभिकर्त्ता हैं अथवा ऐसे समूह जिनकी कार्यावलियाँ कांग्रेससे भिन्न हो

सकती हैं। इसका मतलब था कि एक व्यावहारिक स्तर पर वे कांग्रेस की आवश्यकताओं के अनुसारही संघटित और विघटित किए गए। यह बात 1921–23 के बीच मिदनापुर आदिवासी विद्रोह के मामले में देखी जा सकती है। कांग्रेस ने 1921 के आस पास ही इस क्षेत्र में आदिवासियों को सूचीबद्ध करना शुरू किया और बहुत कम वेतनों के खिलाफ़ सफलतापूर्वक एक हड़ताल को कार्यरूप दे दिया (उन्हें 14 मील तक लठ्ठे ढोने के 4 पैसे और 35 मील के लिए 8 पैसे मिलते थे!)। कड़े संघर्ष के बाद एक समझौता हुआ जिसके अनुसार एक कांग्रेस कार्यकर्त्ता को जंगलों में कर्मचारियों की हालत पर नज़र रखने की अनुमति मिल गई। कांग्रेस निस्संदेहआदिवासियों के बीच विद्यमान असंतोष को सही रास्ता दिखाया और उसे धान निर्यात और विदेशी वस्त्रों केविरोध तक बढ़ाया। परन्तु उसके बाद 'असहयोग' के दौरान इस संघर्ष ने अपनी ही गति पकड़ ली औरआदिवासियों ने कुछ चुनिन्दा दुकानों को लूटना शुरू कर दिया। 'असहयोग' को वापस लेने का अर्थ था उनकेसंघर्ष को बाहरी संपर्कों से वंचित कर दिया जाना; इसलिए जब पारम्परिक जंगल अधिकारों हेतु 1922 मेंआदिवासियों ने सिर्फ उन्हें अप्रत्यक्ष रूप से समर्थन दिया।

उपरोक्त का परिणाम यह हुआ कि आदिवासियों अथवा जनजातियों के प्रति कांग्रेस की प्रतिक्रिया की तुलनाजाति–भेदों के प्रति उसकी प्रतिक्रिया से की गई। जनजातियों को उन्हें अपनी विशिष्ट विश्व–दृष्टि और मूल्योंके संरक्षकों के रूप में नहीं देखा गया; उन्हें 'सभ्य' बनाना पड़ा था और मुख्यधारा में लाना पड़ा था। इस प्रकार,जब उन्होंने मुद्दों और अधिकारों के लिए अपनी ही पहलकारी पर अभिकर्त्ताओं के रूप में काम किया जो कि उनके लिए आवश्यक था, वे अलग–थलग नज़र आए।

यह पितृसत्तावाद संवैधानिक समझौते तक जा पहुँचा जिसमें अनुसूचित के हितों को संरक्षण देने व बचाने के लिए अनेक संरक्षणवादी उपाय थे। अनुच्छेद 15 जो प्रजाति, जाति आदि के आधार पर भेदभाव पर प्रतिबंध लगाता है, स्पष्ट रूप से अनुसूचित जातियों व अनुसूचित जनजातियों की उन्नति हेतु कुछ प्रावधानों की अनुमति देता है। अनुच्छेद 19 (5) आवास की स्वतंत्रता प्रदान करता हुआ कुछ प्रतिबंधित क्षेत्रों में अनुसूचित जातियों के हितों को बढ़ावा देने के लिए विशेष सीमाबंधनों के प्रावधान की अनुमति देता है। इसी प्रकार, एक विशेष अधिकारी, राष्ट्रीय आयोग तथा विशेष सहायतार्थ अनुदानों हेतु प्रावधान हैं।

3.6 सार–संक्षेप

भारत में विविधता के एकाधिक स्तरों के प्रति कोई एक राष्ट्रवादी प्रतिक्रिया नहीं रही। इसके अलावा ये सबविविधताएँ कोई एक ही समय राजनीतिक रूप से महत्त्वपूर्ण नहीं हुईं; उन्होंने धीरे–धीरे आकार लिया और एककाल–विशेष में विशिष्ट अथवा पृथक्तावादी माँगों के आधार का रूप ले लिया। जाति व जनजाति के सवाल परराष्ट्रवादियों ने अपना काम मुख्य रूप से पददलितों को सभ्य बनाने वाला माना। इस प्रकार यह प्रतिक्रिया उन्हेंअपनी कार्यावलियों हेतु सशक्त बनाने के लिहाज़ से नैतिक और सामाजिक ही रही न कि राजनैतिक।

धार्मिक विविधता के मामले में राष्ट्रवादी जन धर्मनिरपेक्षता और सम्प्रदायवाद दोनों के प्रति व्यवहारतः बिल्कुलदोगले थे। हिन्दू पुनर्जागरणवादी इस बात पर ज़ोर देते थे कि वे किसी भी अन्य धर्म अथवा सम्प्रदाय के ख़िलाफनहीं है परन्तु अव्यक्त रूप से भारतीय राष्ट्र को हिन्दू आदर्शों व प्रतीकों की बुनियाद पर खड़ा मानते थे।गाँधी जी की प्रतिक्रिया धार्मिक विविधता के प्रति ही एक प्रतिक्रिया थी, और शायद एक सशक्त प्रतिक्रिया, जिसेभारत में पवित्रता का जीवन्त अर्थ प्रदान किया गया है। तथापि, गाँधी जी की प्रतिक्रिया सच्ची आस्था व नम्रताद्वारा रूपायित थी, जिनको साधारण गुण नहीं माना जा सकता। अन्ततः नेहरूवादी प्रतिक्रिया, जो एक बौद्धिकसंशयवाद और धार्मिक उन्मादों के भय से उत्पन्न हुई, भी जीवन आस्था के दृष्टिकोण से अपर्याप्त थी।

इस बात का शुक्रगुज़ार होना जरूरी है कि ये प्रतिक्रियाएँ राष्ट्रीय स्वतंत्रता आन्दोलन के आदेशों के अनुसार हीरूपायित हुईं। राष्ट्रवादियों को अक्सर अपनी इस समझ के अनुसार ही काम करना पड़ा कि व्यवहारतः क्याउचित रहेगा। सजातीयता हेतु नियतकालीन आन्दोलन के बावजूद वे विविधता द्वारा दी गई चुनौतियों के अनुरूप ही रहीं। अनुसूचित जातियों, अनुसूचित जनजातियों, अन्य–पिछड़े–वर्गों व अल्पसंख्यकों के हित–संरक्षण हेतुसंवैधानिक प्रावधान काफ़ी कुछ विविधताओं के प्रति राष्ट्रवादी प्रतिक्रिया के ही परिणामस्वरूप रखे गए।

3.7 अभ्यास

1) उन तरीकों पर चर्चा करें जिनसे राष्ट्रवादियों ने जाति एवं अस्पृश्यता का प्रत्युत्तर दिया। क्या येप्रतिक्रियाएँ राष्ट्रवादियों के उच्च–जाति पूर्वाग्रहों द्वारा आकार प्रदान की गई थीं, जैसा कि अम्बेडकर यापेरियर ने दावा किया?

2) राष्ट्रवादियों ने धार्मिक विविधताओं और सम्प्रदायवाद का किस प्रकार जवाब दिया?

3) विभिन्न प्रकार की विविधता के प्रति राष्ट्रवादी प्रतिक्रियाओं की उपयुक्तता के संबंध में इस इकाई के मुख्यदावों का आलोचनात्मक विश्लेषण करें।

अध्याय 4
संविधान व्यवस्था में राज्य

अध्याय की रूपरेखा

4.1 प्रस्तावना
4.2 पृष्ठभूमि
4.3 राज्यों की पहचान तथा क्षेत्रीय अखण्डता
4.4 संघ–राज्य संबंध
4.4.1 संसद की असाधारण शक्तियाँ
4.4.2 संघ की असाधारण कार्यकारी शक्तियाँ
4.4.3 राज्यपाल की भूमिका
4.4.4 प्रशासकीय संबंध
4.4.5 राज्यों का वित्तीय महत्त्व
4.4.6 संघ–राज्य संबंधों में तनाव के क्षेत्र
4.5 अन्तरराज्यीय संबंध
4.6 राजनीति और राज्याधिकार
4.7 सार–संक्षेप
4.8 अभ्यास

4.1 प्रस्तावना

भारत के संविधान निर्माताओं ने इस विशाल उपमहाद्वीप के विशाल क्षेत्रीय वैविध्य का सम्मान करते हुए,अनिवार्यतः भारत सरकार अधिनियम, 1935 के माडॅल पर गठित एक संघीय राज्य को जन्म दिया। यह एकउच्च रूप से केन्द्रीकृत संघ था। हालाँकि सियासी ताकतों ने राज्यों पर केन्द्र की पकड़ कम करने की दिशा मेंकाम किया है। और सरकार के इन दो वर्गों के बीच सहयोग की आवश्यकता का बोध बढ़ रहा है।

4.2 पृष्ठभूमि

जब हम 'संविधान व्यवस्था में राज्य' की बात करते हैं तो 'राज्य' से हमारा अभिप्राय होता है भारतीय राज्यकी एक इकाई से, जो संघीय प्रतिमान पर गठित है जैसा कि संयुक्त राज्य अमेरिका (यू.एस.ए.) में है। यू.एस.ए. के संघ के आधार पर सम्मिलित राज्य 1789 में संयुक्त राज्य संघ के गठन से पूर्व स्वतंत्र राज्य थे। संयुक्तराज्य अमेरिका के गठन के बाद उसकी इकाइयों को 'राज्य' कहा जाने लगा। जितने भी संघ 1789 के बादबने उन्होंने अपनी इकाइयों को राज्य नहीं कहा। स्विस राज्य संघ की इकाइयों को 'कैन्टॉन' कहा गया जो किएक फ्रांसीसी शब्द है जिसका अर्थ है प्रान्त। कैनेडियन संघ ने अपनी इकाइयों को 'प्रॉविन्सिस' के नाम से पुकाराजबकि पूर्व सोवियत समाजवादी गणतंत्र संघ में उन्हें 'रिपब्लिक्स' नाम दिया गया।

भारत के स्वतंत्र होने और उसका गणतंत्रात्मक संविधान तैयार होने से पूर्व देशीय राजाओं के शासनाधीन क्षेत्रही 'राजसी राज्य' कहलाते थे। ब्रिटिश भारत के अधीन क्षेत्रों को प्रांतों में बाँटा गया था। भारत के संविधानने दर्जे का यह भेद समाप्त कर दिया और भारत को चार प्रकार के राज्यों में संगठित किया :- ए, बी, सी, औरडी। 1956 के बाद भारतीय संघ की इकाइयाँ दो प्रमुख श्रेणियों में वर्गीकृत हो गयीं, यथा 'राज्य' और'केन्द्रशासित प्रदेश'। तदोपरांत, अनेक केन्द्रशासित प्रदेशों को राज्य का दर्जा दे दिया गया। अतएव, केन्द्र–शासितप्रदेशों को संभावित राज्यों के रूप में लिया जा सकता है। भारत में राज्य प्रणाली का बोध मुख्यतः तीन विषयोंपर केन्द्रित है :

1) राज्यों की पहचान और देश की अखंडता
2) राज्यों का भारतीय संघ के साथ संबंध
3) राज्यों के बीच संबंध।

4.3 राज्यों की पहचान तथा क्षेत्रीय अखण्डता

राज्यों की पहचान और क्षेत्रीय अखण्डता ही वस्तुतः राज्य प्रणाली का मूल अभिलक्षण है। तकनीकी रूप सेइसका अर्थ है कि राज्य जो संघ का निर्माण करते हैं, अपना आकार, अभिधान और अभिलक्षण कायम रखें।व्यवहारतः, वैसे, ऐसा हमेशा नहीं होता। यहाँ तक कि विश्व के प्राचीन संघ, अमेरिका, में भी राज्यों की पहचानव क्षेत्रीय स्वरूप समय के साथ काफ़ी कुछ बदले हैं :- विशेष रूप से संघ के निर्माण (1789) और 1860केदशक के गृह–युद्ध के बीच।

भारत में स्वतंत्रतोपरांत वर्षों में राज्यों के आकार, पहचान व अभिलक्षण में काफ़ी बड़ा बदलाव देखा गया। इसकामुख्य कारण यह है कि अंग्रेजों ने भारत को बहुत ही आकारहीन देश बनाकर छोड़ा। उसकी अर्थव्यवस्थाछिन्न–भिन्न और चित्र–विचित्र थी। उसकी प्रशासनिक इकाइयाँ भारतीय जनता के सांस्कृतिक परिरेखाओं सेमेल नहीं खाती थीं। उसके प्रशासनिक प्रतिमान में एकरूपता नहीं थी। स्वतंत्र भारत के राजनेताओं को इनविभेदों को छांटकर अलग करना पड़ा जो कि अब तक डटे हैं। राज्यों का पुनर्गठन अभी अधूरा है।अगली इकाई, में हम राज्यों के पुनर्गठन की यह कहानी कुछ विस्तार के साथ पढ़ेंगे।

नए राज्यों के संविधान, उनके विलय और उनकी क्षेत्रीय सीमाओं में परिवर्तन की सुविधा संविधान केअनुच्छेद–3 द्वारा प्रदान की गई है जो कि संसद को इस बात की अनुमति देता है कि वह (क) किसी भी राज्यसे उसके क्षेत्र को अलगकर अथवा दो या अधिक राज्यों अथवा राज्यों के हिस्सों को जोड़कर अथवा किसी भीराज्य के एक हिस्से से किसी भी क्षेत्र को जोड़कर नए राज्य बनाए; (ख) किसी भी राज्य के क्षेत्रफल को बढ़ाएँ;(ग) किसी भी राज्य के क्षेत्रफल को घटाएँ; (घ) किसी भी राज्य की सीमाओं में फेरबदल करे; और (ङ) किसीभी राज्य का नाम बदल दें; बशर्ते राष्ट्रपति (यथा, केन्द्र सरकार) ने संबंधित राज्य विधानमंडलों के साथमशविरा कर इस आशय की अनुशंसा कर दी हो।राज्यों की पहचान का एक पहलू यह है कि अमेरिका से भिन्न, भारत में कोई दोहरी नागरिकता नहीं है। यहाँसिर्फ संघ की नागरिकता होती है।

4.4 संघ–राज्य संबंध

दुनियाभर के संघों के लिए यह एक आम प्रथा है कि वे एक लिखित और प्रासंगिक रूप से अत्यौपचारिक व्यवस्थामें संघ और राज्यों के बीच कानूनी–राजनीतिक संबंध निर्धारित करें। संघीय संविधान एक संविदा/संधि कास्वभाव लिए होता है। उसकी शर्तों में फेरबदल संघ के साथ–साथ सभी अथवा बड़ी संख्या में राज्यों की सहमतिके बगैर नहीं किया जा सकता। दूसरे, संविधान संघ व राज्यों के बीच शक्ति–विभाजन करता है। तीसरे, इसशक्ति–विभाजन पर एक न्यायतंत्र नज़र रखता है।

भारतीय संविधान इस शक्ति विभजन को अनुच्छेद 246 के तहत सातवीं अनुसूची में निर्धारित करता है। मोटेतौर पर, एक एकीकृत प्रशासन को चलाने के लिए आवश्यक बातों और राज्यों के आम हित संबंधी क्षेत्रों कोसंघ सूची (सूची 1) में स्थान दिया गया है और राज्य के विशेष हित संबंधी बातें राज्य सूची (सूची 2) में दीगई हैं। समवर्ती सूची (सूची 3) के अंतर्गत उन विषयों की एक तीसरी सूची भी है जिन पर संघ और राज्यसंगामी न्याय–अधिकार रखते हैं।समवर्ती सूची, यह समझ लेना चाहिए, का अर्थ यह नहीं कि इन शक्तियों का प्रयोग संघ व राज्यों द्वारा एक–दूसरेके सहयोग से किया जाना है। भारतीय संविधान में ऐसे सहयोग के लिए अन्य प्रावधान हैं। न ही समवर्ती सूचीका अर्थ यह है कि संघ व राज्य अपने प्राधिकार का प्रयोग उन विषयों पर कर सकतें हैं जो उसमें एक दूसरेके सहयोग (यथा, सहमति) के अधीन रखे गऐ हैं। समवर्ती विषय वे विषय हैं जिन पर संघ व राज्य दोनोंअपने–अपने क्षेत्राधिकारों का प्रयोग करते हैं। किसी भी समवर्ती–सूची विषय पर क्षेत्राधिकार, संबंधी विवाद कीस्थिति में संघ का क्षेत्राधिकार स्वतः अभिभावी होगा। समवर्ती सूची में, इसी कारण, संघ–राज्य संबंध धुँधले नज़रआते हैं।ऐसे विषय जो इन तीन सूचियों में से किसी में भी नहीं हैं:- शेष विषय:- संघ के प्राधिकार से ताल्लुकरखते हैं।मोटे–तौर पर, संघ को रक्षा संबंधी सभी मामलों पर अधिकार है, जिनमें शामिल हैं :- सशस्त्र बल व उनकाप्रसरण; आणविक ऊर्जा व उसके उत्पादन हेतु आवश्यक खनिज; युद्ध व शान्ति; विदेशी मामले व विदेशीअधिकारक्षेत्र; प्रत्यर्पण व नागरिकता; भारत में/से प्रवेश, निष्कासन एवं उत्प्रवासन; विदेश में तीर्थयात्रा/हज;रेलमार्ग; राष्ट्रीय राजमार्ग, राष्ट्रीय जलमार्ग, नौ–परिवहन व जहाजरानी; मुख्य बंदरगाह; वायुमार्ग; डाक, तार,व दूरभाष; मुद्रा; बैंकिंग, व्यापार सहयोग एवं बीमा; तौल व गुणवत्ता संबंधी मानक लागू करना; प्राचीन वऐतिहासिक स्मारक; भारतीय सर्वेक्षण; जनगणना एवं अन्तरराज्यीय प्रवसन; संघ लोक सेवाएँ; संसदीय, राज्यों केविधानमंडलीय एवं राष्ट्रपति व उप–राष्ट्रपति के पद हेतु चुनाव; संसद के प्रत्येक सदन के अधिकार,विशेषाधिकार एवं असंक्राम्यताएँ; संविधान एवं सर्वोच्च न्यायालय व उच्च न्यायालयों का गठन; कृषि आय केअतिरिक्त अन्य आय पर कर; और अन्तरराष्ट्रीय व्यापार पर कर व सीमाशुल्क।स्थूल रूप से, राज्य अपना अधिकारक्षेत्र इन पर रखते हैं :-आम व्यवस्था और संघ के सशस्त्र बलों को शामिलन करते हुए पुलिस; उच्च न्यायालयों के अधिकारी व सेवकजन; कारागार; स्थानीय शासन; जन स्वास्थ्य एवंस्वच्छता; भारत के भीतर तीर्थयात्रा; मादक द्रव्य; अपंग व बेरोजगारों को राहत; शवाधान और कब्रिस्तान;दाहकर्म और मुर्दाघर; पुस्तकालय, संग्रहालय, राष्ट्रीय महत्त्व रखने वालों के अलावा अन्य प्राचीन एवं ऐतिहासिकस्मारक; सड़कें, पुल,

नौकाएँ व संघ सूची के दायरे से बाहर संचार के अन्य साधन; ट्राममार्ग, सड़कमार्ग, वअन्तर्देशीय जलमार्ग जो संघ के कार्यक्षेत्र से बाहर हों; कृषि मामले व पशु–धन का संरक्षण; तालाब एवं मवेशीअतिचार को रोकना; अन्तःराज्यीय जल संसाधन; भूमि संबंधी मामले; मत्स्य उद्योग; संरक्षा न्यायालय; नाभकीयऊर्जा उत्पादन हेतु जो आवश्यक हैं उन्हें छोड़कर अन्य खादानों व खनन का बंदोबस्त।

4.4.1 संसद की असाधारण शक्तियाँ

सरकारी गतिविधियाँ कानून की भाषा में चलाई जाती है। संघ व राज्यों के बीच शक्ति–विभाजन का मुख्य ध्यान,इसी कारण, कानून–निर्माण पर जाता है। संघ और राज्यों की कार्यकारी शक्तियाँ उनकी विधायी शक्तियों केसाथ सह–व्यापक हैं। इस तथ्य के विषय में कोई संशय नहीं कि संघ व राज्यों के बीच शक्ति–विभाजन में पलड़ासंघ का ही भारी है। यह भार संविधान के कुछ असाधारण प्रावधानों द्वारा बढ़ा दिया गया है।

संसद के अनुच्छेद 249 के अनुसार संसद किसी भी विषय पर कानून बना सकती है, यदि उच्च सदन (राज्यसभा) दो–तिहाई बहुमत से उक्त विषय को एक राष्ट्रीय महत्त्व का विषय घोषित कर दे।

अनुच्छेद 250 के अनुसार संसद आपातकाल संबंधी उद्घोषणा किए जाने के दौरान भारत के सम्पूर्ण अथवा किसी भी क्षेत्र विशेषके लिए किसी भी राज्यीय विषय पर कानून बना सकती है।

अनुच्छेद 252 के अनुसार संसद दो अथवा अधिक राज्यों के लिए एक राज्यीय विषय पर कानून बना सकतीहै, यदि विधानमंडल इसको वा छनीय समझते हों। दूसरी ओर, चूँकी संघ सम्पूर्ण देश अथवा उसके किसी एकभाग के लिए अपने अधिकारक्षेत्रीय विषयों पर कानून बना सकता है, संघ के लिए ऐसा कोई प्रावधान नहीं हैकि किसी भी राज्य विधानमंडल हेतु कानून–निर्माण करने के लिए वह अपने अधिकार दूसरे को सौंप दे।

संविधान के अनुच्छेद 356 के अन्तर्गत किसी राज्य में संविधान–व्यवस्था भंग हो जाने की घोषणा के उदाहरणमें, न सिर्फ़ राज्य विधायिका के कानून–निर्माण कार्य, बल्कि उसकी वित्तीय शक्तियाँ भी संसद द्वारा अपने काबूकर ली जाती हैं। कहना चाहिए कि संसद अपने बजट पारित करती है, प्रशासन के लिए धन आवंटित करतीहै और राज्य सरकार हेतु कराधान पर नियंत्रण रखती है।

4.4.2 संघ की असाधारण कार्यकारी शक्तियाँ

संघ और राज्यों की कार्यकारी शक्तियाँ अपनी–अपनी विधायी शक्तियों के साथ सह–विस्तृत हैं, जिन्हें हमने देखाकि संघ के पक्ष में बहुत अधिक झुकी हैं। संघ की कार्यकारी शक्तियाँ, तथापि, संविधान के कुछ विशेष प्रावधानोंके अभिप्राय से शक्तियों की इस शृंखला से कहीं अधिक हैं।

राज्यों की कार्यकारी शक्तियों से इस प्रकार प्रयोग किए जाने की अपेक्षा होती है कि संघ की कार्यकारी शक्तियोंमें अड़चन न पड़े अथवा उनकी वैधता कम न हो। इस प्रकार की शक्तियों में सबसे महत्त्वपूर्ण है राज्यों केराज्यपालों की नियुक्ति और पदच्युति जो कि, जैसा कि हम देखेंगे, अवसर पड़ने पर अपने वास्तविक कार्यकारीप्रमुख का रूप ले सकते हैं। इस उद्देश्य से संघ राज्यों को प्रबंधकारणी निर्देश दे सकता है। संघ की कार्यकारीशक्ति एक राज्य को ये निर्देश देने तक भी जायेगी जैसे कि राष्ट्रीय अथवा सामरिक महत्त्व के और रेलमार्ग कीसुरक्षा संबंधी निर्देश में घोषित संचार माध्यमों का निर्माण व रखरखाव (अनुच्छेद 257)।

अनुच्छेद 365 के अनुसार, ऐसे निर्देशों के अनुपालन और कार्यान्वयन में किसी राज्य की विफलता उसे संघ द्वारा संवैधानिकअवसन्नता की घोषणा का हकदार बना सकती है।

4.4.3 राज्यपाल की भूमिका

राज्यों की प्रतिष्ठा और स्वायत्तता बनाए रखने में राज्य के राज्यपाल की एक निर्णायक भूमिका होती है।राज्यपाल की नियुक्ति भारत के राष्ट्रपति (यथा, संघ) द्वारा की जाती है और वह राष्ट्रपति का अनुग्रह प्राप्तरहने तक अपने पद पर बना रहता/बनी रहती है। वह संघ का एजेण्ट होता है और आमतौर पर उससे उम्मीदकी जाती है कि संघ–राज्य मैत्री को सुनिश्चित करे। कभी–कभी, हालाँकि, उसकी भूमिका संघ–राज्य संबंध मेंतनाव के एक प्रमुख कारक का रूप ले सकती है।

राज्यपाल ही राज्य का कार्यकारी प्रमुख होता है और राज्य कार्यकारणी के सभी प्रकार्य उसी के नाम पर औरउसी के प्राधिकार के तहत किए जाते हैं। वह एक मंत्रिपरिषद् की नियुक्ति करता है जो उसे उसके कार्यों मेंसहयोग करे और सलाह दे, उस स्थिति को छोड़कर जब संविधान के तहत उससे अपने विवेकानुसार काम करनेकी अपेक्षा होती है। यह अपवाद भारत के राष्ट्रपति के संबंध में नहीं है जिसके मामले में सभी मंत्रीय सलाहेंबाध्यकारी होती हैं। राज्यपाल के साथ समस्या यह है कि उसका विवेकाधीन क्षेत्र स्पष्टतः परिभाषित नहीं है।

अनुच्छेद 163 की धारा–2 कहती है कि यदि कोई प्रश्न इस विषय में उठता है कि क्या संविधान अपेक्षा करताहै कि उल्लेख्य विषय राज्यपाल द्वारा उसी की समझबूझ से निपटाया जाना है।

अपने विवेक से लिया गया राज्यपाल का निर्णय अपरिवर्तनीय होता है। इसी अनुच्छेद की धारा–3 कहती है कि इस प्रकार का कोई सवाल किसी भी अदालत में नहीं उठाया जा सकता। इसका अर्थ है कि राज्यपाल यदि प्रयोगकरना चाहे तो उसके पास असीमित कार्य–स्वातंत्र्य है।

दूसरी ओर, मंत्रिपरिषद् निर्वाचित राज्य विधानमंडल के प्रति जवाबदेह होती है। राज्य की जनता केप्रतिनिधि होने संबंधी उसका दावा सकारण है। जब कभी राज्यपाल राज्य मंत्रिपरिषद् की अवहेलना करता हैतो इसी वजह से उस पर लोकतंत्र के दमन का आरोप लगाया जाता है। यह समस्या राज्यपाल की दो विशेषशक्तियों द्वारा जटिल बन जाती है :

(1) राज्य विधानमंडल द्वारा पारित हो जाने के बाद विधायकों को राष्ट्रपतिकी सहमति के लिए रोक रखने का अधिकार, और

(2) संवैधानिक तंत्र नष्ट होने संबंधी सरकारी बयान देनेका अधिकार।

राज्यपाल को क्या ये शक्तियाँ मंत्रिपरिषद् की सहायता व सलाह से प्रयोग करनी चाहिए? इसकाकोई स्पष्ट उत्तर नहीं है। बहरहाल, यह माना जा सकता है कि एक राज्यपाल राज्य में संवैधानिक ध्वंस कीरिपोर्ट अपनी मंत्रिपरिषद् द्वारा दिए जाने की कभी उम्मीद नहीं कर सकता/सकती, और उसको ऐसामंत्रिपरिषद् की सलाह के बग़ैर ही करना चाहिए। यदि राज्य–निर्मित कानून के विवादास्पद होने की उम्मीद होतो राज्यपाल मंत्रिपरिषद् को यह समझने का प्रयास कर सकता/सकती है कि उसे सलाह दे कि उक्त विधेयकको राष्ट्रपति की मंजूरी के लिए रोक रखे। राज्यपाल द्वारा इन दो शक्तियों के प्रयोग ने संघ–राज्य संबंधों मेंबड़ी कड़वाहट पैदा की है।

4.4.4 प्रशासकीय संबंध

सरकार अधिकांश रूप में अधिकारी–वर्ग द्वारा चलाई जाती है। भारत में तीन प्रकार के अधिकारी–वर्ग हैं :राज्यीय सेवाएं, केन्द्रीय सेवाएँ एवं अखिल–भारतीय सेवाएँ। जहाँ पहली दो सेवाएँ क्रमशः राज्यों व केन्द्र द्वारा भरीव नियंत्रित की जाती हैं अखिल–भारतीय सेवाएँ केन्द्र द्वारा ही भरी और काफ़ी हद तक नियंत्रित की जाती हैंयद्यपि अधिकारीगण राज्य संवर्ग से ही जुड़े रहते हैं। राज्य सरकारों में वरिष्ठ पद प्रायः हमेशा ही अखिलभारतीय–सेवाओं के सदस्यों द्वारा भरे जाते हैं, नामतः भारतीय प्रशासनिक सेवा और भारतीय पुलिस सेवा।

बहरहाल, अखिल–भारतीय सेवाओं के साथ केन्द्रीय सेवाओं के सदस्य भी संघ लोक सेवा आयोग द्वारा भर्ती किएजाते हैं जबकि राज्यीय सेवाओं के सदस्य हर राज्य में राज्य लोक सेवा आयोग के माध्यम से भर्ती किए जाते हैं।

दो विशेष प्रकार के अधिकारी–वर्ग हैं जिनका दर्जा संवैधानिक है : भारतीय महा लेखा–नियन्ता एवं परीक्षक तथाभारतीय चुनाव आयुक्त। इनकी नियुक्ति भारत के राष्ट्रपति द्वारा की जाती है। महा लेखा–नियन्ता एवं परीक्षकसंघ व राज्य दोनों ही सरकारों के लेखों की जाँच करता है। चुनाव आयोग केन्द्र व राज्य दोनों स्तरों परचुनावों की देखरेख करता है। इससे संघ का राज्यों में सरकारी लेखों तथा चुनाव प्रक्रियाओं पर कुछ नियंत्रणबना रहता है।

4.4.5 राज्यों का वित्तीय महत्त्व

मोटे तौर पर, राज्यों द्वारा उगाहे गए सभी कर व महसूल उनके कोष में जाते हैं और राज्यों द्वारा ही विनियोजितकर लिए जाते हैं। जैसा कि संघ सूची में उल्लेख है, इनमें औषधीय एवं प्रसाधन सामग्रियों पर ऐसे मुद्रांक शुल्कव ऐसे उत्पादन शुल्क शामिल हैं जो कि लगाए तो संघ द्वारा जाते हैं परन्तु संग्रह एवं विनियोजन उन राज्योंद्वारा ही किया जाता है जहाँ वे लगाये जाते हैं (अनुच्छेद 268)। संघ सूची में उल्लिखित मदों से संघ द्वारा उगाहेगए राजस्व एवं कर, तथापि, दो तरीकों से विनियोजित किए जाते हैं। माल के क्रय–विक्रय पर कर तथाअन्तर्राज्यीय प्रकृति के अखबार के अलावा अन्य सामान के परेषित माल पर कर संघ द्वारा लगाए व उगाहे जातेहैं परन्तु उन राज्यों को ही सौंप दिए जाते हैं जहाँ वे उगाहे अथवा, जब तक वित्त आयोग जाते हैं और संसदद्वारा लागू सिद्धांतों के अनुसार उन राज्यों के बीच ही वितरित कर दिए जाते हैं(अनुच्छेद 269)। संघ सूचीके तहत अन्य सभी कर व महसूल संघ द्वारा ही लगाये व उगाहे जाते हैं और वित्त आयोग गठित न हो, राष्ट्रपति द्वारा निर्धारित रीति अनुसार संघ व राज्यों के बीच बाँट दिए जाते हैं (अनुच्छेद 270)। समवर्ती सूची में, दो बातों का उल्लेख है; नामतः (1) अदालती मुहरों के माध्यम से उगाहे गए महसूलों अथवा शुल्कों के अलावा मुद्रांक शुल्क, और (2) समवर्ती सूची में दी गई वस्तुओं के विषय में शुल्क, परन्तु किसी भी अदालत में ली गई फ़ीस शामिल न करते हुए, जो संघ व राज्यों के समवर्ती क्षेत्राधिकार से संबंध रखते हों। उनकी प्राप्ति क्रमशः संघ व राज्यों द्वारा ही रख ली जाती है। संघ किसी भी सूची में अनुल्लिखित वस्तुओं सेकोई भी महसूल अथवा कर वसूल कर सकता है और उनके अर्थागम को अपने पास रख सकता है।एक लम्बे समय से वित्त आयोग सिफ़ारिश सरकारों के सिर्फ़ ग़ैर–योजना खर्च पर ही किया करता था। नौवाँवित्त आयोग आने के समय से वह योजना व्ययों पर भी सिफ़ारिशें करने लगा है।

4.4.6 संघ राज्य संबंधों में तनाव के क्षेत्र

यह देखा गया है कि संघ–राज्य विवाद मुख्य रूप से इन बातों से ताल्लुक रखते हैं :- उनके बीच वित्तसंसाधनों का बँटवारा, राज्यपाल की भूमिका, खासकर राज्य विधानमंडलों द्वारा विधानों को सहमति प्रदान करनेमें, मंत्रिपरिषद् की नियुक्ति एवं विसर्जन तथा 'संवैधानिक ध्वंस' के आधार पर राष्ट्रपति शासन की सिफ़ारिशें।इनमें से अधिकांश राजनीतिक प्रश्न हैं और, लम्बे समय से, सर्वोच्च न्यायालय ऐसे विवादों में हस्तक्षेप सेपीछे हटता रहा है। 1993 में, हालाँकि, एस.आर. बोम्मई व अन्य बनाम भारतीय संघ के मामले में सर्वोच्चन्यायालय ने फैसला दिया कि किसी राज्य में राष्ट्रपति शासन की सिफ़ारिश संबंधी राज्यपाल की रिपोर्ट में दीगई विषय–वस्तु की प्रासंगिकता न्यायिक जाँच का विषय बनता है। किसी भी मामले में राज्य विधायिका तब तकभंग नहीं की जा सकती जब तक कि संसद में बहस न हो और वह संवैधानिक ध्वंस की घोषणा न कर दे।

1998 में, उत्तर–प्रदेश के मामले में सर्वोच्च न्यायालय ने सरकार में नियुक्ति किए जाने के अधिकार का दावाकरती पार्टियों की शक्ति का मंच–परीक्षण किए जाने का आदेश दिया। एक लम्बे समय से राज्य अपने अपर्याप्त वित्त संसाधनों के विषय में शिकायत करते रहे हैं जिसने उन्हें संघ द्वारादी जाने वाली अनुदान–सहायता तथा उसके द्वारा अनुमोदित किए जाने वाले ऋणों पर अत्यधिक निर्भर बनादिया है। वर्ष 2000 में लागू 80वें संविधान संशोधन ने संघ कोषों से राज्यों को अधिक निधि उपलब्ध कराकेअसंतुलन कुछ कम करने का प्रयास किया। परन्तु वे सिद्धांत जिन पर वित्त आयोग राज्य–आबंटनों को वितरितकरता है, राज्यों को संतुष्ट नहीं कर पाये हैं। सम्पन्न राज्यों को यह शिकायत रहती है कि केन्द्रीय हस्तांतरणोंके अपने ज़ायज हिस्से से वे वंचित रहते हैं, जबकि विभिन्न राज्य यह शिकायत करते हैं कि उन्हें पर्याप्त नहींमिल रहा।

राज्यों के पास अब तक कोई असीमित अधिकार नहीं है कि वे बाजार से ऋण ले सकें। कोई राज्य भारत सरकारकी सहमति के बिना कोई कर्ज़ वसूल नहीं कर सकता यदि ऐसे ऋण का कोई अंश अब तक बकाया है जो भारतसरकार द्वारा अथवा उसकी पूर्वकालिक सरकार द्वारा राज्य को दिया गया हो, अथवा जिसके संबंध में भारतसरकार अथवा उसकी पूर्वकालिक सरकार द्वारा गारण्टी दी गई हो {अनुच्छेद 293 (4)}। संघ सरकार पर राज्यों की निर्भरता बहुत अधिक है। उत्तर–पूर्वी भारत के छोटे राज्य ग़ैर–योजना खर्च तक के लिए 90 प्रतिशतव उससे अधिक की हद तक संघ सरकार पर निर्भर हैं।

4.5 अन्तरराज्यीय संबंध

संविधान ने संघ के सदस्य राज्यों के बीच यदि मैत्रीपूर्ण सहकारी संबंध नहीं तो शांतिपूर्ण सहअस्तित्व वालेसंबंध की परिकल्पना अवश्य की। यदि संघ और किसी राज्य या राज्यों के किसी समूह, अथवा एक ओर संघव किसी राज्य या राज्यों के किसी समूह और दूसरी ओर एक या अधिक राज्यों के बीच, अथवा दो या अधिकराज्यों के बीच कोई विवाद खड़ा होता है तो निर्णयादेश हेतु अपने अधिकारक्षेत्र के अन्तर्गत सर्वोच्च न्यायालय का दरवाजा खटखटाया जा सकता है (अनुच्छेद 131)। तथापि न्यायिक प्रक्रिया के बाहर अन्तरराज्यीय विवादों के हल हेतु निर्धारित दो विशिष्ट कार्य प्रणालियाँ मौजूद हैं :

1) संसद कानूनन जलाशयों अथवा किसी अन्तरराज्यीय नदी या नदी घाटी के प्रयोग, वितरण या नियंत्रणके संबंध में किसी विवाद अथवा शिकायत संबंधी निर्णयादेश हेतु व्यवस्था दे सकती है (अनुच्छेद 262)।

2) यदि किसी भी समय राष्ट्रपति को यह लगता है कि :-

(अ) ऐसे विवादों की पूछताछ करने व उन परपरामर्श देने, जो राज्यों के बीच पैदा हुए हों;

(ब) उन विषयों की जाँच–पड़ताल व उन पर चर्चा करने,जिनमें सभी व कुछ राज्य, अथवा संघ व एक या अधिक राज्य एक सर्वमान्य हित रखते हों;

(स) किसीभी विषय पर सिफ़ारिशें करने, खासकर उस विषय के संबंध में जिससे नीति व कार्रवाई के बेहतरसमन्वय हेतु सिफ़ारिशें करने संबंधी दायित्वभारों वाली एक परिषद् की स्थापना द्वारा जनहित में मददमिलेगी :- राष्ट्रपति के लिए यह विधिसंगत होगा कि आदेश देकर इस प्रकार की परिषद् स्थापित करे, औरउसके द्वारा निष्पादित किए जाने वाले कर्त्तव्यों की प्रकृति तथा उसके संगठन व प्रक्रिया को परिभाषित करे(अनुच्छेद 263)।

अन्तरराज्यीय परिषद् ने संविधान के अनुच्छेद 356 के तहत किसी राज्य में संवैधानिक ध्वंस घोषित करने संबंधी संघ के अधिकार पर नियंत्रण रखने की वांछनीयता पर चर्चा की है और संविधान में संशोधन केमाध्यम से इस अधिकार पर प्रतिबंध की सिफ़ारिश की है।

संसद के पास अन्तरराज्यीय नदी–विवादों को निपटाने के लिए अदालतें ट्रिबुनाल बनाने का अधिकार है औरवह कानूनन इस विषय में किसी भी अदालत के क्षेत्राधिकार को वर्जित कर सकती है। विगत समय ऐसी अदालतेंपूरी तरह

सफल नहीं रही हैं क्योंकि उनके पास अपना फैसला लागू करने के लिए न्यायिक अधिकार नहीं होता।दूसरी ओर, नदी जल विवाद अधिनियम, 1956 के तहत, सर्वोच्च न्यायालय केन्द्र सरकार को निर्देश दे सकताहै कि वह अपना वैधानिक दायित्व पूरा करे।

अन्तरराज्यीय विवाद का सबसे कठिन विषय है ऐतिहासिक व सांस्कृतिक कारकों से पैदा होने वाले राज्यों के बीचसीमा–विवाद। मौके–बेमौके ऐसे विवादों ने हिंसा की ओर प्रवृत्त किया है, जैसे कर्नाटक व महाराष्ट्र के बीचविवाद। ऐसे विवाद को हल करने के लिए संवैधानिक कार्यप्रणाली संविधान के अनुच्छेद–3 द्वारा प्रदान की गईहै जो संबंधित राज्यों की दलीलों को सुनने के बाद ही राज्यों की सीमाओं को बदलने का अधिकार देता है। संसदऐसी दलीलों का सम्मान करने को बाध्य नहीं है, परन्तु उनका अनादर राजनीतिक रूप से विपत्तिकारक होसकता है।

विकास योजना के संबंध में केन्द्र–राज्य व अन्तरराज्यीय समन्वय लाने के लिए एक तीसरी कार्यप्रणाली संसदके एक अधिनियम द्वारा लागू की गई :- राष्ट्रीय विकास परिषद् जिसमें भारतीय योजना आयोग द्वारा विकासयोजनाएँ बनाये जाने के बाद उन्हें अंतिम रूप देने के लिए राज्य के मुख्यमंत्री एवं केन्द्रीय कैबिनेट मंत्रीशामिल थे।

4.6 राजनीति और राज्याधिकार

राज्यों की काफ़ी कुछ स्वायत्तता, केन्द्र के साथ–साथ एक–दूसरे के भी खिलाफ उनके अधिकार, राजनीति परनिर्भर है। केन्द्र सरकार किसी खास दृष्टिकोण को अपनाने के लिए राज्य सरकारों को मना सकती है यदि दोनोंही सरकारें एक ही पार्टी के नियंत्रण के अन्तर्गत हों। 1956 का व्यापक राज्य पुनर्गठन, 1960 में गुजरात और महाराष्ट्र का विभाजन, 1966 में पंजाब का विभाजन और 1971 में उत्तर–पूर्वी भारत का पुनर्गठन आदि इसलिए संभव हुए अनुकूल समय पर केन्द्र में और संबद्ध राज्यों में कांग्रेस पार्टी सत्ता में थी।

जब केन्द्र में व राज्यों में भिन्न–भिन्न पार्टियाँ होती हैं तो वैचारिक एवं राजनैतिक संघर्ष अक्सर केन्द्र व राज्यों के साथ–साथ विभिन्न राज्यों के बीच भी तनाव पैदा कर देता है। 1959 के समय से अनेक राज्य सरकारें अधिकारच्युत की जा चुकी हैं, खासकर इसलिए कि वे उस पार्टी से भिन्न पार्टियों द्वारा चलाई जा रही थीं, जिसकी केन्द्र में सरकार थी। सबसे बुरे मामले 1977में आये जब केन्द्र में जनता पार्टी सरकार ने कांग्रेस पार्टीद्वारा चलायी जा रही कम से कम आठ राज्य सरकारें भंग कर दीं। 1980 में, दूसरी ओर, कांग्रेस–शासित केन्द्र ने जनता पार्टी द्वारा चलाई जाने वाली उतनी ही राज्य सरकारों को सत्ता से अलग कर दिया। उसके बाद, हालाँकि, इस प्रकार के अधिस्थापनों की प्रायिकता कम हो गयी और, 1993 में, इस प्रथा पर भारतीय सर्वोच्च न्यायालय के बोम्मई केस फैसले द्वारा कड़ा प्रतिबंध लग गया।1989 में एक–दलीय आधिपत्य (कांग्रेस पार्टी का) निर्णायक रूप से समाप्त हो गया। 1991–96 की अवधि कोछोड़कर, केन्द्र सरकार गठबंधनों द्वारा चलाई जाने लगी जिनमें क्षेत्रीय पार्टियों ने अहम् भूमिका निभाई।

परिणामस्वरूप, राज्यीय मामलों में केन्द्र का हस्तक्षेप भी पर्याप्त रूप से कम हो गया। राज्यों की दो मुख्यशिकायतें, बहरहाल अभी कायम हैं :

(1) केन्द्र पर आरोप है कि राज्यों में राज्यपाल के पदों पर पार्टी के आदमीबैठाता है ताकि वह अपनी निजी राजनीतिक कार्यावाहियों को पूरा कर सके; और

(2) केन्द्र पार्टी को महत्त्वदेते हुए वित्तीय समर्थन के संबंध में कुछ राज्यों से भेदभाव करता है और कुछ का पक्ष लेता है।

4.7 सार–संक्षेप

भारत का संविधान राज्यों और राज्यों व संघ के बीच ताल्लुकातों के बीच संबंध में पर्याप्त प्रावधान रखता है।विभिन्न संघीय इकाइयों में राज्यों का गठन उन्हें विशिष्ट राजनीतिक पहचान प्रदान करता है। राज्य को मिलीमान्यता ने राज्य को पृथक् पहचानों का रूप दे दिया है, उनके पुनर्गठन का मुद्दा अभी जीवित ही है। राज्योंव संघ के बीच शक्ति के स्पष्ट बँटवारे के बावजूद संवैधानिक योजना में राज्यों की व्यवस्था केन्द्र के पक्ष मेंही झुकी हुई है। आर्थिक विषमताएँ, सांस्कृतिक भिन्नताएँ व राजनीतिक कारक राज्यों और राज्यों व संघ के बीचसंबंधों के विषय को अक्षुण्ण रखते हैं।

4.8 अभ्यास

1) संविधान ने शक्ति के विधायी विभाजन के संबंध में भारतीय संघ के ताने–बाने में राज्यों की स्वायत्तता कीकिस हद तक परिकल्पना की?
2) भारत में राज्यों पर संघ के कार्यकारी नियंत्रण की क्या सीमा है?
3) संघ–राज्य संबंध में राज्यपाल की भूमिका का अवलोकन करें।
4) भारतीय संघ में राज्यों की वित्तीय स्थिति का अवलोकन करें।
5) संघ–राज्य संबंधों में तनाव के क्षेत्रों पर सूक्ष्म दृष्टि डालें।
6) भारत के संविधान में किस प्रकार के अन्तरराज्यीय विवादों की परिकल्पना की गई है? ऐसे विवादों के हलके लिए निर्धारित कार्यप्रणालियाँ क्या हैं?

अध्याय 5
राज्य प्रणाली का विकास

अध्याय की रूपरेखा

5.1 प्रस्तावना

5.2 भारतीय संघवाद की शक्तिमानता

5.2.1 ब्रिटिश भारत का समामेलन तथा प्रादेशिक विन्यास

5.2.2 ब्रिटिश साम्राज्य की आकारहीनता

5.2.3 सरकार का केन्द्रीकरण

5.3 उपनिवेशोत्त अनुभव

5.3.1 क्लासिकल मार्क्सवादी दृष्टिकोण

5.3.2 नव–मार्क्सवादी दृष्टिकोण

5.3.3 स्वतंत्र भारत में भाषावाद का उदय

5.3.4 नृजातीय राज्य

5.3.4 राज्यीयता की माँग के कारण

5.4 राज्यीयता और सत्ता

5.4.1 राज्यीयता की क्षैतिज समस्याएँ

5.4.2 संघ–राज्य संबंध

5.4.3 संविधान संशोधन

5.5 सार–संक्षेप

5.6 अभ्यास

5.1 प्रस्तावना

स्वतंत्र भारत में राज्य प्रणाली एक स्थूल रूप से संघीय ढाँचे में उद्‌गमित हुई। यह सत्य है कि 'सघीय' (Federal)शब्द भारतीय संविधान में कहीं नजर नहीं आता। वास्तव में विश्व के बहुत थोड़े ही संघीय संविधान इस शब्द को स्पष्ट रूप से प्रयोग करते है। संयुक्त राज्य अमेरिका को प्राचीनतम एवं एक उच्च कोटि का संघीय संविधान माना जाता है। वह भी इस शब्द का प्रयोग नहीं करता। संयुक्त राज्य अमेरिका (यू.एस.ए.) एक 'राज्य–संघ' है। ऐसा ही भारत है (भारतीय संविधान के अनुच्छेद–1के अनुसार)। दोनों ही देश एक संघीय ढाँचे में संघटित है। इसका मतलब, अनिवार्यतः, यह है कि दोनोंही देशों में, साथ ही साथ सभी संघों में, सरकार के दो स्तर होते हैं; दूसरे, सत्ता इन दोनों के बीच एक लिखित संविधान द्वारा बँटी होती है; और तीसरे, उस सत्ता विभाजन पर नजर रखने के लिए एक स्वतंत्र विधायिका होती है।

5.2 भारतीय संघवाद की शक्तिमानता

भारतीय संविधान विषयक पाठ्य–पुस्तकें आमतौर पर भारतीय संविधान एवं भारत सरकार अधिनियम, 1935 के बीच एक संबंध स्थापित करने का प्रयास करती हैं। यह, बहरहाल, गलत होगा कि आज की भारतीय संघीय व्यवस्था को 1935 अधिनियम की प्रतिकृति के रूप में देखा जाए। भारत सरकार अधिनियम, 1935 गवर्नर–जनरल के माध्यम से ब्रिटिश संप्रभुओं से सत्ता–हस्तांतरण के सिद्धांत पर आधारित था। प्रांतीय स्वायत्तता जो अधिनियम द्वारा अनुमोदित की गई थी कड़ी सख्ती के दायरे में थी। यह निःशंक रूप से, विदेशी प्रभुसत्ता में निहित संप्रभुता के साथ ब्रिटिश साम्राज्य के भीतर एक प्रशासन–व्यवस्था के रूप में आया था। वर्तमान भारतीय संविधान में संप्रभुता निश्चित रूप से भारतीय जनता में निहित हे। दरअसल, प्रमुख भारतीय राजनीतिक दल, भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस ने केवल लगभग तीन वर्ष तक इस अधिनियम के तहत काम किया, और वह भी सिर्फ प्रांतीय स्तर पर।

वर्तमान भारतीय संघ का दूसरा महत्त्वपूर्ण अभिलक्षण यह है कि इसकी संघटक इकाइयों का आकार बदलता रहा है। यह, बहरहाल, भारतीय संविधान के लिए कोई अनोखी घटना नहीं है। यद्यपि, 1863 में, अमेरिकी राष्ट्रपति अब्राहम

लिंकन ने घोषित किया कि संयुक्त राज्य 'अक्षय्य संघ है ; उस देश के राज्यों का आकार 1860 के दशक के गृह–युद्ध तक निरंतर बदलता रहा। वही प्रक्रिया भारत में चल रही है। जैसा कि हमने इकाई 4 में पढ़ा, भारतीय संविधान के अनुच्छेद–3 के तहत संसद को अधिकार है कि किसी राज्य के आकार को परिवर्तित करे, काटकर अलग कर दे अथवा उसे दूसरे राज्य के साथ मिला दे, परन्तू सिर्फ सम्बद्ध राज्य की विधायिकाओं के दृष्टिकोण को जानने के बाद ही। वास्तव में, संसद ऐसे प्रयोजनों से बँधी नहीं है।

अमेरिका के राज्यों का आकार लगभग एक शताब्दी तक क्यों बदलता रहा, इसका मुख्य कारण था इस अवधि के दौरान अमेरिका के मूल निवासियों से राज्यक्षेत्रों का समामेलन। भारत में एक कुछ–कुछ ऐसी ही प्रक्रिया ने देश के साथ–साथ उसकी प्रशासक–इकाइयों के क्षेत्रीय आकार में भी परिर्वतन पैदा किया। मोटे तौर पर, यह प्रक्रिया ब्रिटिश औपनिवेशिक शासन का ही परिणाम थी।

5.3 ब्रिटिश भारत का समामेलन तथा प्रादेशिक विन्यास

यह गौर तलब है कि भारत पर ब्रिटिश संप्रभुता तकनीकी रूप से तब तक स्थापित नहीं हुई जब तक कि मुगल बादशाह बहादुरशाह ज़फर का सिंहासन छिन जाने के बाद ब्रिटिश ईस्ट इण्डिया कंपनी के प्रादेशिक अधिकृत क्षेत्रों को अधिकार में ले लेने संबंधी ब्रिटेन की महारानी विक्टोरिया की 1858 वाली उद्घोषना नहीं हो गई। उस वक्त तक अंग्रेज भारतीय राज्यक्षेत्र के हिस्सों पर दिल्ली के शासक के अधिकार के तरह राज करते थे। तथापि, ऐसे राज्यक्षेत्र का प्रशासन पूरी तरह से दिल्ली के प्राधिकार का स्वायत्त था।

1765 तक भारत में अंग्रेजों की मौजूदगी खासकर इजारों और जमींदारों के माध्यम से ही रही। 1661 में अंग्रेजों का मुम्बई पर कब्जा हो गया जो उन्हें इण्लैड के राजा चार्ल्स द्वितीय को पुर्तगाली रायल्टी से दहेज रूप में मिला था। 1765 में ईस्ट इण्डिया कंपनी को बादशाह आलम से बंगाल सूबे की दीवानी मिल गयी। टीपु सुल्तान के पतन के पश्चात् मद्रास व पड़ोसी राज्य कब्जे में कर लिए गए। 1803 के तृतीय आंग्ल–मराठा युद्ध पश्चात् वे आगरा के जिलों व दिल्ली प्रवेश पर राज करने लगे। 1836 में अवध के नवाब से बनारस क्षेत्र ले लिया गया जो कि उत्तर–पश्चिमी प्रान्तों का निर्माण करने के लिए दिल्ली व आगरा के जीते हुए जिलों व प्रदेश के साथ मिला लिया गया। 1856 में स्वयं अवध पर कब्जा कर उसे बंगाल में मिला लिया गया। 1856 में ही इसका गठन मुख्य–कमिश्नर प्रांत के रूप में कर लिया गया। 1858 में दिल्ली पंजाब को हस्तांतरित कर दी गई। 1877 में अवध का विलय उत्तर–पश्चिमी प्रान्तों के साथ कर दिया गया। 1912 में दिल्ली को राजकीय राजधानी एवं एक मुख्य–आयुक्त प्रांत के रूप में पंजाब से अलग कर लिया गया।

1826 में प्रथम आंग्ल–बमाई युद्ध के बाद असम पर कब्जा कर लिया गया। सिंध 1842 में जीत लिया गया और पंजाब के सीमाक्षेत्र 1859 में। इसी बीच, 1853 में, हैदराबाद के बरार कब्जे में ले लिया गया, परन्तु 1857 में निजाम की सेवाओं के बदले में उसे लौटा दिया गया। 1861 में नागपुर के समाप्त भोंसले(मराठा) राज्य और उत्तर–पश्चिमी जिले से हस्तांतरित क्षेत्रों को मिलाकर केन्द्रीय प्रान्त का गठन हुआ। 1903 में निज़ाम से फिर बरार छोड़ने को कहा गया और उसे केन्द्रीय प्रान्तों के मुख्य–कमिश्नर प्रांत के साथ मिला लिया गया जो कि 1861 में अधिकांशतः मराठा शासकों से लेकर मिलाए गए क्षेत्रों से बनाया गया था। 1856 में कब्जे में लिया गया अवध सबसे अंतिम समामेलन था। 1858 में रानी विक्टोरिया ने वायदा किया कि भारतीय राजाओं के अब और अधिक क्षेत्र कब्जे में नहीं लिए जाएँगे। 1886 में, हालांकि, बर्मा को अफ़गानिस्तान सीमाक्षेत्र के हिस्से के रूप में कब्जे में ले लिया गया।

इसी के साथ अंग्रेजों का ध्यान भारतीय मुख्यभूमि की सरहदों पर गया। अठारहवीं शताब्दी में उन्होंने हॉलैण्डदेशियों से छीनकर अंडमान व निकोबार द्वीपसमूह पर कब्जा कर लिया और, 1872 में उनका गठन एक मुख्य कमिश्नरशिप के रूप में किया गया, 1886 तक बर्मा (अब म्यांमार) कब्जे में ले लिया गया। 1897 में, द्वितीय आंग्ल–अफगान युद्ध के बाद, अफगानिस्तान से छीनकर राज्यक्षेत्र अपने में मिला लिए गए और एक मुख्य–कमिश्नर प्रांत के अधीन उत्तर–पश्चिम प्रान्त एवं अवध का नाम बदल कर आगरा एवं अवध संयुक्त प्रांत (United Provinces of Agra and Oudh)कर दिया गया। सिखों से कश्मीर (जम्मू समेत) क्षेत्र को कब्जे में लेकर, तथापि, अंग्रेजों ने उसे गुलाब सिंह को बेच दिया और वह एक राजसी राज्य बन गया।

5.2.2 ब्रिटिश साम्राज्य की आकारहीनता

हॉलैंडदेशियों से सीलोन (आज का श्रीलंका) को जीतकर अंग्रेजों ने 1803 तक उस पर मद्रास सूबे के एक हिस्से के रूप में शासन किया। उन्होंने बर्मा पर ब्रिटिश भारत के हिस्से के रूप में 31 मार्च 1937 तक राज किया, जिसके बाद वह एक अलग ताज उपनिवेश (Crown Colony)बन गया। यहाँ तक कि एडेन का सुदूर अरब पोतयुक्त नगर भी 1831 में अपने में मिलाकर बम्बई सूबे का एक हिस्सा और 1932 में ब्रिटिश भारत ने एक मुख्य–कमिश्नर प्रांत बना दिया गया, जो कि 1935 में एक ताज उपनिवेश के रूप में अलग की दिया गया। 1947 में अंग्रेजों ने ब्रिटिश भारत की उत्तर–पश्चिमी, और

उत्तर–पूर्वी सरहदों को छोड़कर शेष भारत को उन 566 राजसी राज्य व दो –जनजातीय क्षेत्र' वसीयत में देकर भारत और पाकिस्तान में विभाजित कर दिया जो दोनों में से किसी भी देश में शामिल होने के लिए स्वतंत्र थे। 554 राजसी राज्य और उत्तर–पूर्व में एक जनजाति क्षेत्र स्वतंत्र भारत का हिस्सा बन गए। तदोपरांत इस उप–महाद्वीप में छोटे फ्रांसीसी व पुर्तगाली उपनिवेश अधिकृत क्षेत्र भारत में शामिल हुए। 1974 में सिक्किम, ब्रिटिश काल से ही एक अधीन राष्ट्र, भारत में शामिल हो गया।

ब्रिटिश भारत की बाहरी सीमाएँ कभी भी स्पष्टतः सीमांकित नहीं रही। 1902 में अंग्रेजों ने उनके बीच पड़ने वाले जनजातीय क्षेत्र को विभक्त करती अफगानिस्तान के साथ लगी डूरंड लाइन (Durand Line)को लागू कर दिया। अफगास्तिान ने इस सीमा की वैधता को कभी स्वीकार नहीं किया। 1914 में उन्होंने तिब्बत से लगती उत्तरी–पूर्वी सीमाओं पर मैकमोहन लाइन(Macmahon Line)खींच दी, जो चीन ने कभी नहीं मानी, जबकि उत्तरी सीमा के पश्चिमी भाग को कभी परिभाषित नहीं छोड़ा गया। (स्वतंत्रता मिलने के बाद पाकिस्तान डूरंड लाइन पर अफगानिस्तान के साथ समस्या झेल रहा है औ मैकमोहन लाइन पर भारत चीन के साथ) इन समीक्षेत्रों में से कुछ पर अंग्रेजों का शासन कभी नहीं रहा।

5.2.3 सरकार का केन्द्रीकरण

भारत में ब्रिटिश अधिकृत क्षेत्रों का प्रशासन पहले सूबों (Presidencies)के रूप में चलाया जाता था– इंग्लैण्ड की ईस्ट इण्डिया कम्पनी के नियंत्रण बोर्ड के अध्यक्ष (President)की ज़ायदाद – बंगाल, बम्बई और मद्रास। यद्यपि मद्रास इन सूबों में सबसे पुराना था, बंगाल सबसे बड़ा था – जिसमें आते थे संयुक्त बंगाल (यथा, वर्तमान बंगलादेश), बिहार और उड़ीसा। इन सूबों पर शासनाधिकार तीन गवर्नरों के सुपुर्द होता था। 1773 के रेग्युलेटिंग एक्ट ने बंगाल के गवर्नर को ब्रिटिश भारत का गवर्नर–जनरल घोषित किया। 1833 के चार्टर एक्ट द्वारा बम्बई और मद्रास के गवर्नरों का असैनिक और सैनिक प्राधिकार गवर्नर–जनरल को सौंप दिया गया। विधायी शक्तियाँ 1861 के इण्डियन कौन्सिल एक्ट द्वारा बम्बई व मद्रास के गवर्नरों को लौटा दी गई। तथापि, 1893 में बम्बई और मद्रास में पृथक्–पृथक् सैन्य कमाने समाप्त कर दी गई। इसी बीच, 1853 में गवर्नर–जनरल के बंगाल के सीधे प्रशासन को अलग कर बंगाल के लिए एक लेउिटनेंट–गवर्नर या छोटा लाट नियुक्त कर दिया गया।

19वीं सदी के मोड़ पर लॉर्ड कर्जन ने गवर्नर–जनरल के हाथों में काफी शक्ति दे दी। तथापि, 1909 में मॉर्ले–मिण्टो सुधारों का सूत्रपात एक विकेन्द्रीकरण करती प्रवृत्ति के रूप में हुआ जो कि 1912 में विकेन्द्रीकरण आयोग (Decentralisation Commission)की रिपोर्ट से पक्का हो गया। मॉण्टैग्यु–चैम्सफोर्ड रिपोर्ट ने विकेन्द्रीकरण को और आगे बढ़ाया और प्रांतों में द्वितंत्र के रूप में जिम्मेदार सरकार की राशि लागू कर दी। प्रांतीय स्वायत्तता औपचारिक रूप से भारत सरकार अधिनियम, 1935 द्वारा लागू की गई। परन्तु इसमें अनेक खामियाँ थी।

अंग्रेज ब्रिटिश भारत का प्रशासन गवर्नर–जनरल के अधीन तीन प्रकार के प्राधिकरणों की मदद से चलाते थे। गवर्नर–जनरल के अधिकाराधीन काम करने वाले मुख्य प्रांतों के लिए ब्रिटिश ताज द्वारा नियुक्त गवर्नर होते थे। गवर्नर–जनरल द्वारा नियुक्त लेगिटनेंट–गवर्नर भी होते थे। परन्तु वे प्रयोज्य अधिकार लगभग गवर्नरों के समान ही रखते थे और पिछड़े व विशेष क्षेत्रों के लिए मुख्य कमिश्नर जो नियुक्त तो गवर्नर–जनरल द्वारा होते थे परन्तु उन्हें राजकर्मचारियों से अधिक शायद ही समझा जाता था। ब्रिटिश भारत के पिछड़े क्षेत्र उन प्रतिनिधि विधायी निकायों के अधिकारक्षेत्र से बाहर रखे गए थे जो 1919 व 1935 में बनाए गए थे। ऐसे प्रदेशों में प्रशासन दुर्बल था। राजसी राज्यों व जनजातीय क्षेत्रों के लिए गवर्नर–जनरल राजनैतिक अभिकर्त्ता (Political Agents)नियुक्त करता था जो प्रत्यक्ष प्रशासनिक अधिकार रहित होते थे।

5.3 उपनिवेशोत्तर अनुभव

5.3.1 स्वतंत्र भारत में संवैधानिक विन्यास

एक युक्तियुक्त ढाँचे के भीतर इस ढीले प्रशासनिक–राजनैतिक दृष्टिकोण को संघटित करने की जिम्मेदारी भारतीय संविधान सभा पर आन पड़ी। तात्कालिक कार्य था राजसी राज्यों का एकीकरण। संविधान सभी ने चार प्रकार के राज्य बनाये– प्रांतों व राजसी राज्यों के स्थान पर ब्रिटिश काल के मुख्य प्रांत जो कि भारत में परिपूर्णता में छोड़े गए थे (बिहार, बम्बई, सैण्ट्रल प्रोविन्सिज तथा बरार, मद्रास, उड़ीसा, व यूनाइटिड प्रोविन्सिज, उत्तर प्रदेश के रूप में पुर्ननामित) अथवा हिस्सों में (असम, पूर्वी पंजाब व पश्चिम बंगाल) का नाम, कुछ पूर्व राजसी राज्यों का पंजाब में विलय करते हुए, अब पार्ट–ए राज्य (Part A States)रख दिया गया। भारत में शामिल होने वाले मुख्य राजसी राज्यों को पार्ट–बी राज्यों (Part B States)के रूप में अंगीभूत किया गया। भारत में शामिल होने वाले छोटे राज्यों का विलय कर लिया गया और कुछ पुराने मुख्य–कमिश्नर प्रांतों को लेकर पार्ट–सी राज्यों (Part C States)का गठन किया गया। अत्यधिक पिछड़े अण्डमान व निकोबार द्वीपसमूहों का एक पार्ट–डी राज्य (Part D States)के रूप में गठन किया गया। पार्ट–ए के कार्यकारी

प्रमुखों को 'गवर्नर' नाम दिया गया। पार्ट–बी राज्यों के कार्यकारी प्रमुख 'राज प्रमुख' कहलाये। विधानमंडलों व मंत्रीपरिषदों को लेकर इनका शासन कार्य भी पार्ट–ए राज्यों की ही भाँति होना था। पार्ट–सी राज्य का कार्यकारी प्रमुख या तो कोई प्रमुख कमिश्नर होता था या फिर कोई लेउिटनेंट–गवर्नर। ऐसे राज्यों में विधानमंडलों और मंत्री/सलाहकार परिषदों का गठन संसद किया करती थी। अण्डमान व निकोबार वाले पार्ट–डी राज्य एक मुख्य कमिश्नर के माध्यम से भारत के राष्ट्रपति द्वारा शासित हुआ करते थे।

संविधान की अनुसूचियों V के VI के तहत पिछड़े प्रदेशों के लिए विशेष प्रशासनिक प्रबंध किए गए। अब तक गैर–प्रशासित नागा जनजातीय क्षेत्र व उत्तर–पूर्वी सीमांत प्रदेश पार्ट–बी जनजातीय क्षेत्र के रूप में छठी अनुसूची में रखे गए जो कि असम के गवर्नर के माध्यम से, उनके एजेन्ट के रूप में, सीधे प्रशासित होते थे। पार्ट–ए जनजातीय क्षेत्र के पास स्वायत्त जिला परिषदें थी जबकि पाँचवी अनुसूची के तहत अनसूचित क्षेत्रों को जनजातीय हितों की रक्षा के लिए विशेष प्रावधान दिए गए थे। जबकि छठी अनुसूची असम तक ही सीमित थी, पाँचवी अनुसूची खासकर केन्द्रीय भारतीय राज्यों पर विस्तारित थी।

5.3.2 भारत में भाषावाद का उदय

अंग्रेजों की कब्जे में कर लेने वाली इस लम्बी चली प्रक्रिया के परिणामों में एक था भारतीय साम्राज्य की सीमाक्षेत्रीय इकाइयों को निरंतर पुनर्गठित किए जाने की आवश्यकता। मुख्य–कमिश्नर प्रांतों में अनेक नए अधिग्रहण स्थापित किए गए और सीमाएँ मुख्य–कमिश्नर, प्रांतों के बीच अथवा मुख्य–कमिश्नर प्रांतों व गवर्नर/लेगिटनेंट–गवर्नर प्रांतों के बीच हस्तांतरित कर दी गई। इन प्रशासनिक सीमाओं ने 1904 तक पारम्परिक सांस्कृतिक सीमाओं के लिए किसी बात की परवाह नहीं की।

1904 में लार्ड कर्जन ने निष्कर्ष निकाला कि बंगाल प्रांत का आकार अत्यधिक विशाल है। उसने, इसीलिए, उसे विभाजित करने का फैसला कर लिया। विभाजन हेतु मापदण्ड रखा गया भारतीय जनता का धार्मिक विभाजन। 1905 में उसने पूर्वी बंगाल व असम का एक मुस्लिम–बहुल प्रांत बना दिया और पश्चिम बंगाल का एक गैर–मुस्लिम बहुल प्रांत। इसने बांग्ला–भाषी जनता को बीचों–बीच चीर डाला और एक सशक्त विभाजन–विरोधी आन्दोलन को जन्म दिया – जो वास्तव में भारतीय राष्ट्रीय आन्दोलन को एक नई ऊँचाई तक ले गया। 1912 में यह विभाजन रद्द कर दिया गया परन्तु बिहार और उड़ीसा का एक संयुक्त प्रांत पूर्व बंगाल से काट निकाला गया। राजकीय राजधानी कलकत्ता से दिल्ली ले आयी गई।

1936 में बिहार और उड़ीसा दो विभिन्न प्रांतों के रूप में बँट गए और एक नया सिंध प्रांत बम्बई प्रांत में से काट कर अलग कर दिया गया जो कि मोटे तौर पर धर्म के धार्मिक–सांप्रदायिक संयोजन के विचार से और आंशिक तौर पर बम्बई प्रांत के साथ उसके सामीप्याभाव के कारण था। 1937 में उत्तर–पश्चिमी सीमान्त प्रांत को एक व्यवस्थापिका सभी प्रदान कर दी गई।

इसी बीच, बंगाल में विभाजन–विरोधी आन्दोलन ने देश के अन्य भागों में, जैसे मद्रास प्रांत का आंध्र क्षेत्र और उड़ीसा, भाषामूलक अभिलाषाएँ मन में भर दीं। 1920 के कांग्रेस संविधान ने पार्टी इकाइयों को भाषा के आधार पर ही संगठित किया और, 1930 में, कांग्रेस के मद्रास अधिवेशन ने भाषाई प्रांतों हेतु मांग को स्वीकार कर लिया। सिंध निर्माण को मौन स्वीकृति प्रदान करते हुए सर्व–दलीय सम्मेलन (1928) ने यह कबूल किया कि सिंधी एक भिन्न भाषा है।

5.3.3 भाषा तथा राज्य सीमाएँ

ब्रिटिश भारत के विभाजन के सदमे ने, तथापि, संविधान सभा को तत्काल भाषाई राज्य प्रदान करने का अनिच्छुक बना दिया और पूर्व–ब्रिटिश प्रांतों की विभाजनोपरांत सीमाएँ बरकरार रखी गई। 1953 में आंध्र आन्दोलन एक गाँधीवादी नेता पोट्टी श्रीरामालू की अनशन–मृत्यु में परिणत हो फट पड़ा। आंध्र राज्य उसी वर्ष बनाया गया। इसके बाद 1955 में एक राज्य पुनर्संगठन आयोग (एस.आर.सी) नियुक्त किया गया। एस.आर.सी. ने चार प्रकार के राज्यों को दो श्रेणियों में बदलने की सिफारिश की – राज्य (States)एवं संघ राज्यक्षेत्र (Union territories), तथा तत्कालीन पार्ट–बी राज्य हैदराबाद एवं आंध्र का विलय। ये दोनो सिफारिशें मान ली गई। केरल (पूर्व नाम त्रैवानकोर–कोचीन), मध्य प्रदेश व मैसूर का हित चाहते हुए सीमाक्षेत्रीय समायोजन किए गए। केरल व मैसूर को पदोन्नत कर राज्यों का दर्जा दे दिया गया जैसे कि राजस्थान (1952 में बनाया गया पूर्व–राजसी राज्यों का एक समूह) व जम्मू–कश्मीर थे। पड़ोसी राज्यों के बीच अन्य सीमा समायोजन किए गए।

भाषाई राज्यों हेतु माँग 1956 में ही पूरी हो गई। 1960 में बम्बई में हुए आन्दोलनों ने महाराष्ट्र व गुजरात के बीच उसके बँटवारे की ओर प्रवृत्त किया और 1966 में पंजाब व हरियाणा के रूप में पंजाब के बँटवारे की ओर, जबकि उसके राज्यक्षेत्र का एक हिस्सा हिमाचल प्रदेश में चला गया। सीमाक्षेत्रीय समंजन चलते रहे और अभी समाप्त नहीं हुए है।

5.3.4 नृजातीय राज्य

1963 में नागालैण्ड के निर्माण के साथ ही जिनका उदय हुआ उन्हें एक 'नृजीय राज्यों' की संज्ञा दी जा सकती है। नागा लोग लगभग 25 भाषाएँ बोलते हैं। 1970 में संयुक्त खासी–जैन्तिया हिल्स व गारो हिल्स के स्वायत्त जनजातीय जिलों को लेकर एक 'स्वायत्त राज्य' मेघालय का निर्माण किया गया। 1972 में, उत्तर–पूर्वी क्षेत्र पुनस्संगठन अधिनियम, 1971 के माध्यम से, मेघालय को उसके साथ कुछ गैर–जनजातीय क्षेत्रों को शामिलकर एक पूर्ण राज्य का दर्जा दे दिया गया। पूर्व–संघ राज्यक्षेत्र मणिपुर व त्रिपुरा को भी पदोन्नत कर पूर्ण राज्यों का दर्जा दे दिया गया जबकि नए संघ राज्यक्षेत्र बनाने के लिए असम में से दो संघ राज्यक्षेत्र काट निकाले गए (1) पूर्व केन्द्रशासित उत्तर–पूर्व सीमान्त प्रदेश, अरुणाचल प्रदेश नाम देकर और (2) मिजो हिल्स जिला, मिजोरम नाम देकर। 1986 में मिजोरम और अरुणाचल प्रदेश पूर्ण राज्य बन गए। 1987 में गोवा को भी यह दर्जा मिल गया।

वर्ष 2001 में तीन नए राज्य बनाए गए : छत्तीसगढ़, मध्य प्रदेश को काटकर; झारखण्ड, बिहार को काटकर; और उत्तराचंल, उत्तर प्रदेश को काटकर। जबकि प्रथम दो एक जनजातीय आधार रखते है, आबादी का वर्तमान बहुमत प्रधान रूप से गैर–जनजातीय है। उत्तरांचल में वस्तुतः कोई जनजातीय विद्यमानता नहीं है। इस राज्यों को सटीक रूप से पहाड़ी राज्य कहना ठीक होगा। राज्यीयता हेतु क्षेत्रीय, न जातीय व भाषाई माँगें भारत के विभिन्न हिस्सों में अब भी सर उठाये हैं।

5.3.5 राज्यीयता की माँग के कारण

स्वतंत्रता के बाद राज्यीयता संबंधी ऐसे प्रचुरोद्भवों के लिए क्या संभावित कारण हो सकता है कारण है विधायी सत्ता द्वारा महज प्रशासनिक आधार पर औपनिवेशिक काल के दौरान बनाई गई सीमाक्षेत्रीय व्यवस्था में संशोधन हेतु अभिलाषा। भारत में उस तरह की कोई केन्द्रीकृत सरकार कभी नही रही जैसे कि अंग्रेजों ने पहले बनायी थी। वस्तुतः भारत ब्रिटिश सत्ता के आगमन तक राज्यक्षेत्रीय न्याय–शासन की संकल्पना से वाफिक तक नहीं था। पूर्व–ब्रिटिश राजनीतिक सीमाएँ अनिवार्यतः नृजातीय–सांस्कृतिक संबंधों पर आधारित थी। अंग्रेजों के चले जाने के बाद इस प्रकार के नृजातीय–सांस्कृतिक संबंध स्वयं का राष्ट्रीयताओं के रूप में फिर से दावा करने की फिराक में है।

अंग्रेजों के प्रस्थान से निकटता से जुड़ा है भारत में लोकतंत्र का धमाका। एक ही झटके में भारत में सार्वभौम वयस्क मताधिकार चालू हो गया, सिर्फ दो अपवादों – अण्डमान व निकोबार द्वीपसमूह तथा असम के उत्तर–पूर्व सीमांत प्रदेशों को छोड़कर (1971 में अण्डमान व निकोबार द्वीपसमूह, तथा 1977 में उक्त सीमान्त प्रदेश एक संघ राज्यक्षेत्र बन चुके है और लोग वोटर बन गए है)। इसने स्वशासन हेतु लोकतांत्रिक आकांक्षाओं को उन्मुक्त किया।

संविधान के माध्यम से लोकतांत्रीकरण की प्रक्रिया का भूमि–सुधार की प्रक्रिया से वर्धन किया गया जिसने कि परम्परागत रूप से प्रबल बड़े ज़मीदारों को यदि पूरी तरह समाप्त नही तो अत्यन्त कमजोर अवश्य किया तथा मध्यम व छोटे भूधारकों को आर्थिक शक्ति प्रदान की। कृषि व भूमि चूँकि एक राज्य का विषय है, इस नए वर्ग ने लाभ दिलाने के लिए राज्यों का मुँह ताका और उसका नियत्रंण अपने हाथ में लेने का प्रयास किया हरितक्रान्ति की प्रक्रिया ने इस वर्ग के बीच समृद्धि की एक लहर जगा दी जिसने राज्यो में उनकी पकड़ को मजबूत किया तथा उनकी और अधिक स्वायत्तता पर जोर दिया।

इस नयी चेतना ने भौगोलिक एवं ऐतिहासिक कारणों से इस विशाल उपमहाद्वीप में विद्यमान व्यापक क्षेत्रीय वैषम्यों के प्रति लोगों को जागरूक किया। आरंभिक ब्रिटिश काल के दौरान तीन सूबों – कलकत्ता (अब कोलकाता), बम्बई (अब मुम्बई), तथा मद्रास (अब चेन्नई) को प्रमुख बंदरगाहों के रूप में ब्रिटिश व्यापार एवं वाण्ज्यि के लाभ प्राप्त हुए। उन्हें शुरूआती औद्योगिकरण के लाभ भी मिले। संयुक्त पंजाब को ब्रिटिश शासकों द्वारा हाथ में लिए गए सिंचाई कार्यों का लाभ मिला। तदोपरांत, खासकर बीसवीं सदी में, उद्योग कुछ अन्य ब्रिटिश नगरों में फैले, जैसे अहमदाबाद, नागपुर और जमशेदपुर। उन्नत राजसी राज्यों के कुछ शहर, जैसे बड़ौदा और बंगलोर, और भी बाद में विकसित हुए। विकास टूकड़ों में था और असमान रूप से फैला था। स्वातंत्र्योत्तरकाल में भी विकास नियोजन कम से कम चौथी पंचवर्षीय योजना तक तो असमान ही रहा। इसी बीच, कृषि में हरित क्रांति उत्तर–पश्चिमी भारत में जैसे चुनिन्दा इलाकों में शुरू की गई। आरंभिक नियोजन द्वारा उपेक्षित क्षेत्र, जैसे उत्तर–पूर्व भारत, दरिद्रता और विरोध–प्रदर्शन के केन्द्र बन गए।

यहाँ तक कि विकसित क्षेत्रों की भी अपनी शिकायतें थी। तदनुसार पंजाब ने आर्थिक दृश्य–विधान के साथ दो दुर्भावों को जन्म दिया उसने फसलों पर कर–उगाही, प्रमुख सिंचाई परियोजनाओं से आपूर्तित बिजली व पानी पर शुल्कों तथा अपने कृषि उत्पादों में बाहरी देशों के साथ व्यापार करने संबंधी स्वतंत्रता के अभाव के खिलाफ विरोध–प्रदर्शन किया। उसने अपने क्षेत्र के उद्योग में निवेश की अनुपलब्धता की वजह से क्षेत्र के ओद्यौगिकरण के अभाव के विषय में दुखड़ा रोया। एक न्यनाधिक इसी प्रकार की माँग अब पश्चिमी उत्तर–प्रदेश में हरित प्रदेश हेतु आन्दोलन के पीछे काम कर रही है।

प्रशासन के तीव्रीकरण का अनुसरण करते हुए विकास–कार्य, शिक्षा–प्रसार व राजनीतिक चेतना एक नई सामाजिक क्रांति ले आये। विद्वान लोगों के नए उभरे समूह अपने–अपने समुदायों का नेतृत्व करने लगे। उनके लिए स्व–शासन का मतलब था अधिक नौकरियाँ, यहाँ तक कि बतौर राजनेता, लोगों व उनके साम्प्रदायिक/धार्मिक नेताओं के लिए अधिक अधिकार और विकास कार्यों के लिए अधिक धन। यह पहलू इस तथ्य से उजागर होता है कि, यद्यपि क्षेत्र को पड़ोस ने अपने राजनीतिक पहचान बनाने व कायम रखने के लिए एक संघ राज्यक्षेत्र का दर्जा काफी था, राज्यीयता उन्हें सत्ता दिलाती। तदनुसार 1972 में मणिपुर व त्रिपुरा, 1986 में मिजोरम व अरुणाचल प्रदेश तथा 1987 में गोवा ने संघ राज्यक्षेत्र के दर्जे से राज्यीयता प्राप्त कर ली। दिल्ली ने 1991 में केन्द्र–शासित प्रदेशों के बीच एक विशेष दर्जा हासिल किया। उसके लिए पूर्ण राज्य का दर्जा प्राप्त करना अब एक ज्वलंत प्रश्न है।

5.4 राज्यीयता और सत्ता

5.4.1 राज्यीयता और क्षैतिज समस्याएँ

राज्य स्वायत्तता के विषय में जागरूकता के अनेक राजनीतिक समस्याओं को जन्म दिया है, क्षैतिज यानी राज्यों के बीच भी और ऊर्ध्वाधर यानी संघ व राज्यों के बीच भी। हाशिये पर के इलाकों और अधिकतर के राज्यों के शहरों मे भाषाई (व धार्मिक) अल्पसंख्यकों की अच्छी–खासी आबादी रहती है। बहुसंख्यक समूहों के साथ उनके संबंध हमेशा मधुर नहीं रहते। उत्तर–पूर्वी भारत के कुछ राज्यों में अन्तर्–राज्यीय सीमाओं पर कुछ विपुल वन संसाधन हैं जिन पर पड़ोसी राज्य; अपना होने का दावा करते हैं। बड़ी नदियों द्वारा सिंचित राज्यों द्वारा नदी–जी बँटवारे ने अत्यधिक समस्याएँ पैदा की हैं। अंततागत्वा, राज्यों के पुनर्गठन ने अक्सर ही किसी राज्य का खाका पूरी तरह से बदल डाला है जिससे राजस्व असंतुलन पैदा हुआ है, जैसे झारखण्ड अलग हो जाने के बाद बिहार के मामले में।

5.4.2 संघ–राज्य संबंध

सत्ता का मुद्दा देश में संघ–राज्य संबंधों को बार–बार प्रकट करता रहता है। मोटे तौर पर, यह समस्या निम्नलिखित व्याख्याओं के तहत सुलझाई जा सकती है:

1) वैचारिक–राजनीति : 1959 में, भारत में प्रथम साम्यवादी राज्य–सरकार – केरल – संघ सरकार के साथ वैचारिक विषयता के कारण सत्ता से हटा दी गई। 1967 में, जब अनेक राज्य सरकारें अस्तित्व में आयी, संघ–राज्य संबंध राज्य–सरकारों के तेजी से हटाये जाने के साथ ही अत्यधिक तनावपूर्ण हो गए। 1977 में, जब केन्द्र में सरकार कांग्रेस के स्थान पर जनता पार्टी की बनी, एक ही झटके में आठ राज्यों की सरकारें बर्खास्त कर दी गई।

   धीरे–धीरे हालाँकि, एकदलीय आधिपत्य समाप्त हो गया है, और अब सशक्त क्षेत्रीय दल अस्तित्व में आये हैं। वे अपनी बर्खास्तगी के बाद चुनावों के माध्यम से सत्ता में लौटाने की फिराक में रहते है जिससे केन्द्र सरकार के लिए किंकर्त्तव्यविमूढ़ता की स्थिति पैदा हो जाती है। पार्टियाँ ऐसे 'पॉवर गेम' की व्यर्थता को अनुभव करने लगी हैं। 1993 में, बोम्मई मामले में सर्वोच्च न्यायालय ने ऐसे प्रतिलंघनों हेतु गुंजाइश पर सख्ती से रोक लगाई।

2) एक संबद्ध मुद्दा वो है जिसे राज्य अपने मामलों में केन्द्र का अनावश्यक हस्तक्षेप मानते हैं। राज्य विधानमंडलों द्वारा पारित विधेयकों को राष्ट्रपति की स्वीकृति हेतु राज्यपाल द्वारा रोके रखे जाने ने राज्यों के बीच चिड़चिड़ाहट पैदा की है। सत्तर के दशकोत्तर में, राज्यों में संघ–शासित उद्योगों में अपने निजी सुरक्षा बल तैनात करने संबंधी संघ के निर्णय ने भी इसी प्रकार की चिड़चिड़ाहट पैदा की।

3) परन्तु संघ व राज्यों के बीच सबसे लम्बा चलने वाला विवाद वित्त प्रबंध से संबंध रखता है। केन्द्र से राज्यों की निरन्तर और प्रमुख शिकायत यह है कि उसके पास उसकी आवश्यकता से अधिक धन है और अपने संसाधनों को राज्यों के साथ उनकी आवश्यकता से अधिक बाँटने में कंजूसी करता है। इसके अलावा, जब केन्द्र राज्यों के साथ धन का बँटवारा करता है, वह उसे अन्याय्य रूप करता है। प्रथम, एक शिकायत यह है कि केन्द्र विपक्ष–शासित राज्यों के साथ सौतेला व्यवहार करता है। दूसरे, राज्यों के बीच धन–वितरण में साम्यता नहीं है। सम्पन्न राज्य ये दावा करते है कि वे चूँकि अन्य कई राज्यों की अपेक्षा तेजी से विकसित हुए हैं और केन्द्र को अधिक राजस्व का योगदान देते हैं, केन्द्रीय आबंटनों में उनका हिस्सा उनके कार्य–निष्पादन एवं केन्द्र को दिए योगदान के अनुपात में होना चाहिए। विपन्न राज्य यह तर्क देते हैं कि वे चूंकि एक लम्बे समय से अभावग्रस्त रहे हैं, उनकी यातना का उचितरूपेण उपचार किया जाए और उन्हें उच्चतर आबंटन के माध्यम से आर्थिक सहायताएँ प्रदान की जाएँ।

5.4.3 संविधान संशोधन

संविधान के अनुच्छेद 3 के तहत नए राज्यों के निर्माण और/अथवा राज्य–सीमाओं में परिर्वतन का इस आशय के संविधान संशोधन की आवश्यता नहीं है। संविधान के प्रावधानों हेतु जिस किसी भी परिवर्तन की दरकार हो, स्वयं पुनर्गठन

अधिनियम के माध्यम से लागू किया जाता है। एक अपवाद, बहरहाल, 1956 में राज्यों के हद–स्तरीय पुनर्गठन के मामले में देख गया, जब सातवाँ संविधान संशोधन लागू किया गया। इसमें शामिल थे – राज्य के नामों में परिर्वतन, राज्यक्षेत्रों का हस्तांतरण, विद्यमान पार्ट–ए राज्यों का विच्छेद, पार्ट–बी राज्य का विलय व विच्छेद, पार्ट–बी व पार्ट–सी श्रेणियों का उन्मूलन, उण्डमान व निकोबार द्वीप समूह वाले पार्ट–डी राज्य का एक संघ–राज्यक्षेत्र में कायांतरण, अनेक पार्ट–सी राज्यों का संघ–राज्यक्षेत्रों में कायांतरण, संघ–राज्यक्षेत्रों के प्रशासन का पुनर्रूपांकन, नए राज्यों के लिए राज्य सभा (उच्च सदन) में सीटों का पुनराबंटन तथा कुछ अन्य संबद्ध मामले।

तथापि, 1954 (तृतीय संशोधन अधिनियम) से अब तक संघ–राज्य संबंधों मे बदलाव के कारण अनेक संशोधन करने पड़ते है। ये सभी संशोधन, 42वें संशोधन अधिनियम को छोड़कर, वित्तीय क्षेत्र में ही हुए। यद्यपि कृषि तथा ऐसे उद्योगों को, जो रक्षा उद्योगों व राष्ट्रीय महत्त्व रखने वाले घोषित उद्योगों के अलावा थे, मूलतः राज्यों के दायरे में छोड़ा गया था, तृतीय संशोधन में किसी भी उद्योग के उत्पादों व उसी किस्म के आयातित माल के उत्पादन, आपूर्ति व वितरण में व्यापार व वाणिज्य को वहाँ हस्तांतरित कर दिया गया जहाँ संघ द्वारा उनका नियंत्रण संसद द्वारा ऐसा उपनियम घोषित किया गया है जो जन–हित में लाभकर होगा, यथा खाद्य तेल व तिलहनों समेत खाद्य पदार्थों, खली व अन्य सान्द्रों समेत पशु–चारा, कच्चा सूत व कपास एवं कच्चा पटसन केन्द्र व राज्यों के समवर्ती क्षेत्राधिकार में। छठे संशोधन (1956) द्वारा केन्द्र को अधिकार दिया गया कि अन्तरराज्यीय व्यापार एवं वाणिज्य के अंतर्गत माल के क्रय–विक्रय पर कर लगाए। 46वें संशोधन (1983) द्वारा केन्द्र को अधिकार दिया गया कि अन्तरराज्यीय व्यापार एवं वाणिज्य के तहत बिक्री एवं खरीद पर टैक्स लगाए। इस संशोधनों ने उनके व्यापार में अधिक केन्द्रीय हस्तक्षेप की अपेक्षा रखने वाले कृषि एवं पशुपालन के व्यापक अभिलक्षण का संकेत दिया। दूसरी ओर, 2000 में हुआ 80वाँ संशोधन इस प्रकार का पहला प्रयास था जो केन्द्र को पहले से कहीं अधिक अपने विपुल वित्तीय संसाधनों को राज्यों के साथ बाँटने पर जोर देता था। परन्तु जैसा कि हमने इकाई 4 में पढ़ा, राज्यों के बीच वित्तीय संसाधनों के बँटवारे के लिहाज से उसके प्राधिकार का ह्रास नहीं हुआ।

42वें संशोधन अधिनियम (1976) ने संघ–राज्य राजनीतिक संबंधों में अनेक परिर्वतन किये। उसने केन्द्र सरकार को सक्षम किया कि अपने किसी भी बल अथवा अपने नियंत्रण के अधीन किसी भी अन्य बल अथवा अपनी किसी भी इकाई को नागरिक अधिकार की सहायतार्थ किसी भी राज्य में तैनात कर सके और अपने अधिकारों, क्षेत्राधिकार, विशेषाधिकारों व दायित्वों पर नियंत्रण रख सके (संघ सूची, अनुच्छेद 2–ए)। उसने अनेक राज्यीय विषय समवर्ती सूची के अधीन डाल दिए, नामतः शिक्षा (समवर्ती सूची 25), वन (समवर्ती सूची 17–ए), वन्य पशु व पक्षी संरक्षण (समवर्ती सूची 17–बी) तथा उस मानक व्यवस्था को छोड़ कर जो संघ सूची में पहले से ही मौज़द है, नाप–तौल मानक (समवर्ती सूची 33–ए)।

ये प्रवृतियाँ सालों साल केन्द्र के शक्ति–वर्धन को इंगित करती है। फिर भी केन्द्र के अत्यधिक शक्ति के बारे में राज्यों से शिकायतें अब कम ही सुनने में आती है, गाहे–ब–गाहे विपक्ष–शासित राज्यों के साथ 'सौतेले व्यवहार' संबंधी शिकायतों को यदि छोड़ दिया जाए। राजनीतिक संतुलन में राज्यों के पक्ष में बदलाव आया है।

5.5 सार–संक्षेप

भारत में राज्य–प्रणाली एक शती से भी अधिक समय में विकसित हुई है। देश के विभिन्न हिस्सों पर कब्जा करके अंग्रेजों ने भारत में राज्य–प्रणाली विकसित करने हेतु कदम उठाए। 1935 का भारत सरकार अधिनियम ऐसे प्रभावों का ही एक चरमबिन्दु था। यद्यपि स्वतंत्र भारत का संविधान इस अधिनियम से प्रभावित रहा है, पर वह इस अधिनियम का प्रतिरूप नहीं है। राज्य–प्रणाली के विभिन्न अंगों, विभिन्न राज्यों तथा राज्यों व संघ के बीच संबंधों की प्रकृति की लिहाज से पर्याप्त प्रावधान दिए गए है। इस संबंधों की व्यवस्था को संविधान के प्रावधानों के अनुसार बनाया–बिगाड़ा जा सकता है।

5.6 अभ्यास

1) अंग्रेजों द्वारा भारत पर कब्जा करने के तरीके का सूत्रबद्ध वर्णन करें।
2) अंग्रेजों के अधीन भारत की सीमाक्षेत्रीय व्यवस्था के विकास प्राप्त होने संबंधी प्रतिमान का सूत्रबद्ध वर्णन करें।
3) भारतीय संविधान सभा ने स्वतंत्र भारत की राज्यसीमा को किस प्रकार व्यवस्थित किया ?
4) स्वतंत्र भारत में राज्यों के पुनर्गठन का सूत्रबद्ध वर्णन करें। अन्तर्–राज्यीय संबंधों विषयक पुनर्गठन की अनुवर्ती समस्याएँ क्या हैं ?
5) भारत में संघ–राज्य संबंध किस प्रकार विकास प्राप्त कर रहा है ? आपके अनुसार राज्य स्वायत्तता की माँग हेतु मुख्य कारण क्या है ?
6) भारत में संघ–राज्य संबंधों का रूपायित करने वाले संविधान–संशोधन क्या हैं ?

अध्याय–6
चुनाव और चुनावी राजनीति

अध्याय की रूपरेखा

6.1 प्रस्तावना
6.2 लोकतंत्र में चुनाव की भूमिका
6.3 निर्वाचन–तंत्र
6.4 चुनाव–प्रणाली एवं प्रक्रिया
6.5 भारत में चुनाव : स्थूल स्तर पर एक प्रयोग
6.6 मतदान प्रतिमान
6.7 चुनावी व्यवहार के निर्धारक तत्त्व
6.8 चुनावी–व्यवहार निर्धारक के रूप में जाति
6.9 चुनाव–प्रणाली के दोष
6.10 चुनाव–सुधार
6.10.1 चुनाव–प्रणाली में परिवर्तन
6.10.2निर्वाचन आयोग का पुनर्गठन
6.10.3धन और मांसल शक्ति के दुष्प्रभावों का उन्मूलन
6.11 सार–संक्षेप
6.12 अभ्यास

6.1 प्रस्तावना

चुनाव एक ऐसा साधन है जिसके माध्यम से एक आधुनिक राज्य अपने नागरिकों में सार्वजनिक मामलों मेंशिरकत एवं भागीदारी का भाव उत्पन्न करता है। एक अच्छी चुनाव–प्रणाली ही असली प्रतिनिधि सरकार कीआधारशिला है। काफ़ी कुछ बात पर निर्भर है कि व्यवहार में यह प्रणाली किस प्रकार चलती है, क्या राजनीतिकपूर्वाग्रहों से मुक्त सक्षम एवं सद्चरित प्रशासकगण चुनावों को कुशलतापूर्वक और निष्पक्ष रूप से करवाते हैं।मतपत्र के फैसले में व्यापक विश्वास का अभाव लोकतांत्रिक प्रक्रिया में जनता की आस्था को ध्वस्त कर सकताहै। चुनाव–प्रक्रिया के महत्त्व पर ज़ोर देते हुए पुलॉक ने पाया :- ''जब तक कि आम चुनाव यथार्थता एवं कुशलताके साथ न कराये जाएँ, न सिर्फ़ लोक सेवाओं की मान–प्रतिष्ठा घटती है बल्कि पूरी लोकतांत्रिक प्रणाली खतरेमें पड़ जाती है।''हमारा देश सरकार की संसदीय प्रणाली वाला एक संवैधानिक लोकतंत्र है, और इस प्रणाली के अंतस्तल में है:-नियमित, स्वतंत्र और निष्पक्ष चुनाव कराने हेतु एक वचन। ये चुनाव सरकारी की संरचना, संसद के दो सदनों,राज्य व संघ–शासित विधानसभाओं की सदस्यता, तथा राष्ट्रपति पद एवं उप–राष्ट्रपति पद का निर्धारण करते हैं।

6.2 लोकतंत्र में चुनाव की भूमिका

वर्तमान परिस्थिति में, चुनाव पूरे लोकतांत्रिक जगत् में एक चयन–यंत्र के रूप में उभरकर आये हैं। चुनावसरकार में शासनकारी आभिजात्यों को चुनने व बदलने के साथ–साथ एक नियमित एवं योजनाबद्ध उत्तराधिकारप्रदान करने के लिए भी बुनियादी क्रियाविधि के रूप में काम आते हैं। वे यह निर्धारित करने में मदद करतेहैं कि देश किस प्रकार शासित हो, और साथ ही, उनका चयन करते हैं जो राज्य सत्ता का प्रयोग करेंगे। चुनाववे मूल क्रियाविधि भी हैं जिनके द्वारा नागरिक जन सरकारों को जिम्मेदार ठहराते हैं, पूर्व प्रभावी रूप से उनकीनीतियों के साथ–साथ अधिक स्थूल रूप से उस कार्यप्रणाली के लिए भी, जिसमें वे शासन करती हैं। ये चुनावपार्टी गतिविधियों को मज़बूती प्रदान करते हैं और जनसाधारण की राजनीतिक जागरूकता को बढ़ाते हैं। वेमतदाताओं को शिक्षित करते हैं और सरकार को वैधता प्रदान करते हैं।यद्यपि चुनाव लोकतांत्रिक राजनीति में मुख्य संस्थाओं में से एक माने जाते हैं, उनका दुरुपयोग कोई असामान्यबात नहीं। ये चुनाव सरकार की भिन्न–भिन्न प्रणालियों में भिन्न–भिन्न परिणाम सामने लाते हैं। सभी प्रकारके नेतागण, फ़ौजी तानाशाह से लेकर असैनिक अधिनायकों तक, शासन करने हेतु वैधता प्रदान करने में चुनावोंकी शक्ति

और महत्त्व को मान्यता देते हैं। ग़ैर–लोकतांत्रिक तरीकों से देश को चलाने के इच्छुक सैनिक अथवाअसैनिक नेतागण सत्ता में बने रहने के लिए चुनावों को एक हथियार के रूप प्रयोग करते हैं। ये नेतागण चुनावोंमें चालबाज़ी करने के लिए बड़े–बड़े प्रयास करते हैं।तथापि, किसी चुनाव–प्रणाली की सभी कमियों व असंगतियों के बावजूद, ये चुनाव किसी भी राज्य–व्यवस्था मेंमुख्य मुद्दों को तय कर सकते हैं। चुनाव ही यह व्यवस्था देते हैं जिससे कि वैध राजनीतिक सत्ता नीचे से ऊपरप्रवाहित होती है। अतः लोकतंत्र के लिए चुनाव अनिवार्य हैं, लेकिन तभी जब वे स्वतंत्र एवं निष्पक्ष तथाअनियमितताओं एवं कुरीतियों से रहित हों। चुनावी कुरीतियाँ न सिर्फ़ लोगों के मताधिकार को व्यर्थ कर देतीहैं, बल्कि लोकतंत्र को सांस्थानीकृत करने के प्रयास में भी अड़चन डालती हैं।चुनावी भ्रष्टाचार राजनीतिक भ्रष्टाचार का एक प्रमुख प्रकार है। यह एक ऐसे समाज में पनपता है जहाँराजनीतिक व प्रशासनिक नैतिकता की अवस्था निम्न होती है। एक पारदर्शी चुनाव–प्रणाली की आवश्यकता

विकसित के साथ–साथ विकासशील देशों में भी, वर्तमान लोकतांत्रिक पद्धति हेतु सबसे महत्त्वपूर्ण पूर्वशर्तों में एकहै। चुनावी भ्रष्टाचार लोकतंत्र के एकीकरण पर नकारात्मक प्रभाव डालता है। लोकतांत्रिक होने का दावा करतीसरकारें सत्ता से चिपके रहने के लिए चुनावों को चतुराई से अपने अनुकूल कर लेती हैं। चुनावी कुरीतियाँ हीअनेक राज्यों में शासनकारी व विपक्षी दलों के बीच ग़लतफ़हमी होती हैं और अक्सर राजनीतिकसंकट की ओर प्रवृत्त करती हैं। भारत में जम्मू–कश्मीर ही इस लिहाज से सुसंतुलित उदाहरण है।

लोकतांत्रिक प्रथाएँ चुनावों के माध्यम से ही कायम रखी जाती हैं और मज़बूती प्रदान की जाती हैं। चुनावप्रबंध सौंपे गए प्राधिकरण को, इसी वजह से, सक्षम, कारगर, स्वतंत्र एवं निष्पक्ष होना चाहिए। भारत केसंविधान–निर्माताओं ने, इसी कारण, देश को एक एकीकृत प्राधिकरण प्रदान किया :- चुनाव आयोग (Election Commission)जो केन्द्र व राज्यों सरकारों से स्वतंत्र है, ताकि संघ व राज्य व्यवस्था निकायों के चुनावआयोजित कराये जा सकें। चुनाव आयोग के अधिकार अनिवार्यतः प्रशासनिक हैं और उपांततः निर्णयकारी एवंविधायी हैं। इसकी तिहरी शक्तियाँ अब तक विधायिका द्वारा सदा अनापत्ति के साथ प्रयोग की जाती रही हैं।इसको प्रारम्भतः एक एक–सदस्यीय आयोग के रूप में अभिकल्पित किया गया। यह आयोग अक्तूबर 1993मेंदो चुनाव आयुक्तों की नियुक्ति के साथ ही विस्तार प्रदान कर दिया गया। राष्ट्रपति मुख्य चुनाव आयुक्त औरचुनाव आयुक्तों की नियुक्ति करता है। 1975में तार्कुण्डे समिति और 1991में गोस्वामी समिति ने सुझाव दियाकि राष्ट्रपति को चुनाव आयुक्त की नियुक्ति एक ऐसी समिति की सलाह पर करनी चाहिए जिसमें लोकसभा मेंनेता प्रतिपक्ष, प्रधानमंत्री, तथा भारत के मुख्य न्यायाधीश शामिल हों।

6.3 निर्वाचन–तंत्र

स्वतंत्रता–पश्चात् प्रथम तीन दशकों में चुनाव आयोग की भूमिका बाह्य परिधि वाली ही रही क्योंकि दुराचार औरहिंसा कम ही देखने में आते थे। अस्सी का दशक समाप्त होते–होते, मण्डल और मन्दिर मुद्दे राजनीतिक परिदृश्यपर उभरे और एकमत की राजनीति ढेर हो गई। जातीय और सांप्रदायिक आधारों पर राजनीतिक रण मुख्यरंगमंच पर दिखाई पड़ने लगा। चुनावी प्रक्रिया बिगाड़ दी गई और फिर हिंसा, छल–कपट, मतदाओं को डराना–धमकाना तथा सरकारी तंत्र का दुरुपयोग आम बात हो गई। इस स्थिति के चलते चुनावी प्रक्रिया में द्रुत सुधारोंहेतु आह्वान किया गया। तथापि, सभी तरह की छवि रखने वाले राजनीतिज्ञों द्वारा गंभीर चिंता व्यक्त किए जानेके बावजूद, कोई सार्थक सुधार नहीं लाया गया। चुनाव आयुक्त के पास कोई चारा नहीं था, बजाय इसके किस्वतंत्र, निष्पक्ष एवं शान्तिपूर्ण चुनाव के वास्ते अपने सांविधानिक एवं न्यायसंगत शक्तियों के प्रयोग का सहारा ले। उसने स्वस्थ लोकतांत्रिक विकास के प्रति हानिकारक ताकतों के खिलाफ़ देश की शीर्ष अदालतों में तमामलड़ाइयाँ लड़ीं। यदि कहीं मूल चुनाव बिगाड़ा गया तो चुनाव आयोग ने बहिचक मतदान–केन्द्रों व समस्तचुनाव–क्षेत्रों में पुनर्मतदान के आदेश जारी किए। गत वर्षों अनेक चुनाव–क्षेत्रों में चुनाव रद्द किए गए, कारणमतदान–केन्द्रों पर कब्ज़ा (बूथ कैपचरिंग), छल–कपट और व्यापक स्तर पर हिंसा। आदर्श आचार–संहिता कोचुनाव आयोग द्वारा सख्ती से लागू किया जा रहा है। प्रत्याशियों व पार्टियों को अनुशासित करने के लिएचुनाव–कानून भी प्रभावशाली ढंग से लागू किया जा रहा है। चुनाव आयोग द्वारा चुनाव कानून एवं आदर्शआचार–संहिता को प्रभावी ढंग से लागू किए जाने के फलस्वरूप नब्बे के दशक से चुनाव प्रक्रिया पर हितकर प्रभाव पड़े। देश में निर्वाचन–तंत्र की कार्यवाही को सुधारने का श्रेय पूर्व–मुख्य चुनाव आयुक्त श्री टी.एन. शेषनको जाता है।

6.4 चुनाव–प्रणाली एवं प्रक्रिया

चुनाव एक वृहत्तर राजनीतिक प्रक्रिया का हिस्सा हैं, जिसमें शामिल हैं :- नामांकन, चुनाव–अभियान और असलमतदान। संक्षिप्ततः, उन सभी साधनों को जिनके द्वारा कोई व्यक्ति एक निर्वाचित सभा का सदस्य बनता है,चुनावी प्रक्रिया का नाम दिया जा सकता है। डब्ल्यु.जे. मैकेन्ज़ी ने स्वतंत्र व निष्पक्ष चुनाव हेतु चार शर्तें रखीहैं, नामतः, चुनावी कानून की व्याख्या हेतु एक स्वतंत्र न्यायपालिका; चुनाव कराने हेतु एक ईमानदार, सक्षम,ग़ैर–हिमायती प्रशासन; राजनीतिक दलों का एक विकसित तंत्र, जो अपनी नीतियों को सामने रखने हेतु भलीप्रकार संगठित हो, और चुने जाने

वाले विकल्पों के रूप में मतदाताओं के सामने प्रत्याशियों के दल; तथा इसयोजना के ऐसे कुछ निश्चित नियमों के प्रति सम्पूर्ण राजनीतिक समुदाय में एक आम सहमति, जो इस सत्तार्थसंघर्ष को नियंत्रित करें। कोई भी विकासशील देश इन शर्तों का पूरी तरह से पालन करने का दावा नहीं करसकता। फिर भी, भारत दूसरे देशों के मुकाबले इन शर्तों को पूरा करने के सबसे करीब है। वह एक स्वतंत्रन्यायपालिका और एक ग़ैर–हिमायती चुनाव प्रशासन का वाज़िब तौर पर दम भर सकता है। यद्यपि भारतराजनीतिक दलों का कोई विकसित तंत्र रखने का दावा नहीं कर सकता, इस योजना के कुछ निश्चित नियमोंको आम सहमति प्राप्त है, जो कि समय के साथ गहरी जड़ें पकड़ चुकी है।चुनाव भारतीय राजनीतिक व्यवस्था में एक खास जगह बना चुके हैं। चुनाव अभियानों में गहरी राजनीतिकबहसें, प्रतीकात्मक जुलूस और बड़े राजनीतिक दलों द्वारा इलैक्ट्रॉनिक प्रौद्योगिकी का बढ़ता प्रयोग सहज हीदिखाई पड़ते हैं। व्यापक निरक्षरता के चलते दृश्य–प्रतीकों को भारत में अधिक महत्त्व दिया जाता है। मतदाताप्रत्याशियों की पहचान उन्हें आबंटित प्रतीक–चिह्नों के माध्यम से करते हैं। नारों के रूप में मुद्दे अक्सर ही समालोचना के गुण से परिपूर्ण होते हैं; जैसे :-1971 में 'ग़रीबी हटाओ', 1977 में 'लोकतंत्र बचाओ', 1980 में ''स्थिर सरकार', 1989 में बोफोर्स का नाम लेकर भ्रष्टाचार, 1991 में मण्डल–मन्दिर विवाद। इन अभियानों के दौरान विचारधारा अथवा नीतिगत विषयों पर तर्क–वितर्क किए जाते हैं चूँकि सभी दल ग़रीबी व बेरोज़गारी दूर करने, भ्रष्टाचार मिटाने, राष्ट्रीय एकता बचाने, आदि के लिए एक–से वायदे करते हैं। ग़रीबीऔर निरक्षरता के बावजूद लोगों ने अपनी पसंद के अनुसार ही सरकार चुनने और बदलने में अपने सहजबोध और व्यावहारिक ज्ञान के माध्यम से निर्णय की परिपक्वता दर्शायी है।

6.5 भारत में चुनाव : स्थूल स्तर पर एक प्रयोग

चुनाव भारतीय जीवन के मुख्य जन–समारोह हैं। भारत में चुनाव लाखों लोगों को राजनीतिक प्रक्रिया में संघटितकरते विशाल दृश्य हैं। वे इस प्रकार न सिर्फ़ असल में पूरे अधिवासी–समुदाय के लिए मनोरंजन व उत्तेजनाप्रदान करते महोत्सव हैं बल्कि वे ऐसा कुछ भी अर्जित कर चुके हैं जिसे अल्बिन्स्की एवं पैती ने ''एक सांस्कारिकअथवा संस्मारक पहलू'' कहा है और जो ''राष्ट्रीयता एवं सामाजिक प्रयोजन का स्पष्ट प्रतीक'' बन गया है।मॉरी जॉन एवं विप्लवदास गुप्त के शब्दों में, ''भारत में चुनाव सबसे बड़े पैमाने पर लोगों की भागीदारी हेतुअवसर प्रदान करते हैं; वे राजनीतिक समूहों के बीच असली मुकाबले के लिए सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण एकल अखाड़ातैयार करते हैं; ये उस खास एजेन्सी सदृश हैं जिसके माध्यम से राजनीतिक अभिजात–वर्ग के एक महत्त्वपूर्ण भागकी भर्ती पर असर पड़ता है।'' भारत में चुनाव जटिल घटनाओं का कारण बनते हैं क्योंकि उनमें वैयक्तिकएवं सामूहिक फैसले शामिल होते हैं और वे पूरी राजनीतिक एवं सामाजिक प्रक्रिया पर सीधे प्रभाव डालते हैं।विकासशील देशों में अधिकांश नए राज्यों से भिन्न, भारत में चुनाव राजनीति–तंत्र के लिए महत्त्वपूर्ण हैं,अमहत्त्वपूर्ण नहीं।

6.6 मतदान प्रतिमान

आम चुनाव (General Election)को एक अलंघ्य प्रक्रिया समझा जाता है जो कि सामान्य रूप में लोकतंत्र केसिद्धांत की पुष्टि करती है बल्कि साथ–ही–साथ भारतीय लोकतंत्र के स्तंभों को मज़बूती भी प्रदान करती है।मतदान प्रतिमान दर्शाता है कि वोट डालने वाले स्त्री मतदाताओं की प्रतिशतता तीसरे आम चुनाव में 46.64प्रतिशत से 1999के चुनाव में 55.64 प्रतिशत तक महत्त्वपूर्ण रूप से बढ़ी। गत पाँच आम चुनावों के नतीजों पर नज़र डालें तो यह बात सामने आती है कि जीती गई सीटों की कुल संख्या के साथ–साथ उनके मतांश (voteshare)के लिहाज से भी देखे जाने पर राष्ट्रीय दलों के प्रदर्शन में कमी आयी है। इस अवधि में राष्ट्रीय दलोंके नुकसान पर क्षेत्रीय दलों को लाभ पहुँचा। यही उन कारकों में से एक है जिन्होंने हाल के बीते वर्षों में संघीयगठबंधन सरकारों को योगदान दिया है। 1989 के चुनावों में सभी क्षेत्रीय दलों ने कुल मिलाकर मात्र 27 सीटेंप्राप्त की थीं। उन्होंने अपनी गिनती 1991 में 51 और 1996 में 129 तक बढ़ा ली। उनके मतांश में भी एकसदृश बढ़ोत्तरी रही। 1989 में उनका मतांश डाले गए कुल वैध मतों का 9.28 प्रतिशत रहा। परन्तु 1999 के मतदान में यह बढ़कर 26.93 प्रतिशत हो गया। राष्ट्रीय दलों ने हमेशा अपने मतांश के मुकाबले एक ऊँचीसीट प्रतिशतता हासिल की। क्षेत्रीय दल एवं निर्दलीय प्रत्याशी घाटे में रहे जो कि अपने मतांश के मुकाबले नीचीसीट प्रतिशतता ही प्राप्त कर सके।चुनाव ऐसी राजनीतिक प्रक्रियाएँ हैं जो समाज व राज्य–व्यवस्था के बीच तथा पारंपरिक सामाजिक व्यवस्थाओंव उत्पन्न होते राजनीतिक दृष्टिकोणों के बीच एक सेतु का काम करती हैं। इसी कारण, चुनावों का विश्लेषणसमग्र राजनीतिक व सामाजिक व्यवस्था के प्रसंग में ही किया जाना चाहिए। चुनाव विभिन्न राजनीतिकव्यवस्थाओं में विभिन्न भूमिकाएँ निभाते हैं। कुछ में वे राजनैतिक उन्नति में योगदान दे सकते हैं तो अन्य मेंराजनीतिक में अवनति में। सत्तावाद के वास्ते वे कभी–कभी छिपे छल–कपटों के रूप में भी प्रयोग किए जा सकतेहैं। प्रतिष्ठित लोकतंत्रों में, व्यवस्था के रखरखाव हेतु सांस्थानिक प्रक्रियाएँ होती हैं तथा समर्थन जुटाने, हितसमूहन करने, सत्ता के शांतिपूर्ण व सुव्यवस्थित हस्तांतरण एवं नेताओं की भर्ती व प्रशिक्षण, और सर्वोपरि उसराजनीतिक व्यवस्था के उत्तरोत्तर लोकतंत्रीकरण हेतु साधन भी होते हैं। इस प्रकार, चुनाव वैधता, पहचान,एकीकरण, संचारण, राजनीति–शिक्षा, भागीदारी, समाजीकरण, संघटन, विवाद

समाधान, राजनीतिक चयन,और राजनीतिक नियंत्रण हेतु उपाय हैं। चुनाव किसी राजनीतिक व्यवस्था में सार्थकता का एक तत्त्व प्रविष्टकराते हैं और नागरिकों के लिए यह संभव बनाते हैं कि वे राजनीतिक चयन एवं नियंत्रण की एक सच्ची औरसार्थक अवस्था का लाभ प्राप्त करें। यह, बदले में, व्यवस्था को स्वयं ही शासन का एक लोकतांत्रिक एवंप्रभावशाली साधन बना देता है।

6.7 चुनावी व्यवहार के निर्धारक तत्त्व

चुनाव संबंधी अध्ययन दर्शाते हैं कि जाति तत्त्व का संयोजन ही सबसे ताकतवर कारक है, जो चुनाव–व्यवहारको निर्धारित करता है। पंजाब में प्रमुख दलों के मार्फ़त वोट बटोरने के लिए अकाली दल द्वारा धार्मिक भाषाईएवं क्षेत्रीय कारकों का लाभ उठाया गया है। ये क्षेत्रीय एवं भाषाई कारक ही थे जो द्रमुक व अन्नाद्रमुक द्वारातमिलनाडु में, तेलुगुदेशम् द्वारा आंध्र प्रदेश में, और गण परिषद् द्वारा असम में मतदाताओं की लामबंदी में प्रयोगकिए गए। उन्नत लोकतंत्रीकरण एवं राजनैतिक जागरूकता के साथ ही, राजनीतिक दलों ने चुनाव के प्रयोजनहेतु जाति तत्त्व से अनुचित लाभ उठाने का प्रयास किया है, जो कि बदले में जातियों के अभिजात–वर्ग कोराजनीतिक प्रक्रिया में घुस जाने में समर्थ करता है। इसका मतलब, हालाँकि यह नहीं है कि सभी जातियाँ अथवाकोई पूरी–की–पूरी जाति ही राजनीति व्यवस्था को प्रभावित करने हेतु राजनीतिक–रूप से जागरूक अथवासंघटित हो जाती हो।

भारत में जाति संघ सामाजिक क्रम–परम्परा में अपनी जाति की प्रतिष्ठा को बढ़ाने हेतु शैक्षिक, सेवा व अन्यसुविधाएँ सुनिश्चित करने के प्रयास में संस्कृतीकरण के एजेण्टों के रूप में स्वतंत्रताप्राप्ति से काफ़ी पहले ही जन्मले चुके थे। परन्तु उनकी स्वातंत्र्योत्तर भूमिका कहीं अधिक महत्त्वपूर्ण व जटिल हो गयी है क्यों कि अब वेआर्थिक के साथ–साथ राजनीति के क्षेत्र में भी दबाव समूहों की भूमिका से जुड़ गए हैं। जाति संघों ने लोगों कोउनके अधिकारों एवं विशेषाधिकारों के प्रति जागरूक किया है। सबसे महत्त्वपूर्ण योगदान इस बात में है किनिरक्षर जनता भी अब राजनीति में प्रभावशाली ढंग से भाग लेती है। इस प्रक्रिया के माध्यम से, जाति काराजनीतिकरण एक ऐसी स्थिति में पहुँच चुका है, जहाँ न सिर्फ़ मतदाताओं द्वारा किसी प्रत्याशी के पक्ष में फैसलाकरने के लिए जाति को ही मुख्य मुद्दों में से एक माना जाता है, बल्कि यह जाति चुनाव–टिकिट बाँटने वमंत्रियों को बनाने में भी एक सबसे महत्त्वपूर्ण कारक होती है। तदनुसार, नेताओं के जातीय सम्पर्क, यथा अपनीजाति के लोगों पर अधिकार और राजनीति लाभ के उद्देश्य से जाति–गठबंधन तैयार करने की क्षमता, महत्त्वपूर्णभूमिकाएँ निभाने लगे। सार्वभौम वयस्क मताधिकार शुरू किए जाने से दलित व अन्य पिछड़े वर्ग अपनी बहुतही थोड़ी जनसंख्या होने के कारण खुद की प्रछन्न शक्ति के प्रति जागरूक हो गये।जाति समस्वार्थता को अत्यधिक महत्त्व मिला है। लोग या तो ऐसी पार्टी को वोट दिया करते हैं, जिससे उनकीजाति अथवा उप–जाति की पहचान होती हो, या फिर अपनी जाति के/की किसी सम्मानित सदस्य/सदस्या को,बेशक वो किसी भी पार्टी से सम्बद्ध हो। 1965 में, राज्यीय चुनाव के संदर्भ में पॉल ब्रास ने जो अवलोकन कियावह अब राष्ट्रीय चुनाव के संदर्भ में प्रासंगिक है : ''चुनावों में जाति की भूमिका निस्संदेह समसामयिक भारतीयराजनीति व्यवहार का सबसे चर्चित पहलू है।'' जाति व चुनावी राजनीति के बीच पारस्परिक क्रिया, एक ओर,राजनीति के पारंपरीकरण में परिणत हुई है, तो दूसरी ओर जाति के राजनीतिकरण में। रजनी कोठारी केअनुसार, ''राजनीति में तथाकथित जातिवाद तदनुसार जाति के राजनीतिकरण से कतई कम या ज़्यादा नहीं है।अपने संगठन के जाल में जाति–व्यवस्था को फँसाकर राजनीति को अपनी अभिव्यक्ति हेतु सामग्री मिलती है औरवह उसे अपने ही परिरूप में ढालती है। राजनीति को अपनी गतिविधि का क्षेत्र बनाने में, जाति व समूहों को,दूसरी ओर, अपनी पहचान का दावा करने व पदों के लिए लड़ने का अवसर मिलता है।'' लोकतांत्रिक प्रक्रियामें राजनीति भारत के दूर–दराज़ के गाँवों में घुस चुकी है। राजनीतिक चेतना एवं भागीदारी समाज के सभीभागों में तरक्की पर हैं जो उन्हें राजनेताओं के भाग्य का फैसला करने में अपने वोटों की शक्ति के प्रति जागरूककरती हैं। इस प्रकार, कभी–कभी चुनावी प्रक्रिया सामाजिक परिवर्तनशीलता का रास्ता भी बनाती है; जैसा किउत्तर प्रदेश व बिहार में यादवों के मामले में हैं। अपनी संख्या–शक्ति के मार्फ़त अपने राजनीतिक वज़न के प्रतिसचेत हो कर इस समुदाय ने अस्सी के दशक–मध्य से राज्यों में राजनीतिक परिदृश्य पर अपना वर्चस्व कायमकिया है। चुनावी राजनीति की तर्कसंगति ने राजनीतिक दलों को मज़बूर किया है कि वे अपने सामाजिक अथवाजातीय आधार को विस्तार प्रदान करें। तदनुसार, उच्च जाति–विरोधी पार्टियों, जैसे द्र.मु.क. एवं ब.स.पा.(बहुजन समाज पार्टी), को अपनी क्षेत्रीय पहचान को अधिक समावेश्य बनाने के लिए ऊँची जातियों सेसमायोजन करना पड़ा, जबकि भा.ज.पा. जैसी उच्च–जाति व नगरीय पार्टियों ने कांग्रेस के प्रभुत्व को चुनौतीदेने के लिए मंझली व निचली जातियों व ग्रामीण परिधि की ओर हाथ बढ़ाया है।भारतीय संविधान द्वारा सार्वभौम वयस्क मताधिकार को मंजूरी और आम आदमी तक, उसकी जाति, सम्प्रदाय वलिंग पर ध्यान न देते हुए, राजनीतिक सत्ता का विस्तार एक क्रांतिकारी कदम था। चुनाव–प्रक्रिया के माध्यमसे अनेक बार केन्द्र के साथ–साथ राज्यों में भी सरकारें बदली हैं। राजनीतिक भागीदारी के मार्फ़त व्यक्तिनागरिकों द्वारा की जा सकने वाली उन कानूनी कार्रवाइयों का वास्ता दे सकता है जो सरकारी कर्मचारियों केचयन एवं नीतिगत निर्णयों को प्रभावित करने पर न्यूनाधिक सीधे–सीधे अभिलक्षित होती हों।लोकतांत्रिक संस्थाओं की ईमानदारी और स्पष्टवादिता तीन अन्तर्सम्बद्ध तथ्यों पर निर्भर करती है।

प्रथम, ऐसेराजनीतिक कार्यकर्त्ताओं का एक स्थायी संगठन होना आवश्यक है जो लोकतांत्रिक सिद्धांतों के प्रति दृढ़ प्रतिज्ञहों और इस खेल–प्रतियोगिता के लोकतांत्रिक नियमों की मर्यादाओं में रहकर राजनीतिक सत्ता हासिल करने केलिए आपस में स्पर्धारत हों। दूसरे, एक सांस्थानिक दृष्टिकोण उपलब्ध होना आवश्यक है, जो भिन्न–भिन्नजन–नीतियों की अभिव्यक्ति में मदद करे और प्राप्त जानकारियों को उचित व्यवस्थापरक परिणामों में निर्विघ्नतब्दील किए को बढ़ावा दे। और अन्ततः, आम जनता की ओर से लोकतांत्रिक मूल्यों एवं प्रतिमानों के प्रति एकसामान्यीकृत वचनबद्धता अवश्य होनी चाहिए।भारतीय समाज की सबसे बुनियादी हक़ीकत है अत्यधिक ग़रीबी। भारतीयों का एक विशाल जनसमुदाय बेरोज़गारऔर अल्परोज़गार प्राप्त है। साक्षरता दर बहुत कम है। दलितों व ग़रीबों के बीच निरक्षता लगभग समूची है।ग्रामीण भारत में बसने वाली मानव–जाति का यह विशाल महासागर ही है, जो भारत की बुनियादी वास्तविकताका निर्माण करता है। ग़रीबी की रेखा से नीचे और उससे कुछ ही ऊपर रहने वाली यह बहुसंख्यक जनता हीहै जिसका भारत के चुनावों में प्रमुख मत–योगदान होता है। ग़रीब, अनपढ़, केवल जाति अथवा धर्म से संबद्धहोने की समझ रखने वाली अन्धविश्वासी, और आवसरिक रूप से सरकार–संचालित प्रसारण व्यवस्था कोछोड़कर, उचित संचार–माध्यम तक पहुँच न रखने वाले लोगों की इस दीर्घाकार मानव–लहर को जब–तब अपनीपरम इच्छा रूपी वोट को डालने मतदान–केन्द्रों की ओर खदेड़ा जाता है।मोटे तौर पर, चुनाव परिणाम दरअसल जनता के इसी वर्ग पर निर्भर करता है। चुनाव, तदनुसार, एक ऐसाअवसर बन जाता है जब उनकी सहमति को इच्छानुकूलित किया जाता है, उनके हित को बढ़ावा देने के लिएनहीं बल्कि एक ऐसी राजनीतिक व्यवस्था कायम करने के लिए जो कि उनसे अपेक्षा करती है कि अपने परमअधिकार को समर्पित कर दें। यह बात चुनावी नारों की वर्ग प्रकृति के साथ–साथ एक बार सत्ता में आ जानेके बाद पार्टियों के प्रदर्शन में भी स्पष्ट रूप से प्रकट होती है। 'समाजवादी आदर्श' ने निजी क्षेत्र को अधिकलाभ पहुँचाया; और बैंकों के राष्ट्रीकरण का दरअसल मतलब था :- बड़े व्यापार–गृहों को अधिक पूँजी काउपलब्ध कराया जाना।प्रबल सामाजिक समूह अक्सर दलितों, निम्न पिछड़ों व अन्य अलाभांवित समूहों के अधिकारों का हनन करतेहैं। अपनाया जाने वाला सबसे आम तरीका बड़ा सरल है। प्रतिनिधि से वोट डलवाना; अपनी पसंद–नापसंदमज़दूर मालिक पर छोड़ देता है, जो उन्हें सलाह देता है और समझाता है कि मतदान–केन्द्र पर मत जाओ,तुम्हारा वोट पड़ जाएगा। यदि वे अनिश्चय की स्थिति में होते हैं और लगता है कि वे मालिक की पसंद के अलावाकिसी को वोट देंगे, तो उन्हें वोट देने से रोक दिया जाता है। ऐसा चलन भारत में चुनावों की करीब–करीबशुरुआत से ही है, परन्तु साठ के दशक से ऐसा ज़्यादा खुल्लम–खुल्ला और बड़े स्तर पर होने लगा, जब राज्यीयराजनीति में एक प्रभावशाली गुट के रूप में भूस्वामियों व कुलकों के ग्रामीण अभिजात–वर्ग का उदय हुआ।राजनीतिक दलों व उनके नेताओं ने भी बराबर ग्रामीण क्षेत्र में एक अहस्तक्षेप की नीति अपनायी हुई है ताकिभूस्वामी नाराज़ न हो, जिसकी मदद और सामंती वोट–बैंकों के बग़ैर, कोई उम्मीदवार जीतने की आशा ही नहींकर सकता। आमतौर पर, यही बात ग्रामीण भारत में मतदान प्रतिमान का आधार तैयार करती है। ये सामन्तिकसंरक्षक–आश्रित सम्बन्ध अभी बदले नहीं हैं, हालाँकि देश के कुछ भागों में दुहराव की प्रवृत्ति आयी है। यह वर्ग,जाति व नागरिकता के बीच एक निकट अन्तर्सम्बन्ध के रूप में सामाजिक जीवन में व्यक्त होती है और भारतकी चुनावी नीतियों में वोट–बैंकों व वोट के ठेकेदारों को सम्बल प्रदान करती है। जाति व धर्म संबंधी भूमिकाएँइस संदर्भ में बहुत महत्त्वपूर्ण हैं।

6.8 चुनावी–व्यवहार निर्धारक के रूप में जाति

जाति–व्यवस्था का उसके सबसे आम लेकिन बुनियादी पहलू में पदस्थिति व पदानुक्रम की एक आरोप्य व्यवस्थाके रूप में वर्णन किया जा सकता है, जो लोगों के लिए सामाजिक, आर्थिक व राजनीतिक संबंधों को नियंत्रितएवं परिभाषित करने के लिए जानी जाती है। जाति पद चूँकि जन्म से ही आरोपित कर दिया जाता है, यहव्यवस्था वंशानुक्रमित सामाजिक स्थिति व विशेषाधिकारों की परिकल्पना करती है। यह व्यवस्था इसी वजह सेसीमित है। विभिन्न जातियाँ कर्मकाण्ड, सामाजिक–आर्थिक व राजनीतिक स्थितियों में एक–दूसरे से भिन्न होतीहैं। जाति एक व्यक्ति की सामाजिक स्थिति के साथ–साथ उसकी आर्थिक स्थिति को भी इंगित करती है। जातिक्रम–परम्परा का वर्ग क्रम–परम्परा से निकट संबंध है। के.एन. राज, ऑर्दे बैतिएल, एम.एन. श्रीनिवास वकैथलीन गफ़ के अध्ययनों से इस तथ्य की पुष्टि होती है कि जाति और वर्ग के बीच एक अनुरूपता है। ज़मींदारव धनी किसान आमतौर पर ऊँची जातियों से संबंध रखते हैं, जैसे ब्राह्मण, भूमिहार व ठाकुर, जबकि दलितों,आदिवासियों व जनजातियों में बहुतायत से खेतीहर मज़दूरों का योगदान है। मध्यवर्ती स्तर पर, बहरहाल, जातिऔर वर्ग एक–दूसरे से परे हैं। जाट, गूजर, यादव व कुर्मी जैसी मँझली जातियों के अधिकतर सदस्य छोटे वमध्यम दर्जे के किसान अथवा काश्तकार हैं, हालाँकि एक उपरिमुखी आन्दोलन की प्रवृत्ति देखी गई है। इनपिछड़ी जातियों में से कुछ धनी किसानों अथवा ज़मींदारों के रूप में उभरे हैं। मध्यवर्ती व पिछड़ी जातियाँ इसप्रकार मँझले व छोटे किसान–बहुल का निर्माण करती हैं। आमतौर पर बहुत थोड़ी–सी ज़मीन रखने वालेकिसान निचली जातियों से संबंध रखते हैं और कृषि–श्रमिकों के रूप में भी काम करते हैं। तथापि, दलित,अनुसूचित जातियाँ, अनुसूचित जनजातियाँ व ग़रीब पिछड़े वर्ग ही हैं जो भूमिहीन श्रमिक बहुल की आपूर्तिकरते हैं।चूँकि भारतीय जन–साधारण राजनीतिक रूप से निरक्षर रहा है, जाति संघटन के लिए सबसे महत्त्वपूर्ण साधनबन गयी है। अपने–अपने

वर्ग–हितों के लिए जाति–निष्ठाओं का उनके अपने जाति–आभिजात्यों द्वारा अनुचितलाभ उठाया जाता है। चुनावों के समय, जब गिनती का खेल ज़्यादा होता है, तो जाति–समूह न सिर्फ़ अपनेजाति–सदस्यों का ही बल्कि निम्नपदस्थ जातियों व दलितों से संबंध रखने वालों का भी समर्थन जुटाने का प्रयासकरते हैं। अनूठी भारतीय परिस्थिति में जाति व जाति–संघों ने भारत के व्यापक निर्वाचकगण को सार्थक एवंप्रभावी रूप से भाग लेने में मदद करके राजनीतिक लोकतंत्र की सफलता में एक महती भूमिका निभायी है।प्रतिघात का आधार उपलब्ध कराने की बजाय, जाति ने कुछ नए लोकतांत्रिक मूल्यों को समाहित एवं संयोजितकिया है। जाति ने न सिर्फ़ अपनी उत्तर जीविता कायम रखी है बल्कि अपने को कायांतरित भी किया है, इसअर्थ में कि यह अपने मूल्यों एवं विशेषाधिकारों को संतुलित करने में मदद करके पुरानी व्यवस्था कीअसमानताओं की असमानताओं को निर्मूल करने में योगदान देती है।

राजनीतिक प्रयोजन हेतु जाति का इस्तेमाल वयस्क मताधिकार लागू होने से काफ़ी पहले ही शुरू हो चुका था।जातियाँ स्वयं को सामाजिक, राजनीतिक एवं आर्थिक उद्देश्यों के लिए संगठित करने लगी थीं। कर्मकाण्ड,अपवित्रता, पदानुक्रम, आदि जैसे कुछ जातीय पहलू अपना महत्त्व खो रहे हैं। वयस्क मताधिकार के सिद्धांत परआधारित लोकतांत्रिक राज्य–व्यवस्था शायद सबसे निर्णयकारी कारक था, जिसने जाति को भरपूर उत्साह केसाथ सुदृढ़ किया। लोकतांत्रिक व्यवस्था की विवशता :- ऐसे निरक्षर लोगों को संघटित करना जो वर्ग–हित केलिहाज से राजनीति को नहीं समझ सकते, जातीय भावनाओं को सोहाती है, क्योंकि इससे लाभ मिलता है। स्पष्टवर्गाधारित राजनीतिक दलों के अभाव में, विचारधारा और वर्ग के अलावा अन्य कारक अधिक प्रभावी हो जानेके लिए उद्यत रहते हैं। इस प्रकार, जाति, धर्म आदि भारत की जन–राजनीति में प्रासंगिक निवेश बन जाते हैं।जातियों के आधार पर लोगों की लामबन्दी के संबंध में रुडोल्फ़ एवं रुडोल्फ़ का कहना है किलामबंदी तीन प्रकारकी होती है : ऊर्ध्वाधर, क्षैतिज और पार्थक्यसूचक।

ऊर्ध्वाधर लामबन्दी उन स्थानीय समाजों में परम्परागतलब्धप्रतिष्ठ व्यक्तियों द्वारा राजनैतिक समर्थन का विन्यास है, जो कि पद, परस्पर निर्भरता एवं पारंपरिक सत्ताकी वैधता द्वारा संगठित एवं एकीकृत होते हैं।

क्षैतिज लामबन्दी में शामिल है :- वर्ग अथवा समुदाय के नेताओंव उनके विशेषताप्राप्त संगठनों द्वारा राजनैतिक समर्थन का विन्यास।

पार्थक्यसूचक लामबन्दी में आता है :-विचारधारा, भावना व हित के समान्तर अपीलों के माध्यम से जीवनक्षम, परन्तु आंतरिक रूप से पृथक्त, समुदायोंसे राजनीतिक दलों एवं अन्य संघट्य दृष्टिकोणों द्वारा प्रत्यक्ष अथवा परोक्ष राजनीतिक समर्थन का विन्यास।

जाति–राजनीति का मुख्य कार्य ऊँची से मँझली जातियों को सत्ता–हस्तांतरण रहा है। उन लोगों को जो निम्नसे भी निम्नतम थे, जैसे अछूत, भूमिहीन किसान, देहाती ग़रीब, इस नई राजनीतिक व्यवस्था से लाभ नहींपहुँचा। उभरते ग्रामीण आभिजात्यों के वर्ग–हित शहरी पूँजीवादी वर्ग के साथ गठजोड़ करके सबसे अच्छी तरहसुरक्षित रह सकते थे। इस प्रकार, वयस्क मताधिकार, 'राजनीति में जाति' सिद्धांत, लोकतांत्रिक विकेन्द्रीकरण,पंचायती राज संस्थाओं ने व्यवहारतः अपने शासन को समेकित करने में शासक वर्गों की मदद की। इन नएग्रामीण व शहरी आभिजात्यों ने 'राजनीति में जाति' के चिरस्थायीकरण में एक निहित स्वार्थ को जन्म दिया है।ग्रामीण संदर्भ में, 'राजनीति में जाति' लामबन्दी का साधन :- संचार, प्रतिनिधित्व व नेतृत्व का एक माध्यम :-रही है, जो निर्वाचकगण को नई लोकतांत्रिक प्रक्रिया से जोड़ती है। यह अन्तर्सम्बन्ध निचली जातियों को अन्यजातियों के शोषण एवं उत्पीड़न से निज़ात दिलाता है।

भारत में साम्यवादियों ने जाति–वर्ग अनुरूपता के आधार पर, आन्ध्र प्रदेश में कृषि–श्रमिक वर्ग को संघटित करनेहेतु जातीय मुहावरों का प्रयोग किया। विभिन्न राजनीतिक दलों की कार्रवाई जाति की महत्त्वपूर्ण भूमिका कोसिद्ध करती है। प्रत्याशियों के चयन में, जाति के आधार पर चुनाव–अभियान रणनीतियों का स्पष्ट वर्णन औरमतदाताओं की लामबन्दी यह दर्शाती है कि राजनीतिक दल जातिवाद को दूर करने में कतई रुचि नहीं रखते।बल्कि वे इस बात के दस्तंदाज काफ़ी होते हैं कि जाति के माध्यम से निर्वाचकगण के दुर्दमनीय बहुमत हेतुराजनीतिक प्रक्रियाओं को सुगम बना दें। इस बात को स्वीकार करने के लिए वे यथार्थवादी हैं कि जाति पर ज़ोरग्राम–पंचायत स्तर पर अधिक होना चाहिए, राज्य स्तर पर कम और राष्ट्रीय स्तर पर नगण्य। कृषि–वर्ग केआम हित के आधार पर विभिन्न मध्यम एवं निचली जातियों के मिलकर एक साथ आने से इस समूह को स्वयंको और अधिक समेकित करने में मदद मिली है।

मतदाता उपस्थिति में एक तीव्र वृद्धि और पार्टियों के लिए चुनावी समर्थन में द्रुत परिवर्तनों के बावजूद, भारतीयनिर्वाचकगण की 'भेड़चाल' वाली धारणा अभी तक कायम है। यह उस मतदाता की छवि है जिसके लिए मतदानएक अनुष्ठान है या फिर, सबसे अच्छे तौर पर, इतर–राजनैतिक दायित्वों को पूरा करने का एक काम। मतदानकरते वक़्त मतदाता न सिर्फ अपने निर्णय–संबंधी राजनीतिक निहितार्थों से अनभिज्ञ होता/होती है, बल्कि उसेइस बात से भी सरोकार नहीं होता है कि वह एक चयन–क्रिया में शामिल है। राजनीतिक वास्तविकता तो वोहै जो अनुभवों व मूल्यांकनों वाली उसकी दुनिया से बिल्कुल बाहर की चीज़ है। यदि वह एक चुनाव से दूसरेमें अपनी पार्टी समर्थन

बदलता/ती है तो कोई भी राजनीतिक विचार उसका पथ–प्रदर्शन नहीं करता। वह सिर्फ़स्थानीय स्तर पर राजनीतिक दलों के बीच सामाजिक व्यवस्था में परिवर्तन के प्रति अथवा उन वोट के ठेकेदारोंके अनुरोधों के प्रति अनुक्रिया कर रहा होता है, जो 'वोट–बैंकों' के इशारे पर काम कर रहे होते हैं।फिर भी एक खुली और प्रति स्पर्धात्मक व्यवस्था में, चुनाव ही वे अवसर और साधन हैं जिनके माध्यम सेव्यवस्था में तोड़–मरोड़ को दुरुस्त किया जा सकता है। चुनाव आज की सबसे बड़ी ज़रूरत को पूरा करने मेंमदद कर सकते हैं : ग़रीबों को शिक्षित करना, उन्हें राजनैतिक रूप से जागरूक करना और उस दुश्चक्रको भेदना जो ग़रीबों को वोट के ठेकेदारों, सामन्ती ज़मींदारों व बड़े पूँजीवादी वर्गों का वशवर्ती वोट–बैंकबनाता है।

6.9 चुनाव–प्रणाली के दोष

भारतीय चुनाव–प्रणाली की कार्यशैली ने अनेक दोषों व दुराचारों का सामना किया है। किसी पार्टी के लिए डालेगए वोटों और संसद में जीती गई सीटों के बीच विसंगति, राजनीतिक दलों की बहुलता, दलीय व्यवस्था मेंव्यक्ति–पूजा, जातीय व साम्प्रदायिक निष्ठाओं का शोषण, मांसल व धनशक्ति की भूमिका, सरकारी तंत्र कादुरुपयोग, मतदान–केन्द्र पर कब्जा, मतदाताओं को डराना–धमकाना व नकली मतदाता बनकर धोखा करनाजैसे कपटपूर्ण कार्य भारतीय चुनाव–प्रणाली के मुख्य दोष हैं।

चुनावी कुरीतियाँ मतदान–केन्द्रों पर बलात् कब्ज़ा करने से लेकर उन पार्टियों के युवा उग्र दलों अथवा गुण्डागुटों को चलाने तक देखी जाती हैं जो कुछ खास समुदायों को चुनाव से पूर्व निशाना बनाकर आतंकित करसकते हैं ताकि उन्हें मतदान से रोका जा सके। यहाँ तक कि चुनाव कर्मचारियों को भी गुप्त सहयोग के लिएघूस खिलायी जाती है अथवा आँख मूँदकर चुपचाप काम करने के लिए डराया–धमकाया जाता है। मतदान–केन्द्रोंपर कब्ज़ा करने जैसा दुष्कार्य 1957 के द्वितीय आम चुनाव से प्रचलन में आया, खासकर बिहार में। यहदृश्य–प्रपंच धीरे–धीरे पूरे देश में विभिन्न रूपों एवं आयामों में फैल गया।

चुनावों में मांसल शक्ति की बढ़ती आवश्यकता ने ज़्यादा पैसा लगाये जाने को भी ज़रूरी कर दिया। पहलेमतदाताओं को व्यक्तिगत रूप से घूस दी जाती थी, फिर यह ज़्यादा सुविधाजनक लगा कि मतदाताओं कोअलग–अलग पैसा खिलाने की बजाय कुछ हट्टे–कट्टे पहलवानों को खरीदा जाए जो मतदान–केन्द्र पर कब्ज़ाकरके या फिर मतदाताओं को डरा–धमकाकर जीत सुनिश्चित कर सकें। इसने राजनीति के बढ़ते आपराधीकरणतथा राजनीतिज्ञ–अपराधजगत् संबंध के आविर्भाव की ओर प्रवृत्त किया है। धीरे–धीरे, अपराधियों ने दूसरों कीमदद करने की बजाय स्वयं ही चुनाव लड़ना शुरू कर दिया। कभी–कभी राजनीतिज्ञों ने नौकरशाही का भीराजनीतिकरण ज़रूरी पाया। इस बात का अनुमान उस पैमाने से लगाया जा सकता है जिस पर अधिकांश उच्चपदाधिकारीगण किसी सरकार के बदलने के साथ ही बदल जाते हैं। ऐसा नौकरशाही को अपने अनुकूल बनानेके लिए किया जाता है ताकि वह चुनावों के दौरान शासक दल के पक्ष में काम करे। राजनीतिक प्रतिद्वंद्वियों केविषय में जानकारी एकत्र करने के लिए सरकारी तंत्र का प्रयोग किया जाता है। भाड़े पर भीड़ जुटाने,मतदाताओं के अभिलक्षित वर्गों को डराने–धमकाने, स्थानीय तनावों को जन्म देने, चुनाव–ड्यूटी पर तैनातकर्मचारियों को इच्छानुकूल कर लेने, अतिरिक्त मतदाताओं के नाम मतदाता–सूची में दर्ज करने अथवाउसमें से हटाने, आदि में सरकारी तंत्र कारगर सिद्ध होता है। वे साथ ही, बदले में, नौकरशाही को कुछपैसा बनाने देते हैं ताकि वे असुरक्षित ही रहें। इस प्रक्रिया में नौकरशाही के महत्त्वपूर्ण विभाग राजनीतिज्ञ–अपराधजगत्–नौकरशाही संबंध में एकीभूत हो जाते हैं। चुनाव–प्रक्रिया को साफ़–सुथरा बनाने के अपने प्रयासोंमें चुनाव आयोग ने चुनावों की घोषणा हो जाने के बाद स्थानांतरणों व पदोन्नतियों पर रोक लगा दी है।महत्त्वपूर्ण होते हुए भी इस कदम की उपयोगिता सीमित ही है क्योंकि नौकरशाही की अपरिवर्तनीय व्यूह–रचनाआमतौर पर बहुत पहले से ही तैयार कर ली जाती है। दुरुपयोग संबंधी अन्य प्रथाओं पर भी आदर्शआचार–संहिता के तहत रोक लगा दी गई है जो कि टी.एन. शेषन के समय से अधिक सख्ती से लागू होनेलगी है।

निर्वाचन के समय की दौड़–धूप एक खर्चीला प्रयोग होती जा रही है। भारत जैसे एक विशाल देश में यहअधिक है क्योंकि यहाँ निर्वाचन–क्षेत्र आमतौर पर आकार व जनसंख्या दोनों के लिहाज से बहुत बड़ा होता है।व्यापक निरक्षरता होने के कारण, प्रत्याशी को मतदाताओं से विस्तृत रूप से व्यक्तिगत संपर्क बनाने पड़ते हैं,जिसमें अत्यधिक व्यय होता है। वर्तमान में चुनावों का इतना खर्चीला हो जाने का एक कारण है :- राजनीतिकदलों की आम आदमी से बढ़ती दूरी। परिवहन, प्रचार व अभियान संचालकों के भरण–पोषण में ढेरों धनराशिलगती है। किसी भी कीमत पर चुनाव जीतने की इच्छा और चुनावों में मांसल शक्ति पर बढ़ते विश्वास नेराजनीतिक दलों व उनके प्रत्याशियों द्वारा संदिग्ध साधनों से जुटाये जाने वाले संशयात्मक रूप से बेहिसाब खर्चोंको आवश्यक बना दिया है।

किसी चुनाव में किये जाने वाले खर्च और खर्चों पर कानूनी रूप से स्वीकृत सीमा के बीच अन्तर भी समय केसाथ बढ़ रहा है। चुनाव–अभियान पर व्यय–सीमा निर्धारण चूँकि कम है, राजनीतिक दलों अथवा ताकतवरनेताओं के

चुनाव–कोष हेतु दानराशियों के रूप में काला धन एक प्रमाणित तथ्य बन गया है। अनुमान है किसभी चुनाव–कोषों का 90 प्रतिशत विशेष कृपा अथवा संरक्षकता पाने की उम्मीद में बड़े व्यापार–गृहों से आताहै। इससे न सिर्फ़ वित्तीय सहायता के अभाव में चुनावी स्पर्धा से योग्य और सत्यनिष्ठ स्त्री–पुरुष बाहर हो जातेहैं, बल्कि राजनीति के आपराधीकरण को भी बढ़ावा मिलता है।

6.10 चुनाव–सुधार

चुनाव–सुधारों की आवश्यकता भारत में काफ़ी पहले से ही महसूस की जा रही थी। संसद, सरकार एवं विपक्षद्वारा नियुक्त विभिन्न समितियों एवं आयोगों ने इस दिशा में कई प्रयास किए। चुनाव–सुधार हेतु इस प्रकार काबड़ा प्रयास पहली बार 1971 में किया गया, जब जगन्नाथ राव की अध्यक्षता में एक कानून–सुधार विषयक संयुक्त संसदीय समिति नियुक्त की गई, जिसने अपनी रिपोर्ट 1972 में प्रस्तुत की। 1974 में, 'सिटिजन्स फॉर डिमोक्रेसी' (सी.एफ.डी.) के अध्यक्ष की हैसियत से जयप्रकाश नारायण ने चुनाव– सुधारों के लिए न्यायमूर्ति वी.एम. तार्कुण्डे की अध्यक्षता में एक समिति गठित की। तार्कुण्डे समिति के नाम सेविख्यात् इस समिति से कहा गया कि अन्य बातों के अलावा भ्रष्टाचार के विभिन्न रूपों का सामना करने केउपाय सुझाये; जैसे :- धन और मांसल शक्ति का प्रयोग, सरकारी तंत्र का दुरुपयोग तथा डाले गए वोटों व जीतीगई सीटों के बीच असंगतता, आदि। तार्कुण्डे समिति ने अपनी रिपोर्ट फरवरी 1975 में प्रस्तुत की। इस रिपोर्ट के आधार पर, जयप्रकाश जी ने भ्रष्टाचार के खिलाफ व चुनाव–सुधारों के पक्ष में जन–आन्दोलन छेड़ दिया और 6 मार्च 1975 को संसद के दोनों सदनों के पीठासीन अधिकारियों के समक्ष जनता का घोषणा–पत्र पेश कर दिया। लोगों की आशाओं के प्रति और अधिक उत्तरप्रद होने के लिए संसद व (विधान)सभाओं से आग्रह करते हुए, इस घोषणा–पत्र में माँग की गई कि चुनाव–सुधारों पर संयुक्त संसदीय समिति की निर्विरोध अनुशंसाओं को बिना किसी देरी के लागू किया जाये।

1977 में सत्ता संभालने के बाद जनता पार्टी ने तत्कालीन केन्द्रीय गृह–मंत्री चरण सिंह के नेतृत्व में चुनाव–सुधारों पर एक मंत्रिमण्डलीय उप–समिति गठित की। साथ ही, मुख्य चुनाव आयुक्त यामलाल शकधर ने चुनाव–खर्चों से लेकर मतदान–केन्द्र कब्ज़ाने तक से संबंधित विभिन्न मुद्दों पर महत्त्वपूर्ण सुझाव दिये। मतदान–योग्य आयु 21 से घटाकर 18 वर्ष करने संबंधी सहमति तैयार करने में भी सफलता मिली। परन्तु किसी भी चुनाव–सुधार के लागू होने से पहले ही जनता पार्टी सरकार गिर गई।

जनवरी 1990 में विश्वनाथ प्रताप सिंह के समय में राष्ट्रीय मोर्चा सरकार ने तत्कालीन विधिमंत्री दिनेशगोस्वामी के नेतृत्व में चुनाव–सुधारों पर एक और समिति गठित की। इस समिति ने प्रशंसनीय एवं अविलम्बकार्य किया और मई 1990 में अपने रिपोर्ट पेश कर दी। उसमें सुझाये गए प्रस्तावों के आधार पर, सरकार नेउसकी सिफ़ारिशों को कार्यरूप देने के लिए संसद में चार विधेयक प्रस्तुत किए। परन्तु इन विधेयकों पर कानून बनने से पहले ही यह सरकार भी गिर गई।नरसिम्हा राव सरकार ने दो विधेयकों :-83वाँ संशोधन विधेयक, 1994 तथा द्वितीय जन–प्रतिनिधित्वसंशोधन विधेयक, 1994 :- को पारित कराने के लिए संसद का एक विशेष सत्र बुलाया। बहरहाल, ये विधेयक प्रस्तुत होने से पहले ही वापस ले लिये गए। संयुक्त मोर्चा गठबंधन सरकार को जुलाई 1996 में द्वितीयजन–प्रतिनिधित्व संशोधन अधिनियम को कानून बनाने में सफलता मिल गई। इस अधिनियम के मुख्य प्रावधान इस प्रकार हैं :-

1) प्रत्याशियों को एक बार में दो सीटों से चुनाव लड़ने की अनुमति नहीं होगी।

2) जमानत राशि 500 रुपये से बढ़ाकर दस गुना यानी 5000 रुपये करके संसदीय व विधानसभा चुनावोंमें भाग लेने वाले अगंभीर प्रत्याशियों को रोक दिया जाएगा।

3) किसी प्रत्याशी की मृत्यु हो जाने की स्थिति में चुनाव की पूर्व सूचना रद्द नहीं की जायेगी। यदि यह किसी मान्यताप्राप्त राजनीतिक दल का प्रत्याशी हुआ तो पार्टी को अधिकार होगा कि सात दिनों के भीतर उसके स्थान पर नया नाम दे सके। स्वतंत्र प्रत्याशी होने की स्थिति में इस प्रकार का प्रतिस्थापन नहीं होगा।

4) अभियान अवधि 21 दिन में घटाकर 14 दिन कर दी गयी है।

सुधार आरंभ में हालाँकि बहुत कम हैं, वे चुनावी तंत्र एवं प्रक्रिया को अधिक खुले और व्यापक रूप से उलट–पुलट डालने का रास्ता प्रशस्त कर सकते हैं। चुनाव–सुधार के लिए निम्नलिखित उपाय सुझाये जा सकते हैं :

6.10.1 चुनाव–प्रणाली में परिवर्तन

किसी चुनाव–प्रणाली को वस्तुतः आदर्श–रूप होना चाहिए। यद्यपि, वर्तमान व्यवस्था में डाले गए वोटों और जीतीगई सीटों के बीच काफ़ी बड़ा अंतर होता है, जहाँ कि किसी भी लोकसभा चुनाव में किसी भी एक दल ने कभीभी मतदान–बहुमत प्राप्त नहीं किया, परन्तु फिर भी वे पूर्ण और यहाँ तक कि अनेक बार दो–तिहाई बहुमतहासिल करने में

भी कायम रहे। गत वर्षों इस प्रणाली की कड़ी आलोचना होती रही है। इसे एकआनुपातिक–प्रतिनिधित्व प्रणाली में बदल डालने हेतु विचार व्यक्त किए गए हैं। इससे पूर्व 1970 में लालकृष्ण आडवाणी और सी.पी. भाम्भरी ने आनुपातिक प्रतिनिधित्व की वकालत की; तार्कुण्डे समिति ने 1975 में जर्मनपद्धति के रूपान्तर की सिफ़ारिश की। पूर्व–मुख्य चुनाव आयुक्त श्यामलाल शकधर और एल.पी. सिंह ने मतदानकी एक ऐसी संयुक्त प्रणाली हेतु तर्क प्रस्तुत किया जिसमें लोकसभा व राज्य विधानसभाओं में 50 प्रतिशत सीटेंतो प्रत्यक्ष मतदान द्वारा भरी जायेंगी और शेष आनुपातिक प्रतिनिधित्व के आधार पर। तार्कुण्डे समिति नेवर्तमान भारतीय पद्धति को एक जर्मन तालिका–प्रणाली से जोड़ने का भी सुझाव रखा था।

6.10.2 निर्वाचन आयोग का पुनर्गठन

एक लम्बे समय से चुनाव–सुधारों की वकालत करने वाले मूल प्रस्तावों में एक था चुनाव आयोग को एकबहु–दलीय निकाय बनाने सम्बन्धी प्रस्ताव। तार्कुण्डे और गोस्वामी समितियों ने तीन–सदस्यीय चुनाव आयोग कासमर्थन किया। अधिकतर मुख्य चुनाव–आयुक्तों ने इसका विरोध इस आधार पर किया कि चुनावी मामलों मेंकभी–कभी तत्काल निर्णय लेने पड़ते हैं, बहु–सदस्यीय आयोग होने से इसमें बाधा पड़ सकती है। संविधानसंशोधन अधिनियम, 1993 एवं सर्वोच्च न्यायालय के 1995 के फैसले के साथ ही, बहु–सदस्यीय आयोग एकअदद हक़ीकत बन गया। बहरहाल, जिस तरीके से चुनाव आयुक्त नियुक्त किये जाते हैं और अनुच्छेद 324–एके तहत बहुमत–निर्णय का प्रावधान है, यह संदेह पैदा होता है कि कार्यकारी निर्वाहक इतनी संख्या में चुनावआयुक्त नियुक्त कर सकता है जितने कि बहुमत तैयार करने के लिए पर्याप्त हों, और इस प्रकार वह आयोगके निर्णय पर नियंत्रण रख सकता है। मुख्य चुनाव आयुक्त व चुनाव आयुक्तों की नियुक्ति से पूर्व भारत के मुख्यन्यायाधीश और नेता–प्रतिपक्ष की सलाह लेने संबंधी एक वैधानिक वा छनीयता चुनाव आयोग के एक निर्दलचरित्र को सुनिश्चित कर सकता है। सरकार द्वारा सभी सेवानिवृत्ति–पश्चात् नियुक्तियों पर रोक लगाये जानेके परिणामस्वरूप सही रास्ते से हटकर सरकार को खुश करने वाली मुख्य चुनाव आयुक्त व चुनाव आयुक्तोंकी प्रवृत्ति एवं संभावना का खात्मा होगा।पैसे के बढ़ते प्रस्ताव और इतर प्रदर्शन पर नियंत्रण रखने के लिए चुनाव–खर्चों पर न्यायसंगत सीमानिर्धारणकरने के लिए कानून बनना चाहिए और ऐसे कानून का सख्ती से पालन सुनिश्चित होना चाहिए, जैसा कि मुख्यचुनाव आयुक्त के रूप में टी.एन. शेषन के कार्यकाल में किया गया। चुनावों के लिए राजकीय कोष से धन दियाजाना, जिसकी सिफ़ारिश चुनाव–सुधार विषयक सभी समितियों द्वारा की गई है, शुरू किया जाना चाहिए ताकिचुनावों में धन का संकट समाप्त हो। बढ़ते आपराधीकरण और हिंसा को रोकने के लिए चुनावी प्रसंग से सिद्धआपराधिक रिकार्ड वाले व्यक्तियों को बाहर रखने संबंधी चुनाव आयोग के प्रस्ताव को लागू किए जाने कीतत्काल आवश्यकता है। आदर्श आचार–संहिता सख्ती से लागू की जानी चाहिए। धीरे–धीरे, प्रत्याशियों को वापसबुलाने संबंधी और उन्हें अस्वीकार करने संबंधी मतदाताओं के अधिकार को अमल में लाने के लिए कारगरमाध्यम और साधन अवश्य ढूँढे जाने चाहिए।

6.10.3 धन और मांसल शक्ति के दुष्प्रभावों का उन्मूलन

चुनाव–प्रक्रिया महज कानूनी उपायों द्वारा साफ़–सुथरी नहीं बनायी जा सकती। चुनाव–प्रक्रिया इस राजनीतिकव्यवस्था की राजनीतिक संस्कृति द्वारा प्रभावित और निर्धारित होती है, जो वैधानिक अधिनियमों द्वारा पुनर्रूपायितनहीं की जा सकती। प्रबुद्ध नागरिक जो राजनीतिक मूल्यों को कायम रखने व उनका उल्लंघन करने वालोंको दण्डित करने के लिए तैयार हों, चुनावी राजनीति को स्वच्छ बनाने हेतु एक प्रभावी साधन सिद्ध हो सकतेहैं। मध्यस्थ राजनीतिक व नागरिक संस्थाओं, जिनकी समाप्ति ने चुनावी कदाचार को बढ़ाया है, को प्रोत्साहनदिया जाना भी चुनाव–प्रक्रिया की कमियों को दूर करने में प्रभावी सिद्ध हो सकता है। तथापि, दृढ़ राजनीतिकइच्छाशक्ति और जनता की पहलकारी की आवश्यकता है, ताकि निर्वाचक को उन अनेक दोषों से मुक्त करायाजा सके जिनसे वह ग्रस्त है।

6.11 सार–संक्षेप

इस इकाई में हमने राजनीतिक व्यवस्था में जनता की भागीदारी सुनिश्चित करने और लोकतंत्र को मज़बूतकरने में चुनाव की भूमिका पर चर्चा की। यदि मतदान स्वतंत्र और निष्पक्ष न हो तो चुनाव लोकतंत्र कोकमज़ोर भी कर सकते हैं। इसी कारण, हमारे संविधान–निर्माताओं ने निष्पक्ष चुनाव–तंत्र की व्यवस्था दी है,जो संघ व राज्य विधानसभाओं तथा राष्ट्रपति व उप–राष्ट्रपति हेतु चुनाव करवाने के लिए कार्यपालिका केनियंत्रण से मुक्त है। भारत में चुनाव व्यापक स्तर पर एक अनुष्ठान है जिसमें लाखों मतदाता, चुनावकर्मचारीगण और सुरक्षाकर्मी, आदि शामिल होते हैं। चुनाव मनोरंजन और उत्तेजना से भरपूर त्योहारों कीमानिंद हैं।भारत में चुनाव जटिल राजनीतिक प्रक्रिया हैं। उन्होंने अशिक्षित और अर्ध–शिक्षित मतदाताओं वाली विशालमानव–जाति के लिए जनसाधारण का राजनीतिकरण और सरकार की संसदीय प्रणाली का सरलीकरण किया है।जाति, सम्प्रदाय, धर्म, भाषा, क्षेत्र, आदि चुनावी व्यवहार के मुख्य निर्धारक तत्त्व हैं। तथापि, जाति

चुनाव मेंसबसे महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाती है। विभिन्न राजनीतिक दल प्रक्रियाओं को संबद्ध चुनाव–क्षेत्र की जातीयसंरचना के आधार पर नामज़द करते हैं और मतदातागण जाति के आधार पर ही संघटित किए जाते हैं। चुनावके बाद भी जाति को मंत्रिमण्डल के गठन में यथेष्ट सम्मान दिया जाता है। इस प्रकार, भारतीय चुनाव कोनिर्वाचन में जाति की भूमिका को भली प्रकार समझे बगैर नहीं समझा जा सकता।भारत में चुनावों को धन व मांसल शक्ति के दुष्प्रभाव द्वारा विकृत रूप प्रदान कर दिया गया है। इसने चुनावीराजनीति के आपराधीकरण की ओर प्रवृत्त किया है। पहले अपराधी लोग बाहर से समर्थन दिया करते थे, परन्तुअब वे खुद ही चुनाव के अखाड़े में उतर चुके हैं और न सिर्फ़ सदन के सदस्य हैं बल्कि मंत्री तक बन गए हैं।

इस प्रकार, भारतीय राजनीति में अब 'दाग़ी मंत्रियों' की दृष्टघटना को देख रहे हैं। इस ास को रोकने के लिए,चुनाव–सुधारों हेतु अनेक समितियाँ व आयोग गठित किए गए हैं। इन समितियों ने अनेक उपाय सुझाये हैं; उनमेंसे कुछ अपनाये भी गए हैं। परन्तु अब भी, इस क्षय को रोकने के लिए काफ़ी कुछ किया जाना है। तथापि,कानून अकेले चुनाव–व्यवस्था को स्वच्छ नहीं कर सकता। सतर्क जनमत की भी आवश्यकता होती है। लोगोंको चुनाव–प्रक्रिया की रुग्णता को विषय में प्रभावग्रहणशील बनाना होगा। तब ही, स्वतंत्र एवं निष्पक्ष मतदानकराया जा सकता है, जो कि भारत में लोकतंत्र को मज़बूत बनाये जाने की ओर अग्रसर करेगा।

6.12 अभ्यास

1) लोकतंत्र में चुनाव की भूमिका पर आलोचनात्मक दृष्टि डालें और स्वतंत्र एवं निष्पक्ष मतदान कराने मेंभारतीय चुनाव आयोग की भूमिका का मूल्यांकन करें।
2) भारत में चुनावी व्यवहार के मुख्य निर्धारक तत्त्व क्या हैं? मतदान व्यवहार के एक निर्धारक तत्त्व के रूपमें जाति की भूमिका पर आलोचनात्मक चर्चा करें।
3) चुनाव सुधार क्या हैं? चुनाव सुधारों के लिए किए गए विभिन्न प्रयासों पर चर्चा करें।
4) चुनाव में धन और मांसल शक्ति की बढ़ती भूमिका को स्पष्ट करें। इसकी आसन्न विपत्ति को रोकने केलिए क्या कदम उठाये जा सकते हैं?
5) राजनीतिज्ञ–अपराधजगत्–नौकरशाही संबंध और भारत में चुनाव–प्रक्रिया पर इसके प्रभाव को स्पष्ट करें।

अध्याय–7
दल और दलीय व्यवस्था

अध्याय की रूपरेखा

7.1 प्रस्तावना

7.2 क्षेत्रीय व राज्यीय दल

7.3 भारतीय राज्यों में दलीय व्यवस्था

7.3.1 कांग्रेस का शासनकाल

7.3.2 कांग्रेस पद्धति का पतन : 1967–1989

7.4 राज्यीय दल पद्धति के विखण्डन की ओर : 1989 से आगे

7.5 सार–संक्षेप

7.5 अभ्यास

7.1 प्रस्तावना

किसी भी लोकतंत्र में दलीय पद्धति का तात्पर्य राजनीतिक दलों के बीच अन्तर्क्रिया एवं स्पर्धा के प्रतिमान से होताहै। भारत में राजनीतिक दलों के बीच अन्तर्क्रिया एवं स्पर्धा के प्रतिमान ने बहु–दलीय प्रणाली को आमंत्रण दियाहै। दलीय पद्धति संबंधी इस प्रकार का लक्षण–वर्णन जैसा कि अब किया जाता है, कुछ दशक पूर्व के लक्षण–वर्णनके मुकाबले कहीं अधिक सटीक है। तब जो था वह कांग्रेस पार्टी का पापातीत आधिपत्य ही था और इसकालक्षण–वर्णन कोठारी एवं जोन्स द्वारा एक 'प्रबल दलीय पद्धति' के रूप में किया गया था यथा एक बहुदलीयपद्धति, जिसमें राजनीतिक दलों के बीच खुली होड़ जहाँ–तहाँ पायी तो जाती थी पर भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस हीथी जो हमेशा प्रबल स्थिति में रहती थी :- संसद व राज्य विधानसभाओं में अपने द्वारा हासिल सीटों की संख्याके लिहाज से भी और अपनी असीम संगठनात्मक शक्ति के लिहाज से भी। कोठारी ने 'कांग्रेस व्यवस्था'(Congress System)शब्द गढ़ा और जोन्स ने इसे 'कांग्रेस–शासित व्यवस्था' (Congress DominatedSystem)कहा।

हाल के वर्षों में दलीय पद्धति में अत्यधिक परिवर्तन हुए हैं। ये परिवर्तन 1967 से आगे होने शुरू हुए परन्तुये अस्सी के दशकोत्तर और 1990 के दशकारंभ से ही काफी अधिक सुनिर्दिष्ट हो गए हैं। दलीय पद्धति एक–दलप्रभुत्व पद्धति से दूर एक बहु–दलीय प्रणाली में आ पहुँची है। इसका उल्लेख एक संघीकृत दल–पद्धति अथवा एकगठबंधनात्मक दल–पद्धति के रूप में किया जाता है। इस दलीय पद्धति की पहचान है :- एक अवनत कांग्रेसपार्टी की विद्यमानता, भारतीय जनता पार्टी (भा.ज.पा.) की एक महत्त्वपूर्ण लेकिन अपर्याप्त बढ़वार और राष्ट्रीयराजनीति में क्षेत्रीय व राज्यीय दलों की शक्ति में वृहद् रूप से वृद्धि। हम इस इकाई में मुख्य तौर पर उन दलीयपद्धतियों से खुद को जोड़ेंगे जो भारतीय संघ में राज्य स्तर पर उभरी और विकसित हुई थीं। परन्तु ऐसा करनेसे पहले हम क्षेत्रीय व राज्यीय दलों पर एक सरसरी दृष्टि डालेंगे क्योंकि हाल के वर्षों में वे वृहद् रूप से बढ़े हैंऔर अब अनेक भारतीय राज्यों में दलीय पद्धति को आकार प्रदान करने में एक निर्णायक भूमिका निभाते हैं।

7.2 क्षेत्रीय व राज्यीय दल

आरम्भ में जो प्रश्न सामने आता है वो है :- एक क्षेत्रीय और एक राज्य–आधारित दल को कैसे परिभाषित कियाजाए? यद्यपि चुनाव आयोग द्वारा दी गई दल विषयक परिभाषा शैक्षिक क्षेत्रों में व्यापक रूप से स्वीकार की जातीहै, आयोग 'क्षेत्रीय दल' शब्द का प्रयोग नहीं करता। इसकी बजाय वह 'राज्यीय दल' (state parties)शब्दप्रयोग करता है। वह राजनीतिक दलों को तीन श्रेणियों में रखता है :- राष्ट्रीय, राज्यीय एवं पंजीकृत दल।

राज्यीय दल संबंधी उसकी परिभाषा सर्वाधिक विस्तृत है। इस परिभाषा में किसी दल को एक राज्यीय दल पुकारेजाने के लिए उसे कम से कम पाँच वर्षों से राजनीतिक गतिविधियों में लिप्त होना चाहिए और किसी आम चुनावमें चार प्रतिशत सीटें अथवा किसी राज्यीय–चुनाव में तीन प्रतिशत सीटें जीती होनी चाहिए। इसके अतिरिक्त,उसे पड़े वोटों के छह प्रतिशत का समर्थन हासिल होना चाहिए।

राष्ट्रीय दल संबंधी अपनी परिभाषा में वहकहता है :- एक दल जो चार अथवा अधिक राज्यों में राज्यीय दल के रूप में मान्यता प्राप्त हो, राष्ट्रीय दलहै।

एक पंजीकृत दल ऐसा दल है जो न तो राज्यीय दल के रूप में मान्यता प्राप्त है और न ही राष्ट्रीय दलके रूप में, प्रत्युत चुनाव आयोग के पास पंजीकृत है। ऐसे दलों को असंगठित दल भी कहा जाता है।

यह परिभाषा जो कि एक क्षेत्रीय दल के संबंध में चुनाव आयोग द्वारा दी गई है, वस्तुतः संतोषजनक नहीं है।चूँकि यह परिभाषा एक राजनीतिक दल के पिछले प्रदर्शन को महत्त्व देती है, शिक्षाशास्त्रियों द्वारा कोई उचितपरिभाषा के रूप में नहीं ली जाती। वे उन दलों को महत्त्व देते हैं जिनके आधार एवं गतिविधियाँ एकराज्य–विशेष तक ही सीमित क्षेत्रीय दल हैं और जड़ें क्षेत्रीय आकांक्षाओं के साथ–साथ शिकायतों में निहित हैं।एक क्षेत्रीय दल का समर्थनाधार किसी राज्य–विशेष तक ही सीमित होता है क्योंकि वह अपनी पहचान संबद्धक्षेत्र की संस्कृति, भाषा, धर्म, आदि के साथ ही बनाता है। वह क्षेत्रीय परिप्रेक्ष्य को केन्द्र व अक्सर अन्य राज्योंकी तुलना में भी प्रस्तुत करता है। ये दल चुनावी फ़ायदों के लिए 'क्षेत्र' एवं 'भाषा' का प्रभावपूर्ण रूप से प्रयोगकरते हैं। किसी राजनीतिक दल को एक क्षेत्रीय दल के रूप में मान्यता प्राप्त करने के लिए तीन विशिष्टकसौटियों पर खरा उतरना चाहिए। प्रथम, एक क्षेत्रीय दल अपनी गतिविधि का क्षेत्र एक क्षेत्र मात्र तक हीसीमित रखता है, जिसका अर्थ वर्तमान भारतीय परिस्थिति में राज्य होता है। दूसरे, इस प्रकार के दलआदर्श–स्वरूप एक क्षेत्र–आधारित न जातीय अथवा धार्मिक–सांस्कृतिक पहचान को सुस्पष्ट करते हैं और उसकापक्ष लेने का प्रयास करते हैं। और तीसरे, अपने नितान्त स्वभाववश से क्षेत्रीय दल मुख्य तौर पर स्थानीय अथवाराज्य–स्तरीय शिकायतों से ही मतलब रखते हैं।

कुछ विद्वजनों के बीच एक प्रवृत्ति देखी जाती है कि वे क्षेत्रीय दलों में कुछ ऐसे दलों को भी शामिल करते हैंजो एक अखिल भारतीय परिदृश्य तो रखते ही हैं परन्तु खुद एक राज्य तक ही सीमित रहते हैं, जैसे पश्चिमीबंगाल में फॉरवर्ड ब्लाक (एफ़.बी.) अथवा महाराष्ट्र में वर्कर्स एण्ड पैजन्ट पार्टी। ऑलिवर हैथ एवं योगेन्द्र यादवइन दलों को ऐसे क्षेत्रीय दलों के रूप में लेते हैं जिनके सामाजिक आधार एक या दो राज्यों तक ही सीमित होतेहैं। इस परिभाषा में बुनियादी समस्या यह है कि वह दलों की विचारधारा पर ध्यान नहीं देती है। वह सिर्फ़ किसीदल के सामाजिक आधार एवं उसके संचलन क्षेत्र पर ही ध्यान देती है।

7.3 भारतीय राज्यों में दलीय व्यवस्था

भारत में राज्यीय दल पद्धतियाँ राष्ट्रीय दल पद्धति से निकट संबंध और अन्तर्क्रिया के साथ विकसित हुई हैं।राज्यीय दल पद्धति और राष्ट्रीय दल पद्धति के बीच संबंधों की सघनता को हाल के वर्षों में कुछ पर्यवेक्षकों द्वारा'राज्यीय दल–पद्धतियों का सम्मिलन' नाम दिया गया है। यह, हालाँकि, इस बात को ध्यान में रखते हुए है किभारत में विभिन्न राज्य हैं। राष्ट्रीय दल पद्धति में परिवर्तनों ने राज्यीय दल पद्धतियों को प्रभावित किया है, औरबदले में राज्य स्तर पर दलीय प्रतिस्पर्द्धा की प्रकृति में हुए परिवर्तन ने राष्ट्रीय दल पद्धति को बेहद प्रभावितकिया है। दूसरी घटना, वैसे, हाल के वर्षों में भारतीय राजनीति में क्षेत्रीय व राज्यीय दलों की आश्चर्यजनक वृद्धिके कारण अधिक सुस्पष्ट रही है। इस पाठांश में हम इस रूप परिवर्तन को समझने का प्रयास करेंगे जो हालके वर्षों में राज्यीय दल पद्धतियों में देखने में आया है।

7.3.1 कांग्रेस का शासनकाल

सन् 1964 से पहले भारत में दलीय पद्धति एक कांग्रेस शासन–पद्धति के रूप में रही है। इसका उल्लेख''कांग्रेस–शासित पद्धति'' अथवा ''कांग्रेस पद्धति'' के रूप में भी किया गया है। चौथे आम चुनावों तक, जो 1967 में कराए गए, भारत में राज्यीय दल पद्धति पर, राष्ट्रीय दल पद्धति की भाँति, कांग्रेस पार्टी की अत्यधिक विद्यमानता ही छायी रही थी। कांग्रेस पार्टी का लगभग सभी राज्यों में प्रभुत्व था। परन्तु कांग्रेस का प्रभुत्व सभी राज्यों में एकसमान नहीं था। कांग्रेस को, उदाहरण के लिए, उन पूर्व–राजसी राज्यों में दुस्साध्य प्रतिस्पर्द्धा का सामना करना पड़ा जो भारतीय संघ में 1947 के बाद सम्मिलित हुए जबकि अन्य राज्यों में उसका प्रायः अनिंद्य आधिपत्य था। जम्मू–कश्मीर को छोड़कर, जहाँ नेशनल कॉन्फ्रेंस की दंबंग मौज़ूदगी कायम थी, उसने लगभग सभी राज्यों पर राज किया। केरल भी एक अपवाद था क्योंकि 1957 में हुए द्वितीय आम चुनावों में भारतीय कम्युनिस्ट पार्टी विजयी होकर उभरी थी और दो वर्षों उसने अपने मित्र घटकों को लेकर तब तक सरकार बनाए रखी जब तक कि वह 1959 में यथेच्छ रूप से भंग नहीं हो गई।

कुछ आँकड़ों पर एक सरसरी दृष्टि उपर्युक्त बात को समझने में मदद करेगी। कांग्रेस एक ऐसी प्रबल शक्ति थी कि उसने 1952, 1957 व 1962 में कराये गए लोकसभा व राज्य विधानसभाओं के लगभग सभी चुनावों में सुखद बहुमत हासिल किया। यद्यपि उसे लोकसभा चुनावों में कभी भी 48 प्रतिशत से अधिक वोट नहीं मिले (उच्चतम रहा :-1957 में

47.78 प्रतिशत), सीटों के लिहाज से उसने हमेशा सुखद बहुमत हासिल किया (1952 में 364 सीटें, 1957 में 371 सीटें, और 1962 में 361 सीटें)। राज्य विधानसभाओं में, एक– आध को छोड़कर, उसने लगभग सभी विधानसभा चुनावों में सुखद बहुमत हासिल किया। उसे 1952 में 42.2 प्रतिशत वोट व 68.4 प्रतिशत सीटें, 1957 में 44.97 प्रतिशत वोट व 64.9 प्रतिशत सीटें, और 1962 में 43.65 प्रतिशत वोट व 61.3 प्रतिशत सीटें हासिल हुईं। इस प्रकार, चुनावी आँकड़े दर्शाते हैं कि विधानसभा चुनावों में कांग्रेस का प्रदर्शन लोकसभा चुनावों की बनिस्वत थोड़ा खराब रहा। इसका कारण था उस विपक्ष द्वारा किए जाने वाले विरोध की प्रकृति, जिसमें राज्यीय व क्षेत्रीय संघटन शामिल थे। विधानसभा चुनावों हेतु कांग्रेस का प्रतिपक्ष लोकसभा चुनावों हेतु उसके प्रतिपक्ष के मुकाबले कहीं अधिक प्रचण्ड था।

चलिए, विधानसभा चुनावों में उसके प्रदर्शन का संदर्भ लेते हुए कुछ भारतीय राज्यों में आधिपत्य की इस स्थिति पर एक संक्षिप्त चर्चा करते हैं। 1952 व 1962 के मध्य उत्तरप्रदेश विधानसभा चुनावों में पार्टी ने 47.9 व 36.3 प्रतिशत के बीच मत प्राप्त किए। उसका कुल 430 सीटों में से 249 के बीच सीटों पर कब्जा हुआ।बिहार में, इसी अवधि में पार्टी ने 41.4 प्रतिशत व 58.1 प्रतिशत के बीच वोट हासिल किए, पर सीटें 72.2 प्रतिशत से 58.1प्रतिशत के बीच ही रहीं। इसी प्रकार, पश्चिम बंगाल में कांग्रेस ने 38.9 व 47.3 प्रतिशत केबीच वोट और 63 प्रतिशत से 62.3 प्रतिशत तक सीटें हासिल कीं। आंध्र प्रदेश में, राज्य बनने के बाद उसे1955–57 व 1962 में 41.7 प्रतिशत से 47.3 प्रतिशत के बीच वोट मिले और 187 से 177 सीटें (कुल 300 में से)। तमिलनाडु में पार्टी ने 1957 व 1962 के विधानसभा चुनावों में एक मज़बूत स्थिति कायम की। उसे 45.3 प्रतिशत व 46.1 प्रतिशत के बीच वोट हासिल हुए और 67.4 प्रतिशत से 73.6 प्रतिशत तक सीटों परकब्ज़ा। महाराष्ट्र में, 1952 व 1962 में पार्टी को 48.7 प्रतिशत से 51.2 प्रतिशत तक वोट हासिल हुए।

तदनुसार यह स्पष्ट है कि कांग्रेस पार्टी ने भारतीय संघ में राज्यों की चुनावी राजनीति में अपनी स्थिति मज़बूत बनाकर लाभ उठाया, फिर भी वह वोटों का बहुमत हासिल करने में मुश्किल से ही सक्षम रही। वस्तुतः, उसने एक विखण्डित विपक्ष के मुकाबले वोटों के बाहुल्य के आधार पर सभी राज्यों की विधानसभाओं में सीटों का बहुमत हासिल किया।

7.3.2 कांग्रेस पद्धति का पतन : 1967–1989

राज्यों में कांग्रेस का आधिपत्य 1960 के दशक–मध्य से छिन्न–भिन्न होना शुरू हो गया; 1967 के चौथे आम चुनावों ने इस परिवर्तन के तीव्रीकरण को दर्शाया। तदोपरांत राज्यों में जो दलीय पद्धति उभरी और 1989 तक चली उसका उल्लेख एक ऐसी द्विध्रुवित पद्धति के रूप में किया जा सकता है जिसमें एक निःशेष कांग्रेस पार्टी का मुकाबला अधिकांश राज्यों में एक संगठित विपक्ष से था। 1967–1989 की अवधि में आम चुनावों के लिए राज्यों में द्विध्रुवीकरण का निम्नलिखित प्रतिमान देखा गया। मध्य प्रदेश, राजस्थान, हिमाचल प्रदेश व दिल्ली में स्पर्द्धा कांग्रेस व भारतीय जन संघ/भारतीय जनता पार्टी के बीच थी। केरल, त्रिपुरा व पश्चिम बंगाल में स्पर्द्धा कांग्रेस व वाममोर्चा के बीच रही। पंजाब, जम्मू–कश्मीर, आंध्र प्रदेश, असम व गोवा में एक कांग्रेस–क्षेत्रीय दलों के नेतृत्व वाला गठबंधन उभरा, हालाँकि भाजपा ने भी यथेष्ट लाभ लिया था। उत्तर–पूर्वी राज्यों में यह स्पर्द्धा खासकर कांग्रेस व विभिन्न क्षेत्रीय दलों अथवा उनके सहयोगी दलों के बीच थी। तमिलनाडु में स्पर्द्धा मुख्यतः द्रुमुक मुनेत्र कड़गम व ऑल इण्डिया अन्ना द्रुमुक मुनेत्र कड़गम के बीच रही है। अंततः, सात प्रमुख राज्यों :- उड़ीसा, महाराष्ट्र, उत्तर प्रदेश, बिहार, हरियाणा, गुजरात व कर्नाटक कांग्रेस ने प्राधान्य बनाये रखा। बहरहाल,कहा जा सकता है कि इन राज्यों में भी विपक्ष मजबूत हो गया, जैसा कि हम आगे देखेंगे।

जहाँ तक कि विधानसभा चुनावों का संबंध है, 1967 के पश्चात् द्विध्रुवीकरण का निम्नलिखित प्रतिमान उभरा।हम देख सकते हैं कि कांग्रेस पार्टी के वोट संसदीय चुनावों की अपेक्षा विधानसभा चुनावों में कहीं अधिक प्रभावीरूप से घटे। मध्यप्रदेश, राजस्थान, हिमाचल प्रदेश व दिल्ली में ग़ैर–कांग्रेसी वोट भारतीय जन संघ/भारतीयजनता पार्टी के पक्ष में जुटे। परवर्ती दूसरे सबसे महत्त्वपूर्ण पार्टी के रूप में उभरी। तमिलनाडु में मुख्यमुकाबला द्रविड़ पार्टियों के बीच था। पंजाब, जम्मू–कश्मीर, असम व गोवा में एक कांग्रेस–क्षेत्रीय दल द्विध्रुवीकरणअस्तित्व में आया। इस प्रकार, उत्तर पूर्व में भी एक कांग्रेस–क्षेत्रीय दल द्विध्रुवीकरण अस्तित्व में आया, यद्यपि यहाँके क्षेत्रीय दल बहुत अस्थिर थे। अन्ततः, सात राज्यों :- उत्तर प्रदेश, उड़ीसा, बिहार, हरियाणा, गुजरात,महाराष्ट्र व कर्नाटक में कांग्रेस प्रायः प्रभुत्व में रही।

चलिए, देखते हैं कि ये बदलाव किस प्रकार आये। हम खासकर उस दलीय पद्धतियों का हवाला देंगे जिन्हें हमराज्य विधानसभा चुनावों में देखते हैं। पहले यह देखने में आया कि कांग्रेस ने, कुछ राज्यों को छोड़कर, संसदीयअथवा विधानसभा चुनावों में से किसी भी 50 प्रतिशत से अधिक वोट कभी हासिल नहीं किए, बल्कि सीटों केलिहाज से हमेशा विशाल बहुमत जुटाए। यह इस बात का संकेत है कि यद्यपि कांग्रेस के सामने एक सार्थक विपक्षराज्य–स्तर पर अपनी स्थितियों में विखण्डन के कारण और ''पूर्ण बहुमत हो न हो, ज़्यादाजीतो'' से जुड़े नियम की वजह से ही टिका था, सीटों के लिहाज से कांग्रेस हमेशा ही विजयी होकर उभरी।

1967 के चुनाव में दरअसल विपक्ष में इस फूट को, कम से कम एक अस्थाई अवधि के लिए ही सही, समाप्त कर दिया। 1967 पश्चात् काल में एक के बाद एक राज्यों में कांग्रेस–विरोधी गठबंधनों का उदय देखा गया और इसने खासकर विधानसभाओं के लिए होने वाली स्पर्द्धाओं की प्रकृति में बदलाव ला दिया। यह घटनाक्रम भारतीय संघ के सोलह में से कम से कम आठ राज्यों में कांग्रेस की पराजय में परिणत हुआ। संसदीय चुनावों में कांग्रेस पार्टी को मिलने वाले वोटों में भी एक सुस्पष्ट ास देखा गया :-1962 में 44.72 से 1967 में 40.7 प्रतिशत। विधानसभा चुनावों में यह ास 43.65 से 39.96 प्रतिशत था। परिणामस्वरूप, सीटों की प्रतिशतता 61.3 से गिरकर 48.5 प्रतिशत पर आ गयी। राज्यों ने एक द्विध्रुवित पद्धति अपना ली, मुख्य प्रतिस्पर्द्धी थे :- कांग्रेस व अनेक प्रमुख भारतीय राज्यों में प्रायः एक संगठित विपक्ष। यह पद्धति लगभग 1980 के दशकांत तक चलती रही, हालाँकि समय–समय पर (उदाहरणार्थ, 1971 व 1972 में) कांग्रेस केन्द्र में, व कुछहद तक राज्य स्तर पर, अपनी प्रबल स्थिति फिर से कायम करने में सक्षम रही।

हम यह भी देखते हैं कि 1970 के दशकारंभ में कांग्रेस एक छोटी–सी अवधि के लिए 1972 के बाद वापस लौटने में सक्षम थी। यह स्थिति उक्त दशक के उत्तरार्ध में शीघ्र ही समाप्त हो गई।

चलिए, सत्तर के दशक से शुरू कर कुछ प्रमुख भारतीय राज्यों में दलीय स्पर्द्धा की प्रकृति एवं प्रतिमान पर एक विहंगम दृष्टि डालते हैं। यह हमें उक्त बात को बेहतर समझने में मदद करेगा। उत्तरी भारत, यथा उत्तर प्रदेश में, कांग्रेस 1974 के विधानसभा चुनावों से आगे कभी भी 40 प्रतिशत से अधिक वोट हासिल करने में सक्षम नहीं रही; यहाँ तक कि 1985 के चुनावों में भी, जो कि 1984 के संसदीय चुनावों के बाद कराए गए थे, जिसमें कांग्रेस ने भारी बहुमत से जीत हासिल की थी। भारतीय जनसंघ/भारतीय जनता पार्टी, जनता पार्टी/तदोपरांत जनता पार्टी के विभिन्न धड़े, लोक दल आदि जैसी किसी न किसी पार्टी ने कांग्रेस के नेतृत्व को चुनौती थी। 1974 में भारतीय जनसंघ ने अपने वोटों का हिस्सा 17.1 प्रतिशत तक बढ़ा लिया और विधानसभा में 61 सीटें सुरक्षित कीं। 1977 के चुनावों में कांग्रेस को जनता पार्टी से मुँह की खानी पड़ी। यद्यपि 1980 में कांग्रेस पार्टी सत्ता में लौटी, पर वह मात्र 37.7 प्रतिशत वोट ही जुटा सकी थी, 1985 में कांग्रेस मुश्किल से 39.3 प्रतिशत वोट ही जुटा सकी, हालाँकि उसने सीटों पर बहुमत हासिल किया था। लोक दल 21.3 प्रतिशत वोट और 85 सीटें झटकने में कामयाब रहा।पश्चिम, यथा महाराष्ट्र, में कांग्रेस के आधिपत्य को तगड़ी चुनौती 1968 में मिली और तदोपरांत अस्सी के दशक–मध्य में। 1978 के विधानसभा चुनावों में इंदिरा गांधी के नेतृत्व वाली कांग्रेस को उखाड़ फेंका गया। 1985 के चुनाव में हालाँकि उसे बहुमत मिला, लगभग 24 प्रतिशत वोटों पर हक कायम करने वाले आई.सी.एस. व कुछ अन्य दल ही थे। गुजरात भी साठ के उत्तरार्ध से एक द्विध्रुवित पद्धति अपनाने के कगार पर पहुँच गया। सत्तर के दशक में इंदिरा गांधी को एन.सी.ओ. ख्भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस (संगठन), ने और 1985 के चुनावों में जनता पार्टी ने चुनौती दी। सत्तर के दशक में हुए दोनों ही चुनावों में एन.सी.ओ. ने 23 प्रतिशत से अधिक वोट हासिल किए, हालाँकि 1972 में उसकी सीटों की गिनती प्रभावशाली नहीं रही। जनता पार्टी ने 1985 में 182–सदस्यीय विधानसभा में मात्र 14 सीटों के साथ 20 प्रतिशत से कुछ कम ही वोट हासिल किए।

मध्य भारत में, देश के सबसे बड़े राज्य, मध्य प्रदेश में कांग्रेस को 1972, 1980 व 1985 में भारतीय जनता पार्टी द्वारा चुनौती दी गई। 1977 में उसे जनता पार्टी द्वारा चुनौती दी गई। भारतीय जन संघ ने 1980 में 28.7 प्रतिशत वोट हासिल किए, भारतीय जनता पार्टी ने 30.3 प्रतिशत वोट और 1985 में वह 32.4 प्रतिशत वोट हासिल करने में कामयाब रही। इससे पूर्व, 1977 के राज्य विधानसभा चुनावों में जनता पार्टी ने 47.3 प्रतिशत वोट हासिल किए थे और 230 सदस्यों को लेकर सरकार बनायी थी। बिहार में, 1972 व 1985 के बीच, कांग्रेस ने, 1985 को छोड़कर, कभी भी 35 प्रतिशत से अधिक वोट हासिल नहीं किए। उसे भा.जसं./भा.ज.पा., एन.सी.ओ., जे.एन.पी., स्वतंत्र प्रत्याशियों, लोक दल, आदि काफी चुनौती मिली। दक्षिण, यथा तमिलनाडु, में 1967 से ही दलीय स्पर्द्धा एक द्वि–दलीय स्पर्द्धा में सिमट गई :- पहले कांग्रेस व द्रमुक मुनेत्र कड़गम के बीच और फिर द्रुमुक मुनेत्र कड़गम व ऑल इण्डिया अन्ना द्रुमुक मुनेत्र कड़गम के बीच। आंध्र प्रदेश में कांग्रेस के जनमत का हिस्सा 1978 के चुनावों से घटना शुरू हो गया और 1983 से आगे एक द्वि–ध्रुवीय स्पर्द्धा में पड़ गया। पश्चिम बंगाल में कांग्रेस ने 1967 से आगे अपने प्रभुत्व की स्थिति को गँवा दिया और 1971 के चुनावों से द्वि–ध्रुवीकरण का रास्ता अपनाया लिया। इस प्रकार, संपूर्ण देश में, कुछ उपांतिक राज्यों को छोड़कर, जो कांग्रेस के शासनकाल में प्रभावी रहे थे, दलीय स्पर्द्धा की एक द्वि–ध्रुवीय पद्धति ने जन्म लिया। काफ़ी हद तक कांग्रेस पद्धति का भंग होना ही इस घटनाक्रम के पीछे प्रमुख उपादान था।

7.4 राज्यीय दल पद्धति के विखण्डन की ओर : 1989 से आगे

राष्ट्रीय व राज्यीय :- दोनों ही स्तरों पर दलीय पद्धतियाँ अस्सी के अंन्तिम वर्षों में या अधिक विशेष रूप से नब्बेके दशक से विखण्डन की ओर अग्रसर हुईं। इन विखण्डनकारी पद्धतियों के अभिलक्षण क्या हैं? राष्ट्रीय स्तरपर एक–दलीय प्रभुत्व का खात्मा हो चुका है और बहु–दलीय पद्धति की दिशा में मुहिम चल पड़ी है; जैसा किहमने पहले

पढ़ा, यह प्रवृत्ति राज्य स्तर पर 1967 में शुरू हुई। हालाँकि, राज्यों में विद्यमान पद्धतियाँ राष्ट्रीयस्तर से भिन्न हैं। अनेक राज्य द्वि–दलीय पद्धति अपनाने की ओर अग्रसर हुए हैं और संभवतः यही राज्य स्तरपर दलीय स्पर्धा का सबसे प्रमुख अभिलक्षण है।

हाल के वर्षों में राष्ट्रीय स्तर पर स्पर्धा दो परस्पर भिन्न गठबंधनों में सिमटकर रह गयी है :- एक भ.ज.पाकेनेतृत्व वाला और दूसरा कांग्रेस के नेतृत्व वाला। 'तीसरा मोर्चा' ओझल हो गया है। राज्य स्तर परस्पर्धा की प्रकृति अलग है। स्पर्धारत दल राज्य–राज्य में अलग–अलग हैं, परन्तु अधिकांश राज्यों में द्वि–दलीयपद्धति ही है। अनेक राज्यों में बहु–दलीय पद्धतियाँ हैं, जहाँ प्रमुख स्पर्धी कांग्रेस, भा.ज.पा., व राज्यीय या क्षेत्रीयदल हैं। कुछ राज्यों में स्पर्धा मुख्यतः राज्यीय या क्षेत्रीय दलों के बीच है, यद्यपि उन राज्यों में राष्ट्रीय दल भीमहत्त्वपूर्ण स्थान रखते हैं। अब हम राज्यों में इस प्रकार की पद्धतियों के उदय के पीछे छुपे कारणों को लेतेहैं। कारण अनेक हैं परंतु उनमें सबसे महत्त्वपूर्ण हैं :- राज्यों में कांग्रेस का पतन, भा.ज.पा. की उल्लेखनीयउन्नति, खासकर हिन्दी केन्द्रभूमि व कुछ अन्य राज्यों में, और तीसरे, क्षेत्रीय व राज्यीय दलों की प्रमुखता मेंवृद्धि। जैसा कि पहले उल्लेख किया गया, ये रुझान नब्बे के दशक से काफ़ी पहले शुरू हो चुके थे। चलिए, इसपूरे घटनाक्रम पर एक सरसरी निगाह डालते हैं, जो नब्बे के दशक की प्रवृत्तियों का पूर्ववर्ती है, और फिर उनदलीय पद्धतियों के विशिष्ट अभिलक्षणों की ओर रुख करते हैं जो 1989 से राज्यों में जन्मीं। कांग्रेस पार्टी का पतन राज्यों में साठ के अंतिम वर्षों में ही शुरू हो चुका था परन्तु यह अवनति अस्सी के दशकमें काफ़ी अधिक प्रबल हो गयी। हम पहले ही देख चुके हैं कि कांग्रेस जिसने दो दशकों से भी अधिक तक राज्यस्तर पर प्रभुत्व जमाये रखा, नेहरू की मृत्यु के बाद धीरे–धीरे गर्त की ओर जाने लगी। कांग्रेस का पतन पार्टीकी बागडोर इंदिरा गाँधी द्वारा संभाले जाने के बाद ज्यादा नज़र आने लगा। इस बात के लिए अनेक स्पष्टीकरणहैं। ज़ोया हसन का, उदाहरण के लिए, का कहना है कि कांग्रेस के पतन के पेचीदा कारण थे और मुख्य कारणथा अपने गठबंधन के राजनीतिक आधारों को कायम रखने में पार्टी की अक्षमता। यह सत्य है कि चुनावों केदौरान :- चाहे राज्य विधान सभा चुनावों में अथवा संसदीय चुनावों में :- निचले स्तर पर मतदाताओं कोसंघटित करने की पार्टी की क्षमता अस्सी के दशकांत व नब्बे के दशक में महत्त्वपूर्ण रूप से घट गयी। इसप्रकार, कांग्रेस अस्सी के दशक के अंतिम वर्षों से ही राज्य स्तर पर एक लघुकृत शक्ति बन गयी।वोटों और सीटों का हिस्सा, जिस पर लोकसभा में और अधिक विशेष रूप से राज्यों के विधानसभा चुनावों में,कांग्रेस का कब्ज़ा था, बीसवीं सदी के अंतिम दशक में तेजी से घट गया। कुछ प्रमुख राज्यों के विधानसभा चुनावोंमें उसका प्रदर्शन इस बात को दर्शाने में मदद करेगा। भारतीय राज्यों में सबसे बड़े राज्य उत्तर प्रदेश में कांग्रेसअपना मतांश 1993 में 15.8 प्रतिशत से गिराकर 2002 में 8.96 प्रतिशत करके एक काफ़ी लघुकृत शक्ति रही। दक्षिण भारतीय राज्यों में सबसे बड़े राज्य आन्ध्र प्रदेश में कांग्रेस 1989 में सत्ता में लौटी पर वह 1994 के चुनाव हार गयी और 2004 तक विपक्ष में रही। बिहार में कांग्रेस का मत–प्रतिशत 1990 में 24.78 प्रतिशत से औंधे मुँह गिरकर 2000 में 11.06 प्रतिशत पर आ गया और इसी अवधि में सीटें 71 से 23 रह गयीं। इसी प्रकार, महाराष्ट्र में उसने नब्बे के दशक में अपना प्रभुत्व पूरी तरह से खो दिया। 1990 में उसने 38.17 प्रतिशत वोट हासिल किए और 141 सीटें, पर 1999 में यह आँकड़े फिसल कर 27.2 प्रतिशत वोट और 75 सीटों पर आ गिरे। तमिलनाडु में कांग्रेस ने काफी पहले ही अपनी प्रबल स्थिति दो क्षेत्रीय शक्तियों :- द्रमुक मुन्नेत्र कड़गम और अन्ना द्रुमुक मुन्नेत्र कड़गम :- के हाथों गवाँ दी। इसी प्रकार, पश्चिम बंगाल में उसका पतन विभाजन और तदोपरांत तृणमूल कांग्रेस के गठन के कारण नब्बे के दशांक में काफी अधिक तीव्र रहा। 1996 में 39.45 प्रतिशत वोट और 82 सीटों के मुकाबले 2001 के चुनावों में वह मात्र 7.98 प्रतिशत वोट और 26 सीटें ही जुटा सकी।

हाल के बीते वर्षों में भा.ज.पा. का विस्तार कांग्रेस के पतन की अपेक्षा काफ़ी अधिक नाटकीय रहा हैं। इस विस्तार के मुख्य कारण रहे :- कांग्रेस का पतन, हिन्दुत्व की विचारधारा के इर्द–गिर्द आधारित उग्र संघटन रणनीति जो उसने अस्सी के दशकांत से अपनायी, और उसकी गठबंधन बनाने की रणनीति भी। राष्ट्रीय स्तर पर, लोकसभा में उसने अपनी सीटें 1984 में मात्र दो से 1988 के चुनावों में 182 सीटों तक बढ़ायीं जिसने उसे एक सत्तारूढ़ दल के शिखर पर पहुँचा दिया। 1999 में उसने इतनी ही सीटें हासिल कीं यद्यपि, अपने सहयोगी दलों के साथ, वह एक सत्तारूढ़ दल के रूप में अपनी स्थिति मज़बूत करने में वह सक्षम थी। तथापि, भ.ज.पा. का यह आगे बढ़ता काफ़िला 2004 के आम चुनावों में रुक गया।

नब्बे के दशक में, विधानसभा चुनावों में भ.ज.पा. का प्रदर्शन समान रूप से शानदार रहा। उसने कुछ प्रमुखभारतीय राज्यों में अपने वोटों और सीटों का हिस्सा बढ़ाया। बिहार में उसने 1990 में 39 सीटें व 11.61प्रतिशत वोटों के हिस्से को बढ़ाकर 2000 में 67 सीटें व 14.64 प्रतिशत वोट कर दिया। उत्तर प्रदेश में, इसीदशक में उसके वोटों और सीटों का हिस्सा लगभग उतना ही रहा (170 सीटों व 33 प्रतिशत वोटों से ऊपर),यद्यपि यह 2002 के चुनावों में घट गया। गुजरात में उसने अपना मतांश 1990 में 26.69 प्रतिशत से बढ़ाकर1998 में 44.81 प्रतिशत किया और 2002 में आगे 49.85 प्रतिशत तक कर लिया। यह बढ़त भारत के अनेकअन्य राज्यों में भी देखी गयी। कुछ अन्य राज्यों में वह या तो

अकेले सरकार बनाने में सक्षम थी, जैसे 1990में मध्य प्रदेश व हिमाचल प्रदेश में, अथवा दूसरे के साथ गठबंधन करके, जैसे 1995 में महाराष्ट्र में शिव सेना के साथ।

तीसरी अन्तर्सम्बद्ध घटना जो हाल के वर्षों में हुई, वो है राज्यों में मोटे तौर पर कांग्रेस की कीमत पर क्षेत्रीय व राज्यीय दलों का विस्तार। परिणामतः उन्होंने 1996 के चुनावों से ही राष्ट्रीय विधायिका में अपनी विधमानता बढ़ा ली है और इसके कारण वे केन्द्र स्तर पर सरकारों के बनाने–बिगाड़ने में एक बहुत महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाने लगे हैं। चुनावी आँकड़े दर्शाते हैं कि इन दलों ने लोकसभा में एक वर्धमान उपस्थिति सुनिश्चित की है।1991 में क्षेत्रीय दलों (कुछ राज्यीय दलों समेत) ने 56 सीटों पर कब्ज़ा किया जबकि 1996 में उन्होंने 137सीटों, 1998 में 161 सीटों व 1999 में 188 सीटों पर कब्ज़ा किया।

हाल के वर्षों में राज्य विधानसभाओं में उनकी संख्या में वृद्धि कहीं अधिक उल्लेखनीय रही है। 2002 में,भारतीय संघ के कम से कम 12 राज्यों में क्षेत्रीय दलों (राज्यीय दलों समेत) ने राज्य व्यवस्थापिकाओं में अपनी उपस्थिति बढ़ायी, बल्कि नब्बे के दशक में कुछ राज्यों में राज्य स्तर पर सरकारें भी गठित कीं 1995 में अपने सहयोगी दल भारतीय जनता पार्टी के साथ महाराष्ट्र में शिव सेना पहली बार सत्ता में आयी। असम गण परिषद् (ए.जी.पी.) इसी प्रकार 1996 में असम में दूसरी बार सत्ता में लौटी। जम्मू–कश्मीर में एक विशाल बहुमत के साथ 1996 में नैशनल कॉन्फ्रेंस सत्ता में आयी। नब्बे के ही दशक में तमिलनाडु में द्रविड़ पार्टियों :- द्रमुक मुन्नेत्र कड़गम और ऑल इण्डिया अन्ना द्रुमुक मुन्नेत्र कड़गम :- ने अदल–बदल कर सत्ता अपने ही हाथ में रखी। तेलुगुदेशम पार्टी (टी.डी.पी.) सत्ता में 1995 में लौटी और 2004 तक सत्तारूढ़ रही। अपने सहयोगी दल भा.ज.पा. के साथ 1997 में पंजाब राज्य में अकाली दल ने भी सरकार बनायी। इस प्रकार, ये दल नब्बे के दशक में राष्ट्रीय व राज्यीय स्तर पर उत्तरोत्तर सफल रहे।

हाल के वर्षों में, खासकर 1989 से आगे, इन अंतर्सम्बद्ध घटनाओं के कारण ही राज्यों में दलीय पद्धतियों मेंमहत्त्वपूर्ण परिवर्तन आया है। एक पद्धति, जिस पर कांग्रेस हावी थी (राष्ट्रीय दल पद्धति की ही भाँति), से यह छिन्न–भिन्न हो गयी है (द्वि–ध्रुवता वाले अभिलक्षणों के साथ)। इस छिन्न–भिन्न पद्धति में स्पर्धा मुख्यतः दो दलों के बीच होती है, वे चाहे राष्ट्रीय हों अथवा क्षेत्रीय, परंतु अन्य ऐसे भी हैं जो राज्यों की दलीय राजनीति में एक महत्त्वपूर्ण स्थान रखते हैं। हाल के वर्षों में राज्य स्तर पर स्पर्धाएँ और वे दलीय पद्धतियाँ जो परिणामस्वरूप उभरी हैं, उन्हें चार मुख्य श्रेणियों में बाँटा जा सकता है।

पहली क्षेणी में हिमाचल प्रदेश, मध्य प्रदेश, राजस्थान व गुजरात जैसे राज्य आते हैं। ये राज्य वोट और सीट संबंधी हिस्से के लिहाज से अनिवार्यतः द्वि–दलीय राज्य हैं। इस श्रेणी में शामिल हैं कृ पश्चिम बंगाल, केरल, त्रिपुरा, महाराष्ट्र एवं पंजाब जो कि अनिवार्यतः द्वि–ध्रुवीय राज्य हैं। इन राज्यों में दो गठबंधन अथवा एक–दलीय या अपेक्षाकृत छोटी पार्टियाँ दलीय राजनीति पर प्रभुत्व रखती हैं।

दूसरी श्रेणी में कर्नाटक, बिहार व उड़ीसा जैसे वे राज्य आते हैं जहाँ तीन या उससे अधिक ध्रुव हैं, हालाँकि यह लगता है कि भविष्य में यह श्रेणी एक द्वि–ध्रुवीय पद्धति में सिमट जायेगी, या तो गठबंधन के कारण या फिर वर्तमान दलों में विभाजनों के कारण।

तीसरे, उत्तर प्रदेश जैसे राज्य भी हैं जहाँ भा.ज.पा., समाजवादी पार्टी, बहुजन समाज पार्टी, और भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस के बीच एक चतुष्कोणीय स्पर्धा रहती है।

चौथी श्रेणी उन राज्यों से ताल्लुक रखती है जिनमें एक द्वि–ध्रुवीय अथवा द्वि–दलीय पद्धति तो विद्यमान रहती है, परन्तु वहाँ एक तीसरा दल भी उत्तरोत्तर विकसित होता रहता है। यह तीसरा दल बड़ी संख्या में सीटों को जीत लेने में पर्याप्त रूप से सबल नहीं भी हो सकता है परंतु एक महत्त्वपूर्ण मतांश पर अधिकार अवश्य रखता है।

7.5 सार–संक्षेप

इस इकाई में हमने मुख्य रूप से उन दलीय प्रणालियों का विश्लेषण किया जो हाल में हुए उलट–फेरों पर ध्यानकेन्द्रित करते हुए स्वतंत्रता प्राप्ति के समय से ही भारत में राज्य स्तर पर उभरीं और विकसित हुईं। हमने अपनीचर्चा राज्यीय दल पद्धतियों के स्थूल अभिलक्षणों तक सीमित रखी। हम सरसरी तौर पर क्षेत्रीय व राज्यीय दलोंसे भी मुखातिब हुए क्योंकि हाल के वर्षों में उनकी काफ़ी बढ़वार देखी गयी है, और भारत के अधिकतर राज्योंमें दलीय पद्धति को रूपायित करने में वे निर्णायक भूमिका निभा रहे हैं।

हमने देखा कि कांग्रेस पार्टी की सर्वोच्चता जो केन्द्र व राज्यों में स्वतंत्रता पश्चात् कुछ दशकों तक कायम रही,अब समाप्त हो चुकी है। राष्ट्रीय स्तर पर दलीय पद्धति एक–दलीय प्रभुत्व पद्धति से अब बहुदलीय पद्धति मेंतब्दील हो गयी, यथा वह पद्धति जो एक अधोमुखी कांग्रेस पार्टी की मौज़ूदगी, भारतीय जनता पार्टी के एकमहत्त्वपूर्ण परन्तु अपर्याप्त

विस्तार एवं राष्ट्रीय राजनीति में क्षेत्रीय व राज्यीय दलों की अत्यधिक वृद्धि से पहचानीजाती है। ये परिवर्तन 1967 उपरांत ही शुरू होने लगे थे लेकिन गत दो दशकों से कुछ ज़्यादा ही सुस्पष्ट होगए हैं। राष्ट्रीय स्तर पर इन परिवर्तनों के समान्तर ही राज्य स्तर पर भी हाल के वर्षों में महत्त्वपूर्ण परिवर्तनहुए हैं। एक ऐसी पद्धति से जिस पर कांग्रेस हावी थी, से बदलकर वह एक विखंडित पद्धति हो गयी है(अनिवार्यतः द्वि–ध्रुवता के अभिलक्षणों वाली)। इस विखंडित पद्धति में स्पर्धा मुख्यतः दो दलों के बीच होती है,चाहे वे राष्ट्रीय हों अथवा क्षेत्रीय। इस बात के संकेत मिलते हैं कि विखंडित पद्धति कायम रहेगी और संभावनायह भी है कि राज्य अधिक से अधिक एक द्वि–ध्रुवीय दलीय पद्धति की ओर अग्रसर होंगे।

7.6 अभ्यास

1) ''भारत में राज्यीय दल पद्धतियाँ राष्ट्रीय दल पद्धति से गहरे संबंध एवं अन्तर्क्रिया के साथ ही विकसितहुई हैं।'' उक्त कथन पर चर्चा करें।
2) कांग्रेस के आधिपत्य युग का संक्षिप्त विश्लेषण करें।
3) भारत में बहुदलीय पद्धति की दिशा में हुए घटनाक्रम पर सूक्ष्म दृष्टि प्रस्तुत करें। कोई एक उदाहरणभी दें।

अध्याय 8.
भारतीय राज्यों में मतभेद प्रतिमान और विरोधान्दोलन

अध्याय की रूपरेखा

8.1 प्रस्तावना

8.2 अभिप्राय : मतभेद और विरोध

8.3 विरोध–आन्दोलन तथा सामाजिक आन्दोलन

8.4 विरोध–आन्दोलनों की विशेषताएँ

8.5 विरोध–आन्दोलनों के उदाहरण

8.5.1 नक्सलवादी आन्दोलन

8.5.2 छत्तीसगढ़ मुक्ति मोर्चा (सी एम एम)

8.5.3 आत्म–निर्णयन् आन्दोलन

8.5.4 विकास–विरोधी आन्दोलन

8.6 सार–संक्षेप

8.5 अभ्यास

8.1 प्रस्तावना

बड़ी संख्या में लोग संबंधों के वर्तमान प्रतिमान से संतुष्ट नहीं हैं। वे इन संबंधों के आर्थिक, सामाजिक,सांस्कृतिक व राजनीतिक पहलुओं को अन्यायपूर्ण और पक्षपातपूर्ण पाते हैं। संबंधों के ऐसे प्रतिमानों के खिलाफभारत के विभिन्न राज्यों में लोगों ने विरोध–प्रदर्शन किया है। लोगों के इन विरोध–प्रदर्शनों नेविरोध–आन्दोलनों का रूप ले लिया है। इस इकाई में हम भारतीय राज्यों में मतभेद के प्रतिमानों तथा कुछविरोध–आन्दोलनों का विश्लेषण करेंगे।

8.2 अभिप्राय : मतभेद और विरोध

मानव सभ्यता का इतिहास मानवीय संबंधों व मानव–समूहों के भीतर और मानव–समाज व राजनीति–समाज केबीच भी ''मतभेदों'' और ''विरोधों'' द्वारा जाना जाता है। मतभेद का अर्थ है असहमति अथवा सम्मति देने सेइनकार। यह एक नकारात्मक सम्पृक्तार्थ रखता है, यानी भिन्न–मतावलम्बी व्यक्ति एक गैर–परम्परावादीव्यक्ति होता है। मध्यकाल के दौरान विसम्मति को अलंघ्य बात का उल्लंघन माना जाता था। तथापि, लोकतंत्रमें उसने आमूल सुधारवादी का संकेत करता एक नया अर्थ ग्रहण कर लिया और फिर उसके बाद इसका अर्थहो गया :- उन मूल्यों के अनुरूप नहीं जो या तो राज्य द्वारा ''साधिकार रूप से'' विनिहित किए जाते हैं अथवासभ्य समाज द्वारा व्यवहार में लाये जाते हैं। विरोध मतभेद से कुछ बढ़कर होता है। वह असहमति से ही जन्मलेता है और अस्वीकृति अथवा आपत्ति का एक ठोस रूप अथवा अभिव्यक्ति होता है। विरोध और मतभेद इसकदर अभिन्न हैं कि मतभेद के बिना विरोध का कोई अर्थ ही नहीं। यदि किसी समूह में मतभेद और विरोधदोनों मिलकर और अपने ही लक्ष्य, नेतृत्व कुछ हद तक प्रेरणा व राजनीतिक संचार लेकर मानव संगठन काआधार तैयार करते हैं, तो यह एक आन्दोलन का रूप ले लेता है। ये आन्दोलन कायापलट करने और यथापूर्वस्थिति को बदल डालने के लिए सामूहिक कार्यवाही का सहारा लेते हैं। एक लोकतांत्रिक समाज में इस प्रकारके आन्दोलनों को आमतौर पर ''सामाजिक आन्दोलनों'' के रूप में जाना जाता है और बीसवीं सदी–उत्तरार्ध से''नव सामाजिक आन्दोलनों'' के नाम से। ये आन्दोलन विभिन्न विषयों को लेकर खड़े होते हैं, जैसेपारिस्थितिकी, लिंगभेद, मानवाधिकार, इत्यादि, और एक इस प्रकार का आदर्श प्रस्तुत करते हैं जिसे तीक्ष्णविश्लेषण की आवश्यकता होती है। विरोध–आन्दोलन सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक अथवा सांस्कृतिक रूप मेंअन्यायपूर्ण और असमान व्यवस्था के विरुद्ध गतिविधियाँ होते हैं।

8.3 विरोध–आन्दोलन तथा सामाजिक आन्दोलन

विरोध–आन्दोलन सामाजिक आन्दोलनों का रूप हैं। आन्द्रे गुंदर फ्रैंक एवं मार्ता फुएन्ते जैसे कुछ विद्वजनसामाजिक एवं राजनीतिक आन्दोलनों के बीच भेद करते हैं। पूर्ववर्ती का अभिप्राय सामाजिक अधिकार–क्षेत्र मेंसंबंध प्रतिमानों को बदल देने हेतु होता है, और परवर्ती राजनीतिक पहलुओं से संबंध रखते हैं। परन्तु घनश्यामशाह जैसे कुछ विद्वानों का तर्क है कि सामाजिक एवं राजनीतिक आंदोलनों के बीच कोई अंतर नहीं; दोनों हीएक–दूसरे के पर्याय रूप में

प्रयोग किए जाते हैं। सामाजिक आन्दोलनों का अध्ययन राजनीतिक समाजशास्त्र परध्यान आकृष्ट करने का प्रयास करता है, यथा, जन–समूहों की राजनीति उनकी आकांक्षाओं एवं अपेक्षाओं काअध्ययन, उनकी समस्याओं का स्पष्टवर्णन, सांस्थानिक ढाँचे से बाहर उनकी माँगों के हक–समर्थन मेंकार्यप्रणाली तथा विद्यमान राज्य सत्ता को उखाड़ फेंकने में उनके आवसरिक प्रयास। राजनीति–वैज्ञानिकों नेराजनीतिक प्रक्रियाओं की और अधिक समझ हेतु अध्ययन के इस क्षेत्र को व्यापक रूप से अनदेखा किया था।

सामाजिक आन्दोलनों पर इन दिनों ज़ोर दिया जाना साफ़ तौर पर प्रत्यक्षवाद, संस्थावाद, संघटनवाद एवंराज्य–केन्द्रीवाद आदि संदर्शों से सामाजिक संघर्ष और परिवर्तन की एक पूर्णतावादी समझ की ओर जाने कासंकेत करता है।किसी सामाजिक आन्दोलन के घटक होते हैं :- विचारधारा, योजनाएँ, रणनीति, सामाजिक परिवर्तन के उद्देश्य,नेतृत्व एवं संघटन प्रतिमान। आंदोलन आम तौर पर संस्कृति, इतिहास एवं सामाजिक संरचना के प्रति निर्दिष्टहोते हैं। आन्दोलनों के मुद्दे और रणनीतियाँ समाजों व उनके इतिहास के सापेक्ष होती हैं। उदाहरण के लिए,आज़ादी पाने का प्रयास, एक काल में, एक समाज में किसी समूह के लिए संघर्ष हेतु मुख्य मुद्दा बन सकता है;वही प्रयास किसी दूसरे काल में किसी दूसरे समाज में भी उभरकर आ सकता है। इन आन्दोलनों में प्रयोजनहोता है :- एक बेहतर समाज बनाने के लिए समाज के मानदण्डों व मूल्यों के विगत एवं वर्तमान रूपों को निरस्तकरना अथवा परिवर्तित करना। 'सामाजिक कायापलट' अथवा 'परिवर्तन' सामाजिक आशावाद के केन्द्र में हैऔर इसी कारण, वह समाज में मूल्यों, मानदण्डों, सत्ता व पदानुक्रम की नियत धारणाओं को चुनौती देता है।वह संकटपूर्ण संघर्षवादी पहलुओं का 'विघटन' करके सामाजिक आशावाद को लक्ष्य बनाता है।राज्य विरोध–प्रदर्शन और सामाजिक आन्दोलनों को अपनी शासन–वैधता को चुनौती के रूप में देखता है। अतःराज्य का सीधा जवाब नकारात्मक और दमनात्मक होता है। यदि आन्दोलनों की प्रचण्डता अधिक होती है तोराज्य हल्की डंडेबाज़ी और सदस्यता के सहारे सामूहिक कार्यवाही को छिन्न–भिन्न करने के लिए विभिन्नरणनीतियाँ और युक्तियाँ अपनाता है, जिसमें बातचीत व समझौता तथा भाग लेने वालों को तुष्ट और सहयोजितकरना शामिल होता है। रजनी कोठारी का कहना है कि राज्य का कायापलट व्यापक राजनीति के तृण–मूलआदर्श को अपनाकर सभ्य समाज के कायांतरण द्वारा किया जाना है, जो कि व्यापक राजनीति के संसदीय अथवाअध्यक्षीय अथवा दलीय आदर्श के खिलाफ़ है। राज्य के केन्द्रीय रूप से समन्वित निर्णयन् की भूमिका कोअधिक सहभागितापूर्ण व सभ्य समाज में अन्य केन्द्रों व संस्थागत क्षेत्रों के साथ मिलजुलकर काम करने वाला बनादिया जाना चाहिए। राज्य को प्रबल हित और वर्गों से होने वाली छटपटाहट से उबरना चाहिए और स्वायत्तताकायम करनी चाहिए ताकि वह सभ्य समाज के विवादों व तनावों में एक मध्यस्थ के रूप में प्रभावशाली रूप सेकाम कर सके। साथ ही, आन्दोलन की अवधारणा को राज्यीयता के राष्ट्र–राज्य सिन्ड्रोम से, खासकर राष्ट्रीयसुरक्षा राज्य सिन्ड्रोम से, परे निकलने संबंधी धारणा में मज़बूती से बैठा दिया जाये।

घनश्याम शाह आन्दोलनों को राजनीतिक व्यवस्था में परिवर्तन लाने हेतु विद्रोह, विप्लव, सुधार व क्रांति मेंवर्गीकृत करते हैं। सुधार व्यवस्था के पक्ष में ही परिवर्तन करने का प्रयास करता है और स्वयं राजनीतिकव्यवस्था के लिए ही चुनौती खड़ी नहीं कर देता; विद्रोह राजनीतिक सत्ता के लिए चुनौती खड़ी करता है, जोकि सरकार को उखाड़ फेंकने पर अभिलक्षित होती है; विप्लव राज्य सत्ता हथियाने संबंधी बिना किसी मंशा केविद्यमान सत्ता पर आक्रमण करने का लक्ष्य लेकर चलता है; और क्रांति में समाज के एक अथवा अनेक वर्ग नसिर्फ़ स्थापित सरकार व राज्य–व्यवस्था को बल्कि उस सामाजिक–आर्थिक दृष्टिकोण को भी उखाड़ फेंकने हेतुएक संगठित संघर्ष शुरू करते हैं जो उसे कायम रखता है, और उक्त दृष्टिकोण के स्थान पर एक वैकल्पिकसामाजिक व्यवस्था कायम करना चाहते हैं। टी. के. ऊमन का मानना है कि सामाजिक आन्दोलन पुराने व नएमूल्यों व दृष्टिकोणों के बीच सम्मिलन का एक मंच प्रदान करता है। एम.एस.ए. राव एक प्रतीकात्मक व्याख्याप्रस्तुत करते हैं कि आन्दोलन सुधारवादी, परिवर्तनवादी तथा क्रांतिकारी होते हैं। डैविड बेलेली 'दमनकारीजन–विरोध' को आगे कानूनी व ग़ैर–कानूनी विरोध में विभाजित करते हैं, हर श्रेणी हिंसात्मक और अहिंसात्मकविरोधों में उपविभाजित होती है। एक अन्य वर्गीकरण साधारण जन और वृहद् आन्दोलन हो सकता है, अथवाउन मुद्दों के आधार पर जिनके इर्द–गिर्द भागीदार जन संगठित होते हैं।

8.4 विरोध–आन्दोलनों के विशेषताएँ

भारत के विभिन्न राज्यों में 1970 के दशक से ही विरोध–आन्दोलनों की एक लहर–सी उमड़ी रही है। उनआन्दोलनों की पहचान कुछ विद्वानों द्वारा नए सामाजिक आन्दोलनों के रूप में की गई है। वे इस अर्थ में नएहैं कि वे नए प्रसंग में उभरे हैं। मेल ओमवेत इन आन्दोलनों के मुख्य लक्षण की पहचान अराजनैतिक के रूपमें करते हैं, जो नए संगठन व नेतृत्व के साथ है और आधिपत्य व अधीनता के संबंधों को बदल डालना चाहताहै। परन्तु सभी विरोध–आन्दोलनों को नए सामाजिक आन्दोलन नहीं कहा जा सकता है, क्योंकि वे अब भी ऐसेमुद्दों को उठाते हैं जो पारम्परिक, आर्थिक व सामाजिक संबंधों से जुड़े होते हैं।

भारत के लगभग सभी राज्यों में विरोध–आन्दोलनों के कुछ अभिलक्षण और प्रतिमान देखने में आते हैं। मुख्यप्रतिमान निम्नलिखित रूप में पहचाने जा सकते हैं :

1) औपचारिक राजनीतिक संस्थाओं से मोहभंग

2) सभ्य समाज के भीतर हिंसा का बढ़ना

3) जन–कल्याण एवं सेवाएँ प्रदान करने में राज्य की विफलता

4) सामाजिक व राजनीतिक ताकतों का उभरना; और

5) अवपीड़न समंजन व दमन के रूप में प्रत्युत्तर।

जन–आन्दोलन व विरोध–प्रदर्शन मोटे तौर पर लोक–संस्कृति में ही शामिल हो गए हैं जिसे 'वैश्विक संस्कृति'के रूप में बढ़ावा दिया जाता है। मार्क्सवादी विद्वान इसका श्रेय भारतीय समाज के 'बहुवंशीय अभिलक्षण' तथा'सर्व–व्यापक पदानुक्रम' को देते हैं। तथापि, कुछ विद्वान् इसकी आलोचना करते हैं और कहते हैं किविरोध–आन्दोलन 'परम्परा' और 'आधुनिकता' के बीच संघर्ष का परिणाम होते हैं। लोगों की बढ़ती उम्मीदों काइंकलाब राजनीतिक न्याय से नहीं आता है और यहीं से पैदा होता है 'राजनीतिक अस्थिरता' और 'अव्यवस्था'के बीच भेद। रजनी कोठारी का तर्क है कि इस प्रकार के 'संसदीय लोकतंत्र' में 'प्रत्यक्ष कार्यवाही' कीआवश्यकता है, ताकि राज्य का कायापलट हो। तदनुसार, राज्य का कायाकल्प सभ्य समाज के कायान्तरण केमाध्यम से किया जाना है, न कि अन्य किसी तरीके से। केन्द्रीकृत राज्य की भूमिका इस हद तक कम होनीचाहिए कि वह अन्य धुरियों के साथ–साथ सभ्य समाज में अन्य संस्थागत स्थानों के साथ भी सामंजस्य में रहतेहुए काम करे। राज्य को इस योग्य बनाया जाये कि प्रबल हितों व वर्गों से अपनी स्वायत्तता को फिर से पा सके;उसे धीरे–धीरे वर्ग और नृजातीय दमन के साधन रूप में अपनाये जाने से बचाया जाना चाहिए बल्कि उनविवादों व तनावों में एक मध्यस्थ के रूप में बने रहने हेतु सक्षम किया जाना चाहिए, जो सभ्य समाज में घटितहोते ही रहेंगे। राज्य के राष्ट्र–राज्य सिन्ड्रोम से भी परे जाने की आवश्यकता है।

8.5 विरोध–आन्दोलनों के उदाहरण

भारत के अनेक राज्यों में असहमति और विरोध–आन्दोलनों के बहुत सारे उदाहरण मौजूद हैं। इन आन्दोलनोंमें वे शामिल हैं जो समाज के प्रत्येक वर्ग में होते हैं। इनमें से कुछ आधिपत्य व अधीनता प्रतिमान को बदलदेना चाहते हैं; कुछ राज्य से अधिक रियायतों की माँग करके अपना प्रभुत्व जमाना चाहते हैं; तो कुछराष्ट्र–राज्य की धारणा तक को चुनौती देते हैं।

8.5.1 नक्सलवादी आन्दोलन

नक्सलवादी आन्दोलनों के विभिन्न रंग शोषण के खिलाफ विरोध व्यक्त करते हैं, यथा असमानव शोषणकारी आर्थिक संबंध, दमनकारी जाति–व्यवस्था एवं भारतीय राज्यों के खिलाफ़। उनके मतानुसार,साम्राज्यवादी ताकतों के साथ मिलकर और सामंती–पूँजीवादी विचारधाराओं को अपनाकर थे शोषक वर्ग ग़रीबजनता का शोषण करते हैं। इस समस्या का हल वर्तमान राजनीतिक, सामाजिक एवं आर्थिक व्यवस्था को उखाड़फेंकने में निहित है। वे अपना लक्ष्य प्राप्त करने में हिंसक साधनों के प्रयोग को धर्म रूप में स्वीकार करते हैं।ये नक्सलवादी जन चुनावों में भाग लेने के खिलाफ़ रहे हैं। परन्तु उनमें से कुछ ने चुनावों के प्रति अपनेरुझानों को बदला है और चुनावों में भाग लिया है।

नक्सलवादी आन्दोलन, जो कि 1967 में पश्चिम बंगाल के नक्सलबाड़ी इलाके में कनू सान्याल एवं चारुमजूमदार द्वारा शुरू किया गया, कुछ ही वर्षों में अनेक राज्यों में फैल गया। इनमें से प्रमुख राज्य हैं:-आंध्र प्रदेश, बिहार, झारखण्ड, छत्तीसगढ़, उड़ीसा, पंजाब व उत्तर प्रदेश। परन्तु इन राज्यों में नक्सलवादियों काकोई व्यापक सामाजिक आधार नहीं है। वहाँ उनके समर्थन वाले प्रभावशाली लघु क्षेत्र हैं। प्रमुख नक्सलवादीसंगठन हैं :- बिहार प्रदेश किसान सभा (बी.पी.के.एस.), मार्क्सवादी समन्वय समिति (एम.सी.सी.) तथा पीपल्सवार ग्रुप (पी.डब्ल्यू.जी.)। नक्सलवादियों ने कृषि मज़दूरी में वृद्धि, किसान को ज़मीन, आदि मुद्दों को लेकर लोगोंको संघटित किया है। बिहार में, खास तौर पर, उन्होंने वर्ग भेदभाव के खिलाफ़ अपने संघर्ष को जाति दमनके साथ जोड़ दिया है। उन्होंने अपने वर्ग शत्रुओं को अपनी हिंसा का निशाना बनाया है, जिसमें अपहरण भीशामिल है।

8.5.2 छत्तीसगढ़ मुक्ति मोर्चा (सी एम एम)

छत्तीसगढ़, सन् 2000 तक मध्य प्रदेश में एक क्षेत्र, और तदोपरांत एक राज्य, को अन्य किसी चीज के सिवा,शासन और सभ्य समाज के बीच अन्तराफलक को सामने लाते एक विरोध–आन्दोलन, अपने वृहद् राजनीतिक स्वतंत्रता आन्दोलन :- छत्तीसगढ़ मुक्ति मोर्चा :- के नाम से ज़्यादा जाना जाता है। यह आन्दोलन हमें बताताहै कि सभ्य समाज के कुछ यह वर्गों और सरकार के बीच संबंध हमेशा अन्योन्य अथवा सम्पूरक नहीं होता, औरयह भी हो सकता है

कि वह परस्पर विरोधी हो। गहरा दोष सभ्य समाज में ही है, जो प्रभुत्वसम्पन्न तथाछोटे–अफसर समूहों के बीच विद्यमान होता है। समाज गहन रूप से संघर्षकारी और पदानुक्रमिक रूप से संगठितस्थान है, जिसमें ''सम्पन्न'' :- धनी व उच्च जाति–समूह :- राज्य का सामाजिक आधार बनाते हैं, जबकि दूसरेसमूह :- ''विपन्न'' :- राज्य व प्रबल समूहों, दोनों द्वारा दबाये जाते हैं। यह समूह ही है जो विरोध–प्रदर्शनकरता है और हित संबंधी दोनों शृंखलाओं को चुनौती देता है, यथा प्रभावी समूह व राज्य का हित :- एक''सामाजिक आन्दोलन'' के रूप में। छत्तीसगढ़ मुक्ति मोर्चा अपेक्षाकृत अधिक विकृत सभ्य समाज, यथाराजनीतिक समाज के साथ शीर्ष समूहन, को स्पष्ट रूप से प्रकाश में लाता है। छत्तीसगढ़ मुक्ति मोर्चा ने एकविकल्प दिया है, इस अर्थ में कि एक सामाजिक आन्दोलन किस प्रकार समाज परिवर्तन के एक नए तरीके औरउसे आधुनिक रीति में ढाले जाने को जोखिम में डाल सकता है।छत्तीसगढ़ में श्रमिक संघर्ष की जड़ें विकास और आधुनिकीकरण परियोजना में पायी जाती हैं जो उन्हें उनकेमौलिक अधिकारों से वंचित करता है और उनके लिए कष्ट और कंगाली लाकर उनका शोषण करता है। भिलाईस्टील प्लाण्ट (बी.एस.पी.) की स्थापना के साथ ही सामाजिक–आर्थिक क्षेत्र में नया विकास हुआ। इस प्लाण्टने कुल 70,000 श्रमिकों में से सिर्फ़ 10 प्रतिशत को ही भर्ती किया जिनसे कि जोखिमपूर्ण परिस्थितियों मेंनैमित्तिक शारीरिक कार्य करने के लिए कहा गया था। दैनिक अस्थायी कार्यबल का वेतन भुगतान अनियमितथा और निर्धारित न्यूनतम वेतन से काफ़ी कम थी। यहाँ तक कि अखिल भारतीय श्रमिक संघ कांग्रेस (ऐटक) भी, जिसने कम वेतन और शोषणकारी कार्यस्थितियों का मुद्दा उठाया था, अस्थायी मज़दूरों की समस्याओं को उठाने में विफल रही। इसी दौरान, शंकर गुहा नियोगी, जो बी.एस.पी. (1961) की कोयला भट्टी संयंत्र में एक अभियंता शिक्षु की हैसियत से आये थे, ने 16 सदस्यों को लेकर 'ब्लास्ट फर्नेस एक्शन कमेटी' की स्थापना की और पारिश्रमिक के मुद्दे को लेकर अनेक हड़तालें आयोजित कर उन्होंने प्रबंधन के खिलाफ संघर्ष छेड़ दिया। यह छत्तीसगढ़ मुक्ति मोर्चे के प्रथम चरण की शुरुआत थी। शीघ्र ही, सात साल के अन्दर–अन्दर, नियोगी पर षड्यंत्र रचने का आरोप लगाकर उन्हें बी. एस.पी. प्रबंधन सेबाहर कर दिया गया और उसके बाद नियोगी ने जनता के साथ रहने व उन्हें राजनीतिक रूप से संगठितकरने का निश्चय कर लिया। उन्होंने बस्तर में लोगों को उन बिचौलियों के खिलाफ लड़ने के लिए संगठितकिया जो ग्रामवासियों से लेकर शहरी इलाकों को मांस बेचते थे और लाभ कमाते थे, परन्तु दानीतोला हीवह स्थान था जहाँ से उसने 'ऐटक' (अखिल भारतीय श्रमिक संघ कांग्रेस) के झण्डे तले बिलौरी पत्थरखदान मज़दूरों को संघटित करना शुरू किया और दल्ली राजहरा, छत्तीसगढ़ मुक्ति मोर्चा का मुख्यालय, मेंराजनीतिक गतिविधियों से अपने सम्पर्क स्थापित किए। वस्तुतः, दानीतोला ही वह स्थान बन गया जहाँ 'मज़दूरयूनियनबाज़ी ज़रा हट के हो' संबंधी प्रयोग किए। नियोगी पर पुलिस द्वारा बारंबार दमन और उत्पीड़न का चक्रचलाया गया, उन्हें जेल भेजा गया, छत्तीसगढ़ के कुछ ज़िलों से भगा दिया गया, और मिथ्यारोप लगाये गए।उन्होंने तिस पर भी, एक शानदार आन्दोलन ''नई दिल्ली के वास्ते नव छत्तीसगढ़'' की नींव डालने का जुगाड़कर ही लिया।आपातकाल के अन्तिम दिनों में दल्ली राजहरा के लगभग दस हजार श्रमिकों ने नियमित और ठेका मज़दूरों केलिए समान बोनस के मुद्दे को लेकर 'ऐटक' और 'इन्टक' (भारतीय राष्ट्रीय मज़दूर संघ कांग्रेस) के स्थानीयश्रमिक संघ नेतृत्व के खिलाफ़ बग़ावत कर दी। बी.एस.पी. के ठेका मज़दूरों के साथ बोनस के भुगतान को लेकरभी भेदभाव किया जाता था, इसलिए उन्होंने बंशीलाल साहू के नेतृत्व में मज़दूर संगठन बना लिया। इसी बीच,नियोगी ने जेल से रिहा होने के बाद हड़ताल का समर्थन करने के लिए दल्ली राजहरा के मज़दूरों को संगठितकरना शुरू कर दिया और छत्तीसगढ़ माइन्स श्रमिक संघ (सी.एम.एस.एस.) को इंदौर में पंजीकृत करा लिया।

सी.एम.एस.एस. ने प्रबंधन के सामने एक 18–सूत्रीय घोषणापत्र रखा जो कि खासकर वृद्धि के साथ वेतनभुगतान, बेहतर कार्य–दशाएँ व कुछ नौकरी सुरक्षा से संबंधित था। शुरू–शुरू में सी.एम.एस.एस. को सफलता मिली परन्तु आगे चलकर प्रबंधन एवं पुलिस द्वारा प्रबंधन संबंधी मौन–अनुमति दमनकारी और पुलिसिया कदम उठाये गए। तथापि, नवम्बर 1977 में दल्ली राजहरा, दानी तोला और हिर्री के कर्मचारी 56 दिन की हड़ताल पर चले गए तथा परिणामस्वरूप प्रबंधन ने उनकी माँगों को मान लिया। सी.एम.एस.एस. को सुख का अहसास हुआ क्योंकि उसे पहली बार मज़दूर संघों के समर्थन के बिना सफलता मिली थी। वह दिहाड़ी वेतन 3.50 रुपये से बढ़ाकर 7.00 रुपये और उसके बाद 80.00 रुपये करवाने में सफल रहा था, जो कि देश में सबसे ऊँचा दैनिक वेतन था। परन्तु नियोगी, जो वेतनों में सुधार से संतुष्ट न होकर मज़दूर संघ गतिविधियों से परे आन्दोलन को तीव्र करना चाहते थे, ने अपनी गतिविधियों में समाज सुधारों को भी शामिल कर लिया। उन्होंने मद्य–विरोधी आन्दोलन चलाया क्योंकि अधिकतर मज़दूर शराब आदि का सेवन करते थे। मद्य–निषेध अभियान ने, जिसका नेतृत्व स्थूलतः महिलाओं ने किया, भारी सफलता प्राप्त की जब शराब की दुकानें बंद कर दी गईं, लोगों को वहाँ जाने के लिए हतोत्साहित किया गया और फिर भी न मानने वालों पर सामाजिक प्रतिबंध लगाए गए। इस आन्दोलन ने श्रमिकों के जीवन और व्यवसाय के अधिकतर पहलुओं में परिवर्तनों का आगाज़ किया : पर्यावरण, उपयुक्त प्रौद्योगिकी, लिंगभेद संबंध व शोषणकारी कार्य–दशाओं का उन्मूलन, आदि पर इन आन्दोलनों द्वारा विचार किया गया। वास्तव में, 1978–79 में, दल्ली राजहरा के लोगों ने छत्तीसगढ़ मुक्ति मोर्चा (सी.एम.एम) बनाया, जो कि लगभग बीस संगठनों का एक संघ था।

छत्तीसगढ़–मुक्ति मोर्चा का गठन होते ही संघर्ष का क्षेत्राधिकार फैला और नब्बे का दशक आते–आते वह एकसुसंगठित मज़दूर संघ में प्रकट हो गया। तथापि, अपनी प्रारंभिक गठन अवस्था में उसने एक ऐसे आन्दोलन कीपराकाष्ठा को दर्शाया जिसने यह जान लिया था कि श्रमिकों के किसी भी आन्दोलन के लिए उनके जीवन एवंकार्यदशाएँ, दोनों को संघटित करने की आवश्यकता होती है। मोर्चे ने कहा कि संघ को महज आर्थिक मुद्दों परध्यान केन्द्रित करने से आगे भी सोचना चाहिए और ऐसे अन्य कार्यक्षेत्रों में भी अपनी पैठ बनानी चाहिए जोकामगार वर्गों के जीवन को छूते हों। इस आन्दोलन ने एक खास संदेश दिया कि ''जहाँ लोगों को न्याय दिलानेमें शासन असफल रहता है, उन्हें स्वयं ही, संघर्ष प्रक्रिया के माध्यम से, न्याय हेतु पूर्व शर्तें निर्धारित करनी होंगी। निष्प्रभावी शासन को सभ्य समाज के संघटन द्वारा चुनौती दी गई ताकि उसके बाशिंदों के लिए जीवन और गरिमा की बुनियादी शर्तें सुनिश्चित हों।'' सी.एम. एम. ने बंगाल नागपुर सूत (बी.एन.सी.) मिलों में 1984 में 'राजनंदगाँव कपड़ा मज़दूर संघ को संगठित किया और सफलता पायी। उसने नियोगी के नेतृत्व में भिलाई में संघबद्ध हो रहे श्रमिकों के काम को जारी रखा। कुल मिलाकर, नब्बे के दशक तक खदान मज़दूरों को संघटित करने का अनुभव सफल रहा था और नियोगी ने अपना ध्यान इस भू–भाग में ऐसे अन्य क्षेत्रों की ओर मोड़ लिया जहाँ की पहचान श्रमिकों के शोषण से होती थी। सी.एम.एम. ने स्वयं को अब एक जन–आन्दोलन का रूप दे दिया। उदाहरण के लिए, 2 अक्तूबर 1990 को नियोगी ने भिलाई के मज़दूरों की एक सभा बुलाई परन्तु राज्य की भा.ज.पा. सरकार ने इस सभा पर प्रतिबंध लगा दिया। तब यह सभा राजपुर ले जायी गयी जहाँ लगभग तीस हज़ार लोगों ने भाग लिया, जिनमें दिल्ली व कलकत्ता से आये श्रमिकों को साथ–साथ अबुजमार से आये जनजातीय जन भी शामिल थे। इस रैली को विराट सफलता मिली। एक साल के भीतर नियोगी को गिरफ्तार कर लिया गया, इस आधार पर कि वह अदालती सुनवाई में गैर–हाज़िर रहा थे। शीघ्र ही उन्हें छोड़ दिया गया परन्तु जान की धमकियाँ मिलनी शुरू हो गयीं। सितम्बर 1991 में उद्योगपतियों के अत्याचारों के अत्याचारों के खिलाफ़ याचिका देते हुए नियोगी ने राष्ट्रपति, प्रधानमंत्री, व विपक्ष के नेताओं से मुलाकात की। दिल्ली से लौटने के सिर्फ़ 10 दिनों के बाद ही (28 सितम्बर, 1991) नियोगी को भिलाई में गोली मार दी गयी। सी.एम.एम. ने, बहरहाल, अपना अस्तित्व नहीं खोया। उसने दो मुख्य मुद्दों पर ध्यान केन्द्रित किया : मध्य प्रदेश उच्च न्यायालय के निर्णय के खिलाफ़ एक आन्दोलन चलाना ताकि नियोगी के हत्यारों पर अपराध निर्णय एवं मृत्युदण्ड रद्द किया जाये, तथा हाशिये पर के लोगों के सभी पहलुओं पर ध्यान देकर नियोगी की ''संघर्ष और निर्माण'' वाली अवधारणा को आगे बढ़ाना। छत्तीसगढ़ मुक्ति मोर्चा ने अब अपना निर्वाचक वर्ग कामगारों से आगे बढ़ाकर उपांत किसानों को भी उनमें शामिल कर लिया है। मोर्चा मार्टर'स डे (1 जुलाई) और शहीद दिवस (28 सितम्बर) को व्यापक रैलियाँ आयोजित कर संघटन संबंधी अपना काम जारी रखे हुए है। उसने सभी प्रकार के अन्यायों के खिलाफ़ लड़ने के लिए, अपने इसी उद्देश्य को लेकर 'न्यायाग्रह आन्दोलन' चलाकर अपने संघर्ष को विस्तार प्रदान किया है। उसने आम आदमी को बुनियादी सुख–सुविधाएँ उपलब्ध कराने का काम हाथ में लिया है, जैसे :- शिक्षा, स्वास्थ्य, गंदी व सघन बस्ती वालों का पुनर्वास, 'शहीद गैराज़' की स्थापना, बंधुआ मज़दूरों की रिहाई, नारी–अधिकारों का सुनिश्चयन्, ज्ञान वृद्धि कार्यक्रम, मशीनीकरण के खिलाफ़ संघर्ष, पर्यावरण–रक्षा कार्यक्रम और चुनावों में भागीदारी। आन्दोलन का यह रचनात्मक पहलू ही है जो इसे अन्य सभ्य समाज संगठनों से अलग करता है :- जैसे कि दबाव समूह जो राज्य अथवा एकल मुद्दों को लेकर चलने वाले सामाजिक आन्दोलनों द्वारा प्रदान तानेबाने के भीतर ही काम करते हैं।

8.5.3 आत्म–निर्णयन् आन्दोलन

आत्म–निर्णयन् आन्दोलन प्रमुख राजनीतिक इकाई और उसकी संघटक इकाइयों के बीच वर्तमान संबंध–व्यवस्थाके खिलाफ़ असहमति व्यक्त करते हैं। राष्ट्र–राज्य के संबंध में, कुछ राष्ट्र–सदस्य, और प्रबल राष्ट्रों केसंबंध में छोटे राष्ट्र–सदस्यगण वर्तमान संबंधों पर संदेह करते हैं। उन्हें लगता है कि इस प्रकार की व्यवस्थाअनुचित और उनके हितों के प्रति हानिकारक होगी। इसने प्रबल समूहों का पक्ष लिया। इस प्रकार के संबंधोंमें बदलाव के लिए ये छोटे राष्ट्र–सदस्य आत्म–निर्णयन् आन्दोलन की शुरुआत करते हैं। इस प्रकार केआन्दोलन राष्ट्र–राज्य की संप्रभुता का यथायोग्य सम्मान करते हुए वर्तमान प्रबल इकाई से पृथक् राजनैतिकइकाई की माँग करते हुए स्वायत्त आन्दोलनों का रूप ले सकते हैं। वे राष्ट्र–राज्य की संप्रभुता पर भी संदेह करसकते हैं और अपना खुद का सर्वसत्ताक राज्य स्थापित किए जाने की माँग कर सकते हैं। भारत में विभिन्नराज्यों ने विभिन्न काल–बिन्दुओं पर आत्म–निर्णयन् आन्दोलनों के विभिन्न रूपों का उत्थान और पतन देखाहै। भारतीय संविधान की परिधि के भीतर पृथक् राज्यों के निर्माण हेतु विभिन्न राज्यों में माँगों के प्रमुखउदाहरणों में शामिल हैं :- तेलंगाना राज्य, विदर्भ, हरित प्रदेश, आदि का गठन। हाल ही में, 2002 में, अपनेराज्यों के गठन की माँग करने वाले आन्दोलनों के परिणामस्वरूप तीन नए राज्य बनाये गए हैं। ये राज्य हैं:- उत्तरांचल, छत्तीसगढ़ और झारखण्ड। संप्रभु राज्यों के निर्माण हेतु माँग मुख्य तौर पर उत्तर–पूर्व, जम्मू–कश्मीरतथा पंजाब से उठी है। पहले इस प्रकार की माँग दक्षिण भारत के तमिल–भाषी क्षेत्रों में उठायी गई थी। यहाँयह ध्यान देना महत्त्वपूर्ण है कि इन क्षेत्रों में सभी आत्म–निर्णयन् आन्दोलन अपने लिए संप्रभु राज्य की वकालतनहीं करते; वे भारतीय संविधान के

तानेबाने के भीतर ही संघबद्ध संबंधों की एक उचित पुनर्व्यवस्था लानाचाहते हैं।ऐसे आन्दोलन जो भारतीय राष्ट्र–राज्य की संप्रभुता को चुनौती देते हैं, वे भी विप्लव कहलाते हैं, उनमें से कुछको जन–साधारण का समर्थन प्राप्त होता है। ये ऐसी संस्थाओं व संगठनों को निशाना बनाते हैं जिनकी पहचानराष्ट्र–राज्य अथवा केन्द्र सरकार के, अथवा उन सामाजिक समूहों के साथ रखकर की जाती है, जो केन्द्र सरकारद्वारा संरक्षण प्राप्त माने जाते हैं। इन आन्दोलनों के प्रति राज्य के प्रत्युत्तर में शामिल होता था :- नेतृत्व केकिसी समूह को अपनी ओर करना और उन्हें कमज़ोर करना, विप्लवकारी समूहों को तोड़ना अथवा बल प्रयोगकरना।बल–प्रयोग अथवा जबरदस्ती किए जाने से एक तत्संबद्ध समस्या जन्म लेती है, यथा मानवाधिकारों का हनन।सुरक्षा बलों ने विप्लवकारियों व उनके समर्थकों के खिलाफ़ दमनकारी उपायों का प्रयोग किया है। अनेक बारनिर्दोष लोग भी सुरक्षा बलों का निशाना बने हैं। इससे मानवाधिकार दल विप्लवकारियों व आम जनता केमानव अधिकारों की रक्षा किए जाने की माँग को लेकर तुरंत सामने आये। चूँकि सुरक्षा बलों पर भीविप्लवकारियों द्वारा हमला किया गया है, परवर्तियों की भी माँग है कि उनके मानवाधिकारों की विप्लवकारियोंसे रक्षा की जानी चाहिए।

8.5.4 विकास–विरोधी आन्दोलन

आधुनिक वैज्ञानिक अभिगमों पर आधारित विकास को प्रोत्साहन नहीं मिला। इसका अर्थ है कि विकास, यथाआधुनिक संस्थाएँ, उद्योग, बाँध, आदि की स्थापना के लिए प्राकृतिक संसाधनों का प्रयोग इस प्रकार किया गयाहै कि वे कायम रखे नहीं जा सकते। प्राकृतिक संसाधनों के निःशेषीकरण के अलावा, विकास ने मनुष्य के लिएकंगालियों का ताँता लगा दिया है। एक ओर उसने लोगों को अपने पारंपरिक निवास–स्थान से विस्थापन औरपलायन के लिए प्रवृत्त किया है तो दूसरी ओर उनकी परंपरागत विद्या को व्यर्थ बना दिया है। जनता :- सभ्यसमाज, ग़ैर–सरकारी संगठनों, तृण–मूल संगठनों, ने विभिन्न क्षेत्रों में विकास व आधुनिकीकरण द्वारा अतिक्रमणकिए जाने का :- बड़े–बड़े बाँधों के निर्माण, वनोन्मूलन, आदि के खिलाफ आवाज़ बुलन्द की है। उनकी माँगहै कि विकास जारी रहना चाहिए; इसका मतलब है कि प्राकृतिक संसाधन एवं पारंपरिक ज्ञान को इस प्रकारप्रयोग किया जाना चाहिए कि प्राकृतिक संसाधन पूरी तरह समाप्त न हों और परंपरागत विद्या कायम रहे। इसप्रकार के विकास को सतत विकास कहा जाता है। विकास के पक्ष में और विपक्ष में प्रतिक्रियाएँ होती रही हैं।इसका विरोध वे लोग करते हैं, जो प्रतिकूल रूप से प्रभावित महसूस करते हैं; साथ ही बुद्धिजीवियों, गाँधीवादियों,प्रभावित लोगों के प्रति सहानुभूति रखने वाले ग़ैर–सरकारी संगठनों द्वारा और ऐसे राज्यों द्वारा जहाँ प्रभावित लोगरहते हैं, इसका विरोध किया जाता है। इसके विपरीत, उद्योगपति जन, विश्व बैंक व अंतरराष्ट्रीय मुद्रा कोष जैसीविदेशी वित्त प्रदाय संस्थाएँ इस प्रकार के विकास को समर्थन देती हैं।

विकास के खिलाफ़ सबसे महत्त्वपूर्ण उदाहरणों में हैं :- नर्मदा बचाओ आन्दोलन और पर्यावरण–संबंधीआन्दोलन। नर्मदा बचाओ आन्दोलन जो विभिन्न रूपों में तीन से भी अधिक दशकों तक चलता रहा है, का कड़ाविरोध और समर्थन होता रहा है। सरदार सरोवर बाँध का निर्माण, जिसका विरोध–नर्मदा बचाओ आन्दोलन,द्वारा किया जाता है, विभिन्न गुजरात सरकारों, राजनीतिज्ञों, और विश्व बैंक द्वारा समर्थनप्राप्त है, परन्तु मध्यप्रदेश व छत्तीसगढ़ में 'नर्मदा बचाओ आन्दोलन' का आम जनता, राजनीतिज्ञों व सरकारों द्वारा विरोध कियाजाता है। केन्द्र सरकार का रवैया राजनीतिक विचारों से प्रेरित होने के कारण द्विचित्ता रहा है।

8.6 सार–संक्षेप

सारांशतः, मतभेद का अर्थ है सहमति न देना अथवा असहमति जताना। जब मतभेद असंगठित अथवा संगठितकार्यवाही का रूप ले लेता है तो विरोध–प्रदर्शन कहलाता है। भारत के विभिन्न राज्यों में विरोध–आन्दोलन होतेरहे हैं। ये विरोध–प्रदर्शन वास्तविक अथवा काल्पनिक भेदभाव अथवा असमान सामाजिक, आर्थिक, सांस्कृतिकया राजनीतिक संबंधों के खिलाफ़ रहे हैं। विरोध आंदोलन कुछ–कुछ सामाजिक आन्दोलनों का भी रूप ले लेतेहैं। भारत के राज्यों में विभिन्न प्रकार के विरोध आन्दोलन होते रहे हैं। नक्सलवादी आन्दोलनों की विभिन्नछटाएँ, छत्तीसगढ़ मुक्ति मोर्चा, आत्म–निर्णयन् आन्दोलन एवं विकास विरोधी आन्दोलन, जिन पर इस इकाईमें चर्चा की गई है, भारत के राज्यों में विसम्मति प्रतिवाद के प्रतिमानों की जानकारी प्रदान करते हैं।

8.5 अभ्यास

1) सामाजिक आन्दोलनों एवं विरोध–आन्दोलनों के बीच संबंधों पर चर्चा करें।
2) नक्सलवादी आन्दोलनों पर एक टिप्पणी लिखें।
3) छत्तीसगढ़ मुक्ति मोर्चा का विश्लेषण करें।
4) आत्म–निर्णयन् आन्दोलनों एवं विकास–विरोधी आन्दोलनों की तुलना करें।

इकाई 3

अध्याय 9
विकास के मुद्दे और क्षेत्रीय विषमताएँ

अध्याय की रूपरेखा

9.1 प्रस्तावना

9..2 विकास से अभिप्राय

9.2.1 पाश्चात्य अर्थ

9.2.2 विकास : अल्पविकास के रूप में

9.2.3 विकास : स्वतंत्रा के रूप में

9.2.4 विकास : सतत विकास के रूप में

9.3 विकास : क्षेत्रीय विषमताओं के रूप में

9.3.1 क्षेत्रीय विषमताओं की वजह : विविधता

9.3.2 ऐतिहासिक लाभ

9.3.3 माप संबंधी अर्थव्यवस्थाएँ बनाम संचयीकरण लाभ तथा क्षेत्रीय विषमताएँ

9.4 भारत में विकास और क्षेत्रीय विषमताएँ

9.4.1 औपनिवेशिक प्रभाव

9.4.2 मानव विकास में क्षेत्रीय विषमताओं का स्तर

9.5 सार–संक्षेप

9.6 अभ्यास

5.1 प्रस्तावना

विकास अर्थात् उन्नति एक छत्रछाया एवं समष्टि–प्रभाव संकल्पना के रूप में बीसवीं शताब्दी में उद्‌गमित हुआ और उसे युग की समझदारी एवं वैधता के रूप में लिया गया। परन्तु आज, ऐसे बहुत ही थोड़े लोग हैं जो इसे अनालोच्य रूप से और बिना किसी बंधन के स्वीकार करते है। यह ध्यान देने योग्य बात है कि कभी नही तो अक्सर ही विकास को निहित स्वार्थ की पूर्ति हेतु प्रयोग किया गया है क्योंकि हर एक प्रबल समूह ने अपने उद्‌देश्यों को ही सही ठहराने के लिए उसकी व्याख्या करने का प्रयास किया। परिणामतः कथाओं और प्रवचनों की लम्बी गाथा के अंत में विकास एक बहुरूपिया संकल्पना के साथ सामने आया, जिसके भिन्न–भिन्न लोगों के लिए भिन्न–भिन्न लोगों के लिए भिन्न–भिन्न मतलब थे। उदाहरण के लिए, विकास जिसने अपनी शुरूआत में सभी के लिए स्वतंत्रता तथा सभी प्रकार के अत्याचारों से छुटकारा दिलाने का वादा किया, गत शताब्दी के अंत में मानव स्वतंत्रता के प्रति विद्वेषी हो गयी। इन दो परम सीमाओं के बीच विकास ने विभिन्न उद्‌देश्यों की पूर्ति करते हुए अपने अर्थ अनेक बार बदले, जो राज्य के आशय, शासन–प्रणालियों के वैधताकारी, एक अच्छे समाज के भविष्य निरूपणार्थ घटक के रूप में और सर्वोपरि, गरीबों और जरूरतमंदों की आवश्यकताओं हेत संक्षिप्त शर्तों के रूप में फैले है (नन्दी 2000: 145)। इस इकाई में हम भारत में विकासात्मक मुद्‌दों और क्षेत्रीय विषमताओं के विषय में पढ़ेंगे।

9.2 विकास से अभिप्राय

विकास का अर्थ भिन्न–भिन्न लोगों के लिए भिन्न–भिन्न है। इसी प्रकार, विकास के मुद्‌दे विकास के तात्पर्यों के अनुसार विभिन्न रूपों में रहे है। इस पाठांश में हम विकास के विभिन्न अभिप्रायों के अनुसार ही विकासात्मक मुद्‌दों के विषय में अध्ययन करेंगे।

9.2.1 पाश्चात्य अर्थ

साम्राज्यों के युग में विकास का मतलब था – अपने उद्योग–धन्धों व अपने उत्तरवर्ती औपनिवेशीकरण के लिए अपने तैयार उत्पादों एवं कच्चा–माल हेतु बाजार की खोज में नए कार्यक्षेत्रों का पता लगाना। उसका अभिप्राय विश्व के अन्य

भागों में दूसरे समुदायों पर युरोपीय संस्कृति, सभ्यता एवं राजनीतिक सत्ता के प्रसार व थोपे जाने से भी होता था। इन उद्देश्यों की प्राप्ति में वे प्रलोभन के साथ–साथ पाशविक बल का भी प्रयोग करते थे। परन्तु जहाँ तक कि उपनिवेशों का संबंध है यह अवनति, तोड़मरोड़ व स्वतंत्र विकास के युग की शुरूआत थी। इसके बाद विकास उपनिवेशों में जनता की लूटपाट और दुर्दशा का प्रतीक बन गया। यह प्रक्रिया द्वितीय विश्व–युद्ध तक जारी रही जब 'विकास' की अवधारणा को कुछ नए अर्थ और व्याख्याएँ प्रदान कर दी गई। इन नए अर्थों व व्याख्याओं का एक महत्त्वपूर्ण आयाम था – विकसित देशों की विकासशील देशों से भिन्न पहचानने के आधार रूप में प्रतिव्यक्ति वास्तविक आय विषयक आँकड़ों को एकत्र करने की आवश्यकता का अहसास। विकासशील देशों में विकास के निम्न स्तर को निश्चयपूर्वक बताने के लिए एक समिति द्वारा निम्नलिखित कारकों की पहचान की गई :

- भौतिक समृद्धि एवं उद्यमशीलता हेतु गरीब देशों में इच्छा का प्रत्यक्ष अभाव
- शासन और कानून की खराब व्यवस्था
- साक्षरता के निम्न स्तर, और
- विकास आदि के लिए असत्कारशील संस्कृति विकासशील देशों में निम्न विकास–स्तरों हेतु जिम्मेदार है।

इसका सामना लिए जाने के रूप में, इस समिति ने अपनाये जाने के लिए विकसित देशों का मार्गदर्शक नक्शा भी खींचा ''यथा विकास का पाश्चात्य मार्ग ही शेष विश्व के लिए एकमात्र रास्ता है'' यद्यपि उसने शांति हेतु विकास पर जोर दिया, फिर भी वास्तविकता में, जहाँ तक कि गरीब देशों का संबंध था, शांति और विकास का अर्थ था– आधिपत्यीकरण और धर्मान्तरीकरण, ऐसी हालत में विकास अपने आय में व्यापार एवं निर्यात हेतु एक उपभोज्य वस्तु बन गया और इस प्रक्रिया में अपरिहार्य रूप इसका अर्थ था– युद्ध। विश्व इतिहास के अनुभव दर्शाते हैं कि जब विकास को किसी अन्य देशीय संस्कृति में ले जाकर आरोपित किया जाता है तो यह जनता में अन्यत्रभाव ला देता है और सामाजिक यन्त्रविद्या, छलकपट, दाँवघात की चालों एवं दुराचारों में अद्यःपतित होता है। जब विकास आन्तरिक गतिकता की उपेक्षा करता है और बाहरी माँगों को पूरा करने के लिए बहिर्जातीय बलों के माध्यम से नियंत्रित होने लगता है तो वह अल्प विकास में अद्यःपतित हो जाता है। इसके उपरांत, विकास के पाश्चात्य तरीके सभी स्तरों पर व्याप्त हो गए और अस्तित्व एवं उत्तरजीविता के वैकल्पिक तरीकों के खिलाफ एक जंग छेड़ दी। यह विकास उस से विकास भिन्न था जो कि साम्राज्यों द्वारा प्रारंभ किया गया था क्योंकि, यद्यपि विकास ने अब तक लोगों पर प्रभुत्व ही जमाया था और उन्हें कई तरीकों से शोषित भी किया था, फिर भी उसने लोगों पर अपने आसन्न सामाजिक–सांस्कृतिक वातावरण एवं भौतिक पर्यावरण के साथ अपने आधारभूत संबंधों को तोड़ लेने पर कभी दबाब नहीं डाला। परन्तु भविष्य में मनुष्य और पर्यावरण के बीच एकमात्र मध्यस्थकारी संबंध प्रोद्यौगिकी और विपणन के माध्यम से ही रहा। परिणामतः विकास का मतलब हो गया 'पैक्स इकॉन्मिका' अर्थात् शाश्वत अर्थ–शांति जिसका पलटकर अर्थ हो गया 'पैक्स अमेरिकाना' अर्थात् शाश्वत अमेरिकी अथवा अभाव व युद्ध शांति। यह धन–संपदा के बीच अभाव–संस्कृति को फैलाने संबंधी मौलिक धारणा पर आधारित था, जो कि 'पैक्स अमेरिकाना' के अन्तर्गत विकासात्मक विचारधारा की पहचान भी था।

9.2.2 विकास : अल्पविकास के रूप में

पाश्चात्य शक्तियों, खासकर संयुक्त राज्य अमेरिका तथा 'विश्व बैंक' एवं 'अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष' जैसी ब्रैटनवुड संस्थाओं द्वारा अपनाए गए आक्रामक अभिगम को भी चुनौती कम नहीं मिली। यद्यपि ये पाश्चात्य शक्तियाँ शीत–युद्ध के अन्तर्गत दृढ़ से दृढ़तर स्थितियों में धीरे–धीरे पहुँचती रहीं और उन्होंने दुनिया भर में शांति हेतु विकास संबंधी सफलता की शेखी भी बघारी, फिर भी कुछ सिद्धांतवादी ऐसे भी सामने आये जिन्होंने आक्रामक पैक्स इकॉन्मिका/पैक्स अमेरिकाना के भुक्तभोगियों के हित का समर्थन किया। आक्रामक पश्चिमी विकास–सिद्धन्तियों से भिन्न इन विद्वानों के पास अपर्याप्त एवं व असंगत आँकड़ों व रिकार्डों संबंधी गंभीर सीमाबद्धता थी। उनके पास उन तथ्यों व आँकड़ों को जुटाने जैसा एक धृष्ट कार्य था, जो कि सामाजिक–सांस्कृतिक तथा राजनीतिक–ऐतिहासिक स्थलों की एक विशाल श्रृंखला में विस्तारित, अधिकतर गुणात्मक थे। मौखिक परम्पराओं, प्रथाओं, मूल्यों व सांस्कृतिक व्याख्याओं संबंधी उनका अतिरिक्त अर्थ था। इसके अलावा, उन पाश्चात्य विकास की सिद्धान्तियों से भिन्न जिन्हें विकास दरों प्रतिव्यक्ति आयों पर ध्यान केन्द्रित करना होता था, इन्हें जनता की कंगाली, गंदगी और दुर्दशा, विशेष तौर पर उपनिवेश बस्तियों में, पर ध्यान केन्द्रित करना होता था, यद्यपि उनकी नाराजगी भरी आवाज अपनी प्रयोज्यता में वैश्विक थी, फिर भी इन दृष्टिकोषों को स्पष्ट करने वाले अधिकांश विद्वान प्रखर रूप से लैटिन अमेरिका, अफ्रीका, और एशिया के थे। इसी कारण, उन्हे लैटिन अमेरिकीन तथा अफ्रीकी विचारधारा अथवा अधीन–राष्ट्र विचारधारा अथवा अल्पविकसित विचारधारा भी कहा गया। इस सबके परिणामस्वरूप यह विश्व दो चतुष्कोणीय विरोधी ध्रुवों में बँट गया, यथा विकसित तथा अल्पविकसित विश्व। यद्यपि ये अभिलक्षणों में भिन्न हैं, फिर भी एकसमान ऐतिहासिक अनुभव रखते हैं तथा एक ही और उन्हीं प्रक्रियाओं से निकलकर आये हैं। एक अल्पविकसित अर्थव्यवस्था के कुछ महत्त्वपूर्ण अभिलक्षण निम्नलिखित हैं :

1) **उपान्तिक पूँजीवाद में अवस्थान्तर गमन :** उष्ण कटिबन्धी, उपोष्ण कटिबन्धी तथा भूमध्यवर्ती क्षेत्र प्राथमिक उत्पादों के निर्यात में विशेषज्ञता के विषय बने। इस श्रेणी में शामिल अधिकांश उत्पाद कृषि एवं खनन कार्यों से जुड़े थे। उपनिवेशा बस्तियों में उत्पादन संबंधों के तानेबानों ने दर्शाया कि अधिकांश मालिक जन मूल देशवासी ही थे जबकि कायिककर्मियों का बड़ा भाग इन बस्तियों से ही आता था। ब्राजील जैसे देशों ने कॉफी व रबड़ क उत्पादन में महारथ हासिल की; मलेशिया ने रबड़ व टिन के उत्पादन में और भारत ने जूट, चाय व खनन उत्पादों आदि में विशेषज्ञता प्राप्त की।

2) **इतर रूपान्तरवाद :** यद्यपि इन उपनिवेशों को आनुषंनिक क्षेत्र में प्राथमिक एवं अर्ध–संसाधित माल के उत्पादन में विशेषज्ञता प्राप्त थी, इन उत्पादों की घरेलू बाजार में सीमित माँग थी। इन उत्पादों का बड़ा हिस्सा बाह्य माँगों की पूर्ति हेतु पैदा किया जाता था। इस प्रकार, औपनिवेशिक अर्थव्यवस्था हमेशा विश्व बाजार शक्तियों द्वारा ही नियंत्रित रही।

3) **अतिवृद्धिवाद :** मूल देश यथा मात भूमि की ओर से यह अनिवार्य था कि इन उपनिवेशों में शासन तथा कच्चे माल की निर्बाध आपूर्ति एवं तैयार उत्पादों के वितरण के उद्देश्य से संस्थाओं को जन्म दिया जाये। इस उद्देश्य की प्राप्ति हेतु तृतीयक क्षेत्र की अनुपातहीन वृद्धि की गई। तदोपरांत, सेवा क्षेत्र में इन उपनिवेशों में कृषि के बाद दूसरे सबसे बड़े रोजगार भाग का निर्माण किया। यह औपनिवेशिक अर्थव्यवस्था और समाज के तृतीयकरण में परिणत हुआ।

अधीन–राष्ट्र विचारधारा का सबसे महत्त्वपूर्ण योगदान अल्पविकास की प्रक्रियाओं के साथ–साथ उसके लिए संभव उपाय को भी पहचानने में रहा। उनका विश्वास था कि अल्पविकसित देशों के लिए तब तक कोई त्राण नहीं है जब तक कि वे आधुनिक विश्व व्यवस्था के प्रांत और भाग बने रहेंगे तथा असमान विनिमय के आधार पर व्यापार करना जारी रखेंगे। उनके अनुसार, विश्व स्तर पर मुख्य प्रतिवाद साम्राज्यवाद एवं उपनिवेशों के बीच ही है और संभव उपाय इन उपनिवेशों में क्रांतिकारी साम्राज्य–विरोधी संघर्ष है। इसके अतिरिक्त, उन्होंने इस बात पर भी बल दिया कि इन उपनिवेशों में राष्ट्रीय उदारवादी आन्दोलनों को एक ही समय में विदेशी सरकार के एजेण्ट बुर्जुआ वर्ग तथा विश्व साम्राज्यवाद को भी निशान बनाना चाहिए ताकि अपनी अल्पविकसित स्थिति पर नियंत्रण पाया जा सके। यद्यपि उनकी अभिव्यक्तियों में बहुत से गुण थे परन्तू दुर्भाग्यवश अस्सी के उपरांत दशकों में विश्व इतिहास की घटनाओं ने इन माँगों को बड़ा धक्का पहुँचाया और वे सामाजिक परिर्वतन हेतु गैर–क्रांतिकारी विकल्पों की ओर देखने को मज़बूर हो गए। तदोपरांत, विकास को नए शब्दों में परिभाषित किए जाने की आवश्यकता पड़ी।

9.2.3 विकास : स्वतंत्रता के रूप में

बीसवीं शताब्दी मानव इतिहास में सर्वाधिक घटनापूर्ण कालों में एक रही है। मानवमात्र एक के साथ–साथ बढ़ती आशाओं तथा अगाध निराशाओं व विषादों को भोगता ही रहा। अल्पकाल में ही वह क्रांतिकारी के साथ प्रति–क्रांतिकारी परिर्वतनों की एक शृंखला से गुजरा। विज्ञान ने मानव प्रयास में संभावनाओं की नई वीथियाँ खोली, परन्तू इसके साथ ही उसके आविष्कारों ने मानव नियति को अत्यधिक असहाय्य एवं नैराश्य की स्थिति में धकेल दिया। वैज्ञानिकों के साथ–साथ धार्मिक रूढ़िवाद से भी हामरा सामना होता ही रहता है। संक्षेप में, लाभ–हानि संबंधी हमारा पक्का चिठ्ठा एक व्याख्याओं एवं विचारों का विषय बन गया है। तथापि, कम से कम दो स्पष्ट कार्यसूचियाँ ऐसी हैं जो पिछली सदी की उथल–पुथल के परिणामस्वरूप उभर कर आयी हैं।

धर्मनिरपेक्ष अनिशिचितताओं में खगोलीय वृद्धि ही सबसे पहला और सबसे महत्त्वपूर्ण परिणाम है। आज विकसित के साथ–साथ विकासशील देश भी अनिश्चितताओं एवं जोखिमों के भय से ग्रस्त है। यह भी संभवतः एक कारण है कि विज्ञान और धर्म दोनों में आक्रामक स्थिति अपना ली है क्योंकि दोनों ही अपनी अधिकार–माँग हेतु वैध साधनों के रूप में बल–प्रयोग को स्वीकार करते हैं।

दूसरे, स्वतन्त्रता हर एक किसी क अस्तित्व हेतु न्यूनतम शर्त के रूप में उभर कर आयी है। स्वतंत्रता को व्यक्ति की सत्ताशास्त्रीय आवश्यकता और एक जन्मसिद्ध अधिकार समझा जाता है। लोग अपनी आजादी के लिए कोई भी कीमत चुकाने को तैयार रहते हैं। इसको व्यक्ति के सामाजिक एवं वैयक्तिक उत्तरजीवन हेतु एक यथासंभव न्यून शर्त माना जाता है। आधुनिक काल में यही जादू का ताबीज हैं। अब लोग अपने को सिर्फ गिनती में लिए जाने के लिए ही संघर्ष नहीं करते, वे अपने नामों को अपने मौलिक अधिकार के रूप में सूचीबद्ध किए जाने की माँग करते है। 'पहचान के लिए लड़ो' लोकतांत्रिक सहभागितापूर्ण शासन हेतु खास शब्दाडम्बर बन गया है। इसके प्रत्येक सामाजिक दृश्यघटना की विषयवस्तु एवं वैधता–शक्ति का पुननिर्माण किया है। एक नीति और रणनीति के रूप में विकास किसी भी अन्य चीज के मुकाबले अधिक इन्हीं परिर्वतनों से प्रभावित हुआ है।

लोग हर जगह चाहते है कि विकास स्वयं को उनके लोकतांत्रिक अधिकारों तथा उनके द्वारा भोगी जाने वाली स्वतंत्रता के प्रति एक न्यूनतम गारण्टी के रूप में स्थापित करे। ए.के. सेन इस दृष्टिकोण के उत्साही समर्थकों में एक है। अपनी पुस्तक डिवैलॅपमण्ट ऐज़ फ्रीडम में वह लिखते हैं, "स्वतंत्रता का विस्तार देखा जाता है.... विकास के मुख्य परिणाम और प्रमुख साधन के रूप में" (सेनः 2001 XII)। वह आगे लिखते है कि "प्रमाणित परतंत्रता को हटाना.... यहाँ विकास का जन्म होता हे" (सेनः 2001.XII)। वह एक संकल्पना के रूप में विकास को उसके सीमित प्रयोगों– प्रतिव्यक्ति आय व विकास दर आदि – से भी मुक्त करने का प्रयास करते है। वह एक एकीकृत अभिगम प्रस्तुत कर उसे एक विस्तृत अर्थ में प्रयोग किया जाना पंसद करते है, जिसमें शामिल हों – आर्थिक अवसर, राजनीतिक स्वतंत्रता, सामाजिक न्याय, शासन में पारदर्शिता तथा शरण्य सुरक्षा, न सिर्फ आर्थिक जोखिमों के विरूद्ध बल्कि निरक्षरता, रोग–विकारों, सामाजिक संघर्षों के खिलाफ भी (सेनः 2001.XII)। विकास परतंत्रता के प्रमुख मूलकारणों को दूर किये जाने की अपेक्षा करता है, जैसे – "दरिद्रता के साथ–साथ सर्वान्गी सामाजिक वंचन, जन–सुविधाओं की अपेक्षा के साथ–साथ असहिष्णुता अथवा दमनकारी राज्यों की अतिसक्रियता" (सेनः 2001 1.3)। वर्तमान वैश्विक स्थितियों पर सेन ने क्षोभ व्यक्त किया, जहाँ जनता और देशों के एक छोटे–से अल्पसंख्यक वर्ग की अभूतपूर्वक धन–समृद्धि राष्ट्रों व उनकी जनता के एक विशाल बहुसंख्यक वर्ग की साधारण स्वतंत्रता तक की कीमत पर हो रही है। दूसरे शब्दों में, आर्थिक विकास अकेले ही स्वतंत्रता और लोकतंत्र की गारण्टी नहीं देता। इसके विपरीत, गरीबी दूर करना तथा समुचित जन–सुविधाएँ उपलब्ध कराना, सामाजिक देखभाल, स्वास्थ्य रक्षा हेतु संगठनात्मक प्रबंध खासकर महामारी विज्ञान संबंधी कार्यक्रम, शिक्षण सुविधाएँ तथा स्थानीय शांति एवं व्यवस्था कायम रखने हेतु प्रभावी संस्थाएँ आदि लोकतंत्र एवं विकास दोनों ही सफलता के लिए अन्य अनिवार्य आवश्यकताएँ हैं। सेन ने दो कारणों से स्वतंत्रता और विकास के बीच गहरे अन्तर्संबंधों को भी स्थापित किया :

- **मूल्यांकनकारी कारण** : विकास का मूल्यांकन इस लिहाज से करना होगा कि क्या वह स्वतंत्रता जो लोगों के पास है, बढ़ रही है; और
- **प्रभावशाली कारण** : क्या वह स्वतंत्रता जिसका कि लोग उपभोग कर रहें हैं, संबलित है और एक धारणीय अभिकरण के माध्यम से उसकी गारण्टी दी गई है ?

इस प्रकार, विकास और स्वतंत्रता को अपने निरूपणों में नए अर्थ मिले हैं।

9.2.4 विकास : सतत विकास के रूप में

विकास, जिसे विभिन्न विद्वानों द्वारा अपरिहार्य के रूप में लिया गया है, खासकर विश्व–शांति, स्वतंत्रता, लोकतंत्र तथा आधुनिकीकरण आदि के लिए, ने इन सभी दावों को झुठला दिया। उल्टे, मानवता को पर्यावरण तथा संस्कृतिक बाहुल्यों के खिलाफ एक लम्बी लड़ाई के रास्ते पर लाने को छोड़कर, उसने सदा वर्धमान सामाजिक असमानताओं, क्षेत्रीय विषमताओं, लोगों के विस्थापन तथा वैश्विक रूप से रोग व भूख के फैलने को प्रतीक बनाया। इसी कारण, विद्वानों की एक नई जमात ने संपूर्ण प्रक्रिया एवं विकास की अवधारणा पर सवाल किया। उन्होंने विकास के प्रति अपने कुसंतुलित व्यवहार के लिए अल्पविकसित विचारधारा वाले विद्वानों की आलोचना की। उनके योगदान को स्वीकार करते हुए उन्होंने परवर्ती पर वर्ग–संबंधों और उत्पादन साधनों के विस्तार में बाजार संबंधों के पक्ष में अपने तर्कों में विस्तारवादी होने का आरोप लगाया। वे विकास से संबंधित कुछ बड़े मुद्दों के प्रति अदूरदर्शी रहकर एक छोटे से अल्पसंख्यक वर्ग के हितों का पक्ष लेने के लिए विकास विचारधारा के भी समानरूप से आलोचक थे।

हाल ही में विकास की चल रही प्रक्रिया में कुछ और मुद्दों को शामिल किया गया है, जिसकी एक और दृष्टिकोण से आलोचना की गई है। इनमें सबसे महत्त्वपूर्ण मुद्दे पर्यावरण, ह्रास, पारिस्थितिक संकटों तथा सामाजिक पारिस्थितिक आपदाओं से जुड़े है। यद्यपि आधुनिकीकरण और निरन्तर चल रही विकास–प्रक्रियाओं संबंधी आलोचनाएँ कुछ समय तक शीघ्र आने वाली रहीं, फिर भी मुख्य रूप से भारत में मोहनदास गाँधी तथा पश्चिम में मैक्स हॉर्खीमर व थ्योडर एडोर्नो द्वारा दिए गए योगदान ही थे जो गत शताब्दी के पूर्वार्ध में सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण रहे। यद्यपि गाँधी जी ने नैतिक एवं नीति–शास्त्रीय आधार पर इसकी आलोचना की, हॉर्खीमर व एडोर्नो संपूर्ण प्रबोध परियोजना व विवेक प्रतिमान के ही आलोचक थे, जिन्होंने ही उनके अनुसार, विकास में अंतर्निहित अनर्थ के पश्चिमी मार्ग की सफलता को मूल प्रोत्साहन प्रदान किया। परन्तु विकास की सबसे महत्त्वपूर्ण समालोचना 1971 में क्लब ऑफ रोम से आयी। यह निरंतर विकास के संबंध में सभी विचारधाराओं का विरोध करते विद्वानों की एक जमात द्वारा अभिव्यक्ति हुई एक गंभीर चिंता थी। इन विद्वानों ने महसूस किया कि तर्कसंगत उन्नति ही केवल सुरक्षित एवं उपयुक्त विकास सुनिश्चित कर सकती है और वर्तमान विकास की मानिंद असीमित उन्नति सामाजिक के साथ–साथ पर्यावरणीय दृष्टिकोण से भी न तो वाञ्छित है, न ही सतत। इसके अतिरिक्त, जहाँ तक कि मानव कल्याण के भविष्य का सवाल है, उल्टे यह अनर्थकारी भी है। शुमाकर जैसे कुछ विद्वान इन विषयों पर बाद में बोले। उन्होंने गाँधीजी द्वारा व्यक्त किए गए विचारों को दोहराया और वर्तमान

महत्त्वोन्माद, मनोभाव एवं मूल्य प्रणाली हेतु एक वैकल्पिक आदर्श एवं मनोभाव को जन्म दिए जाने की आवश्यकता पर जोर दिया। उनके अनुसार, विद्यमान दैत्याकार औद्योगिक साम्राज्यों एवं विश्व–व्यापारिक उत्पादक संघों द्वारा पैदा की गई संकटमय स्थिति का जवाब ''छोटा अच्छा होता है'' (स्मॉल इज़ ब्यूटिफुल) को स्वीकार करने तथा सराहने में निहित है। इसकी प्राप्ति के लिए अर्थशास्त्र को लाभ आधिक्यीकरण संबंधी संकीर्ण विचारों से स्वयं को मुक्त करना होगा और आर्थिक प्रयासों के आधार रूप में नैतिक, सौन्दर्यपरक एवं अन्य मानवीय मूल्यों को अपनाना होगा।

इसके बाद विकास को न सिर्फ आर्थिक बल्कि पर्यावरणीय लागतों के लिहाज से भी देखा गया। यह महसूस किया गया कि विकास के लिए जरूरी है कि वह न्यूनतम पर्यावरणीय मानकों एवं सुरक्षा प्रतिमानों से जुड़ा हो। जहाँ तक कि विकसित जगत का संबंध है, यह मुख्यतः दो कारणों से विकास संबंधी गंभीर समालोचनाओं में एक थी। प्रथम, अब तक तीसरी दुनिया के विद्वानों द्वारा की गई विकास संबंधी समालोचनाओं को विकसित जगत द्वारा निरस्त किया गया था, यह कहकर कि यह तो पश्चिम–विरूद्ध प्रचार है या फिर सबसे अच्छे रूप में अल्पविकसित दक्षिण द्वारा अपनाई गई एक रणनीति ताकि विकसित उत्तर से लड़ सकें और उनसे अधिक रियायतें पा सकें। इसके अतिरिक्त, उन्होंने अल्पविकसित विचारधारा पर यह भी आरोप लगाया कि वह अपने तर्कसंगत निष्कर्षों पर ध्यान दिए बग़ैर उत्तर व दक्षिण खण्डों के बीच एक कृत्रित दरार पैदा कर रहा है। अल्पविकसित विचारधारा के निरुत्साही रुझान प्रति–उत्पादक सिद्ध हुए क्योंकि पीठ पिछे उसने अभावग्रस्त तीसरी दुनिया के खिलाफ उच्च रूप से विषम जातीय विकसित जगत को एकजुट करने में एक काफी जरूरी समर्थनकारी बल के रूप में काम किया।

दूसरे, पहली बार विकसित जगत ने भी उन बढ़ते पर्यावरणीय जोखिमों से खतरा महसूस किया जिनसे जूझ पाने में वे अकेले असमर्थ थे। यद्यपि, संसाधनों का सदा वर्धमान अवक्षय जीवन संबंधी आधुनिक तरीकों के सातत्य में मुख्य मुद्दा बनता जा रहा था, फिर भी इससे भी ज्यादा गंभीर थे– पारिस्थितिक एवं पर्यावरणीय संकट, जो एक ओर प्राकृतिक संसाधनों क अंधाधुंध दोहन एवं इस्तेमाल के कारण सामने आ रहे थे और दूसरी ओर भूमण्डलीय तापन, हरित–गृह–प्रभावों, ओज़ोन परत अवक्षय, आदि जैसे पर्यावरणीय निम्नीकरण पैदा हो रहे थे। ये संकट इतने गंभीर थे कि उन्होंने न सिर्फ विकास की चल रही प्रक्रिया पर प्रश्न–चिह्न लगा दिया बल्कि स्वयं मानव सभ्यता का भविष्य भी दॉव पर लग गया और समृद्ध व दरिद्र राष्ट्र एवं जनता पर ध्यान दिए बग़ैर अपने प्रभावों को छोड़ने में उसने किसी को नही बक्शा। इसके उपरांत विकसित जगत विकास की वैकल्पिक रणनीतियाँ सोचने पर मजबूर हो गया तथा सतत विकास की अवधारणा का इस उद्देश्य की प्राप्ति हेतु सर्वाधिक उपयुक्त समझा गया। अतः सतत विकास को विकास के विधिसंगत नैतिक विकल्प के रूप में प्रस्तुत किया गया। तदोपरांत, संयुक्त राष्ट्र पर्यावरण कार्यक्रमों(यू.एन.ई.पी.) के अन्तर्गत इस विषय पर विश्वभर में अनेक सम्मेलन आयोजित किए गए। जलवायु पर 'क्योटो सम्मेलन' तथा रियो–डि–जनैरो, ब्राजील में 'पृथ्वी सम्मेलन' इस लिहाज से सबसे महत्त्वपूर्ण थे। इन प्रयासों का वास्तविक परिणाम यह हुआ कि यू.एन.ई.पी. सातत्य विकास लाने के लिए कुछ मौलिक सिद्धांतों की रूपरेखा तैयार करने में सफल रहा। इसके अतिरिक्त, अपनी योजना को मजबूजी प्रदान करने के लिए सातत्य विकास पर संयुक्त राष्ट्र सम्मेलन ने लक्ष्य; प्राप्ति हेतु सामाजिक, पर्यावरणीय, आर्थिक तथा सांस्थानिक संकेतकों की एक से भी तादात्म्य स्थापित किया (बुटोला, 2004).

'ब्रुण्टलैण्ड कमीशन रिपोर्ट' को प्रकाशित हुए पंद्रह वर्ष से ऊपर हो चुके हैं और 'पृथ्वी सम्मेलन' के बाद एक दशक से भी अधिक बीत चुका है परन्तु जहाँ तक कि उनको व्यवहार में लाने का प्रश्न है, इन दोनों में कल्पित उद्देश्य भ्रामक ही रहे हैं। इसकी असफलता क अनेक कारण है परन्तु सबसे महत्त्वपूर्ण है – उनके उपभोग प्रतिमान एवं संसाधनों के अभेदकारी प्रयोग की दिशा में विकसित देशों का अड़ियल रवैया जिसने इस अवधारणा के व्यवहार को वस्तुतः प्रमाणित कर दिया है। निम्नीकृत होते पर्यावरण की जानिब विकसित देशों की निरन्तर अनिच्छा ने विश्व में अनेकों को चुनौती दी है। इसमें सर्वाधिक असुरक्षित वो है जो अपनी आजीविका के साथ–साथ जीवन और पहचान का अर्थ भी अपने पर्यावरण से ही व्युत्पन्न करते है। परिणामस्वरूप, विकास पर पहचान, बिगड़ती आर्थिक दशाओं व बढ़ती क्षेत्रीय विषमताओं के दृष्टिकोण से भी प्रश्न किए गए है।

9.3 विकास : क्षेत्रीय विषमताओं के रूप में

स्थानीय, राष्ट्रीय तथा वैश्विक स्तरों पर चल रहे विकास–कार्यों संबंधी अनुभव यह बताते है कि विकास अनिवार्यतः एक विभेदकारी गतिविधि है। अतीत काल में विद्वानों का कहना था कि विकास अपनी प्रारंभिक अवस्थाओं में क्षेत्रीय और सामाजिक विविधताओं में प्रकट होता हे, यह असंतुलन और असामनताओं को जन्म देता है, परन्तु एक लम्बी कालावधि में ये असमानताएँ कम हो जाती है। यह तर्क दिया गया है कि सशक्त प्रक्रियात्मक प्रभाव और समान रूप से ही सशक्त कर्षण कारक विकास की प्रारंभिक अवस्थाओं में सक्रिय रहते हैं, परन्तु तदन्तर ये रन्च–रन्च फैलते असर असमानताओं को दूर कर देते है और विकास अंततः समान और सर्वांगीण विकास की ओर ले जाता है। विकास की अपसरण–अभिसरण प्रक्रियाओं हेतु उत्तरदायी कुछ कारक निम्नलिखित है :

9.3.1 क्षेत्रीय विषमताओं की वजह : विविधता

यह तर्क दिया जाता है कि यहाँ ऐसे क्षेत्र भी हैं अपने प्राकृतिक संसाधन अक्षय–निधियों के लिहाज से दूसरो की अपेक्षा कुछ साक्षेपिक लाभों का उपभोग करते हैं। इसके अलावा सापेक्षिक लाभों में संपन्न संसाधन आधार, अनुकूल जलवायवीय दशाएँ तथा उसकी भौगोलिक अवस्थिति आदि के लिहाज से सुगम्यता, आदि भी शामिल है। यह कहा जाता है कि समय आने पर विकसित क्षेत्र द्वारा उपभोग किए जाने वाले सापेक्षिक लाभ एक संतृप्ति बिंदु पर पहुँचेंगे और उसके बाद यह उद्यमियों के लिए ज्यादा समय तक लुभावने और लाभकारी नहीं रहेंगे कि वे उद्यमों को केवल विकसित क्षेत्रों तक ही प्रतिबंधित कर अपने रिवाजी रास्तों पर ही चलते रहें। इसके विपरीत, उन्हें बाजार, संसाधनों, श्रमिक बल तथा निवेश अवसरों आदि की तालाश में पिछड़े क्षेत्रों की ओर रूख करना ही होगा। इसके विकसित क्षेत्रों और पिछड़े क्षेत्रों के बीच अन्योन्यक्रिया बढ़ेगी, तथा फलस्वरूप पिछड़े क्षेत्र भी इन परिवर्तनों से लाभ उठाएँगे और अन्ततः बीच की खाई को पाटने में सफल होंगे, साथ ही संतुलित विकास की संभावना बनेगी।

9.3.2 ऐतिहासिक लाभ

यह माना जाता है कि विश्व को दो हिस्सों में बाँटना – विकसित भाग और अल्पविकसित भाग अथवा सारभाग और उपान्त – उन ऐतिहासिक प्रक्रियाओं की वजह से है जिनको आधुनिक विश्व–व्यवस्था तथा पूँजीवाद के उदय से गति मिली। ऐसा मुख्य रूप से विभिन्न स्तरों पर पूँजीवादी दृष्टिकोण की पुनरावृत्ति के कारण है कि विभिन्न क्षेत्रों ने, जहाँ तक कि उनके विकास का संबंध है, भिन्न–भिन्न रूप से ही कार्य–प्रदर्शन किया है। वैश्विक स्तरों पर केवल विकसित सारभाग और पिछड़े उपान्त ही नही हैं बल्कि पिछड़े क्षेत्र के भीतर विकसित क्षेत्र तथा पिछड़े उपान्त भी हैं, और यह तानाबाना तदन्तर स्तरों पर निरन्तर पुनरुत्पन्न होता रहता है। औपनिवेशिक शासन और खासकर उन क्षेत्रीय एवं संरचनात्मक विकृतियों वाली विरासत, जो उपनिवेशकों द्वारा पैदा की गई, ही व्यापकतः उपनिवेशों में अंतः – और अन्तर–क्षेत्रीय विषमताओं हेतु जिम्मेदार है।

9.3.3 माप–संबंधी अर्थव्यवस्थाएँ बनाम संचयीकरण लाभ तथा क्षेत्रीय विषमताएँ

अर्थशास्त्र तमाम लाभ आधिक्यीकरण विषयक ही है। एक उद्यमी आर्थिक अवसरों से सदा उच्च आर्थिक अवसरों की ओर ही जाते है। आर्थिक अवसर प्रचुर संसाधन आधार, आदर्श सामाजिक एवं राजनीतिक परिवेश, बाजार व कच्चा–माल संसाधनों तक बेहतर पहुँच आदि के रूप में हो सकते है, वरन् वह कुछ संचयीकरण लाभ उठाने के रूप में भी हो सकता है। इसका मतलब यह हुआ कि आर्थिक कार्यकलाप अन्य गतिविधियों के साथ संबद्धता से लाभ उठाने के लिए अन्य आर्थिक कार्यकलापों के सामीप्य में कुछ एक जगहों पर संकेन्द्रित होने की प्रवृत्ति रखते हैं। सदा वर्धमान श्रम–विभाजन की ओर ले जाती प्रौद्योगिकी के नवीकरण, प्रसार एवं अंगीकरण के साथ माल, जिन्स एवं सेवाओं के अंतः – तथा अन्तर–क्षेत्रीय प्रवाह जैसे लाभ संचयीकरण से प्रोद्भूत हो सकते है। इसके अलावा भी इसी प्रकार के कारणों की वजह इसके साथ अक्सर देखा जाता है कि एक आर्थिक कार्यकलाप–विशेष बाजार, श्रमिक व अन्य मूल आवश्यकताओं हेतु किसी न्यूनतम निर्णायक एवं आरंभिक सीमा की कामना में एक स्थान–विशेष तक आने में असफल रहता है। अतः ऐसे क्षेत्र जो आरंभिक सीमा से मिलते हैं, विकास कार्यकलापों को आकर्षित करते हैं, बनिस्वत उनके जो ऐसे करने में असफल रहते है।

ऐसे भी विद्वान है जो यह मानते है कि पूँजीगत संसाधनों एवं प्रौद्योगिकी नवीकरणों की दर, उनके प्रसार एवं सगर्भवा–अवधि आदि विकास के साथ–साथ एक क्षेत्र विशेष के पिछड़ेपन में भी योगकारी बनते है। ऐसे क्षेत्र जो इस संकेतकों के प्रति सकारात्मक कार्य–प्रदर्शन करते हैं, वे भी उनके मुकाबले अधिक तेजी से पनपते हैं जो अपनी अनुक्रिया में सुस्त हैं। इनके बीच ये अंतर–क्षेत्रीय विषमताओं के समेकन में परिणत होते हैं। कुछ ऐसे विद्वान भी है जो यह मानते हैं कि आधुनिक प्रौद्योगिकी के इस्तेमाल के संबंध में कुछ सांस्कृतिक समूहों के बीच उत्साह की कमी और नए उद्योगों में हाथ डालने की अनिच्छा भी कुछ देशों के बीच विकास प्ररेक शक्ति पर निराशाजनक प्रभाव डालती है। परिणामस्वरूप वे विकास के निम्न स्तर पर ही रहते है। भारत विकास और वैषम्य के विरोधाभास का एक सुसंतुलित उदाहरण प्रस्तुत करता है। अगले पाठांश में भारत के संदर्भ में विकास एवं क्षेत्रीय विषमताओं पर चर्चा है।

9.4 भारत में विकास और क्षेत्रीय विषमताएँ

9.4.1 औपनिवेशिक प्रभाव

उपनिवेशवाद, विदेशी शासन और परतंत्र विकास भोगने संबंधी भारत का एक लम्बा इतिहास है। ब्रिटिश औपनिवेशिक सत्ता के भीतर अपनी भाग्याधीन स्थिति के परिणामस्वरूप ही वह औपनिवेशिक शोषण के साथ–साथ अपने आर्थिक, सामाजिक एवं क्षेत्रीय तानेबानों में अनाभिव्यक्तियों के भी वशीभूत रहा। असमान विकास सामाजिक गठन की नितांत प्रक्रिया में गहरे संस्थापित था और उसका निदान भी संरचनात्मक परिवर्तन में छुपा था। यद्यपि भारत में औपनिवेशिक शासन के खिलाफ एक लम्बी लड़ाई लड़ी, फिर भी वह संरचनात्मक परिवर्तन के मुद्दे को उठाने तक से बचता रहा। निष्कर्षतः देश की आजादी के बाद कोई ज्यादा उम्मीद नहीं की गई। किसी प्रकार के क्रांतिक कदम उठाने

की बजाय भारत ने मिश्रित आर्थिक विकास का मार्ग अपनाया। इसका परिणाम हुआ क्षेत्रीय विषमताओं एवं असमान विकास का और अधिक दृढ़ीकरण। यद्यपि क्षेत्रीय विषमताएँ व्याप्तिक्षम हैं और हमारे सामाजिक जीवन के हर पहलू में सुनिर्दिष्ट रही है, फिर भी इनमें सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण अभिव्यक्ति पाई जाती है – भारत में मानव विकास की प्रक्रिया एवं एकरूपता में। मानव विकास मे क्षेत्रीय विषमताएँ भारत में सामाजिक असमानताओं एवं क्षेत्रीय विषमताओं की सफलताओं की सफलता का निचोड़ प्रस्तुत करती हैं।

9.4.2 मानव विकास में क्षेत्रीय विषमताओं का स्तर

अपने नागरिकों का कल्याण एवं कुशल–क्षेम ही किसी देश में विकास का एकमात्र लक्ष्य होता है। मानव विकास का अर्थ है – ''लोगों के विकल्पों का क्षेत्र बढ़ना– शिक्षा, स्वास्थ्य रक्षा, आय एवं रोजगार हेतु उनके अवसरों को बढ़ाना और एक ''अदूषित भौतिक परिवेश से लेकर आर्थिक एवं राजनीतिक स्वतंत्रता तक मानव विकल्पों का पूरा क्षेत्र अन्तर्गत करना''। तदनुसार मानव विकास में हर विकास योजना का सारतत्त्व मौजूद है। यद्यपि वाञ्छित उद्देश्यों की प्राप्ति हेतु अपने अभिगमों में भेदों पर ध्यान दिए बग़ैर भारत समेत अधिकांश देश इस लक्ष्य के प्रति वचनबद्ध हैं, फिर भी जहाँ तक कि उसे व्यवहार में ढालने का सवाल है, मानव विकास लगातार एक कुचक्र का विषय बना हुआ है। कुछ ऐसे क्षेत्र हैं जो मानव विकास क उच्च स्तर दर्शाते हैं जबकि अन्य ऐसे भी हैं जो विकास के पैमाने पर पिछले दर्जे पर हैं। भारत इस संदर्भ में एक विख्यात उदाहरण है। निम्नलिखित तालिका विकास के मापक्रम पर भारतीय राज्यों/संघ राज्य–क्षेत्रों की स्थिति को दर्शाती है :

भारत में मानव विकास में क्षेत्रीय विषमताएँ

राज्य/संघ राज्य क्षेत्र	मूल्य	स्थान
चंड़ीगढ़	0.674	1
दिल्ली	0.624	2
केरल	0.591	3
गेवा	0.575	4
अण्डमान व निकोबार द्वीपसमूह	0.574	5
पांडिचेरी	0.571	6
थ्मजोरम	0.548	7
दमन व दीव	0.544	8
मणिपुर	0.536	9
लक्ष्यद्वीप	0.532	10
नागालैण्ड	0.486	11
पंजाब	0.475	12
हिमाचल प्रदेश	0.469	13
तमिलनाडु	0.466	14
महाराष्ट्र	0.452	15
हरियाणा	0.443	16
गुजरात	0.431	17
सिक्किम	0.425	18
कर्नाटक	0.412	19
पश्चिमी बंगाल	0.404	20

जम्मू व कश्मीर	0.402	21
त्रिपुरा	0.389	22
संपूर्ण भारत	0.381	
आंध्र प्रदेश	0.377	23
मेघालय	0.365	24
दादरा व नागर हवेली	0.361	25
असम	0.348	26
राजस्थान	0.347	27
उड़ीसा	0.345	28
अरुणाचल प्रदेश	0.328	29
मध्यप्रदेश	0.328	30
उत्तर प्रदेश	0.314	31
बिहार	0.308	32

स्त्रोतः राष्ट्रीय मानव विकास रिपोर्ट, 2001; योजना आयोग, भारत सरकार, मार्च 2002, नईदिल्ली

उपर्युक्त तालिका से हम निम्नलिखित निष्कर्ष निकाल सकते है :

- छोटे राज्यों व संघ राज्य क्षेत्रों ने बड़े राज्यों की अपेक्षा मानव विकास के उच्चतर स्तर दर्ज कराये हैं। यह इस तथ्य का संकेत करता है कि भारत जैसे एक व्यापकतः राज्य–समर्थित एवं विकासोन्मुखी अर्थव्यवस्था में, जहाँ तक कि मानव विकास का सवाल है, प्रशासनिक इकाई का वृहद् आकार, और साथ ही जनसंख्या भी, एक अवरोधक सिद्ध हुए हैं।
- ऐसे राज्य व संघ राज्य–क्षेत्र जिन्होंने स्वैच्छिक संगठनों, गैर–सरकारी संगठन एवं मिशनरी आदि की गतिविधियों के माध्यम से शिक्षा एवं स्वास्थ्य सुविधाओं के क्षेत्र में मूल अवस्थापन के विकास का अनुभव–ज्ञान किया है, मानव विकास के उच्चतर स्तरों को प्राप्त किया है।
- आर्थिक विकास को बेहतर मानव विकास हेतु मूल आवश्यकता माना जाता है। परन्तु भारत के विभिन्न राज्यों के अनुभव दर्शाते हैं कि मानव विकास के उच्चतर स्तरों को हासिल करने के लिए महज आर्थिक विकास ही पर्याप्त नहीं है। वे राज्य जो औद्योगिक एवं कृषिक विकास में उल्लेखनीय प्रगति दर्शाते हैं, मानव विकास के क्षेत्र में महत्त्वपूर्ण उपलब्धियाँ दर्ज कराने में विफल रहे हैं।
- कुछ समुदाय आर्थिक विकास दर्शाने के लिहाज से ढीले हो सकते हैं और निष्कर्षतः भौगोलिक के साथ–साथ देश की आर्थिक परिधि का भी निर्माण करते हैं परन्तु जहाँ तक कि मानव विकास का प्रश्न है वे निरे सारभाग का ही हिस्सा है।
- मानव विकास के लिहाज से अन्य दक्षिण एशियाई देशों के समकक्ष खड़ा होने के लिए भारत के सामने एक लम्बा रास्ता पड़ा है जो कि तय किया जाना है।
- राष्ट्र–समुदाय के बीच अपनी वर्तमान निम्न स्थिति को सुधारने के लिए भारत को उत्तर प्रदेश, बिहार, मध्य प्रदेश, राजस्थान, असम व आंध्र प्रदेश आदि प्रमुख राज्यों में विकास पर ध्यान देना होगा।
- अपेक्षाकृत बड़े राज्य के लिए राज्य–विशिष्ट आवश्यकताओं हेतु विकास का केरल मॉडल तत्काल प्रबंधीकृत किया जा सकता है।
- आंध्र प्रदेश व कर्नाटक जैसे उच्च–तकनीक राज्यों की निम्न स्थिति नीति नियोजकों के साथ–साथ निजीकरण, उदारीकरण व भूमण्डलीकरण के समर्थकों के लिए एक चक्षु–उन्मीलक है। दूसरे शब्दों में, प्रौद्योगिक उत्कृष्टता एवं श्रेष्ठता मानव विकास की कोई गारण्टी नहीं है। इसके विपरीत, प्रचुर सामाजिक–सांस्कृतिक पूँजी के साथ–साथ पुलकित और सतर्क सभ्य समाज उसके लिए एक निश्चित गारण्टी हो सकता है। यह कम से कम केरल के उदाहरण से तो प्रमाणित होता ही है।

9.5 सार–संक्षेप

निष्कर्षतः यह कहा जा सकता है कि विकास नामक संकल्पना विभिन्न प्रसंगों में भिन्न–भिन्न लोगों के लिए भिन्न–भिन्न अर्थ रखती है। इसने विभिन्न समय–बिन्दुओं पर विभिन्न उद्देश्यों की पूर्ति की है। परन्तु साम्राज्यों के युग में और खासकर अमेरिकी साम्राज्यवाद के आधिपत्य में रहकर राज्यीय नीति एवं विचारधारा के आधार रूप में इसका मानव प्रगति, समाज–कल्याण तथा पर्यावरणीय सातत्य के लिए हानिकारक सिद्ध हुआ। प्रबल विश्व–शक्तियों द्वारा अब तक प्रयोग किए जा रहे एकपक्षीय अभिगम लोगों के विस्थापन एवं हमारे पर्यावरण के ह्रास के साथ विश्व के विरोधी खेमों में विभाजन में परिणत हुए हैं। आधिपत्यपूर्ण नियंत्रण हेतु विकास भी बढ़ती सामाजिक असमानताओं एवं अन्तर्क्षेत्रीय विषमताओं में फलित हुए हैं। ये विकास के कुछ अतिक्रमित परिव्यय हैं जिनकी उपेक्षा करने की भारत जैसा देश नाकाम कोशिश कर सकता है। भारत के विभिन्न क्षेत्रों एवं राज्यों के बीच दीर्घीकृत असमान विकास ने उसकी एकता और अखण्डता को एक गंभीर चुनौती दी है। इसी कारण, यह बेहद जरूरी है कि तरक्की से ताल्लुक रखने वाले मुद्दों को सही पहलू में रखकर और आम आदमी की भलाई के लिए उठाया जाये।

9.6 अभ्यास

1) विकास के विभिन्न अर्थों के अनुसार मुख्य विकासात्मक मुद्दों की पहचान करें।

2) भारत में क्षेत्रीय विषमताओं के विषय में आप क्या निष्कर्ष निकालते हैं ?

अध्याय 10
कृषि परिवर्तन एवं भूमि सुधार

अध्याय की रूपरेखा

10.1 प्रस्तावना
10.2 भूमि सुधार
10.2.1 जमींदारी उन्मूलन
10.2.2 सहकारी समितियाँ
10.2.3 भूदान आन्दोलन
10.2.4 हरित क्रांति
10.3 भूमि सुधार का प्रभाव : कृषिक परिवर्तन
10.3.1 कुलक किसान
10.3.2 छोटे किसान व भूमिहीन श्रमिक
10.4 सार–संक्षेप
10.5 अभ्यास

10.1 प्रस्तावना

भारत में स्वतंत्रता के पश्चात् की अवधि में बहुत बड़ा कृषि परिवर्तन देखने में आया है। ऐसा राज्य द्वारा शुरूकी गई नीतियों के कारण हुआ है, जिसने उनमें भूमि सुधार, सामुदायिक विकास कार्यक्रम, हरित क्रांति व अन्यकई कल्याण योजनाएँ शामिल की हैं। कृषिक परिवर्तन के परिणामस्वरूप ग्रामीण समाज में नए वर्गों की श्रृंखलानिकल कर आयी है, जबकि पुराने समूह अथवा वर्ग या तो गायब हो गए हैं या फिर उनका कायापलट हो गयाहै। कृषिक परिवर्तन ने भारत में राजनीति को काफी हद तक प्रभावित किया है। इस इकाई में भारत में कृषिकपरिवर्तन और इस परिवर्तन हेतु कारणों पर चर्चा की गई है जिसमें भूमि सुधारों का प्रभाव भी शामिल है।

10.2 भूमि सुधार

10.2.1 जमींदारी उन्मूलन

कृषि परिवर्तन लाने के लिए प्रथम प्रयास भारतीय राज्य द्वारा भूमि सुधारों को लागू करके किया गया। स्वतंत्रताके पश्चात् जमींदारी उन्मूलन विधेयक अथवा भूमि धारणाधिकार विधान उत्तर प्रदेश, मध्य प्रदेश, बिहार, मद्रासऔर असम जैसे अनेक राज्यों में लागू किए गए। भारत में भूमि सुधार दो चरणों में बाँटे जा सकते हैं।

भूमिसुधारों का प्रथम चरण स्वतंत्रता के लगभग तुरंत बाद शुरू हुआ। इसने संस्थागत सुधारों पर ध्यान दिया औरसाठ के दशक के आरम्भिक वर्षों में जमींदारों व जागीरदारों जैसे बिचौलियों के उन्मूलन पर निशाना साधा।इसने काश्तकारों को भूमि का स्वामित्व अथवा उन्हें धारणाधिकार की सुरक्षा, किरायों में कटौती और काश्तकारोंपर स्वामित्व अधिकारों की मंजूरी प्रदान की। भूमि सुधारों के इस दौर की एक और विशेषता थी जोतक्षेत्रों अथवापट्टों की हदबंदी। इन लक्ष्यों को प्राप्त करने के अलावा, इस दौर के भूमि सुधार सामुदायिक विकास कार्यक्रमोंव सहकारियों पर भी अभिलक्षित रहे। दूसरे दौर की उत्पत्ति का संबंध साठ के दशांत–मध्य से जोड़ा जा सकताहै। इस दौर की पहचान थी भारत में हरित क्रांति की शुरुआत।हरित क्रांति ने देश के ऐसे कुछ राज्यों में प्रौद्योगिक परिवर्तन लाने का प्रयास किया जहाँ इस प्रकार के परिवर्तनहेतु अनुकूल परिस्थितियाँ विद्यमान थीं। इनमें से कुछ राज्य थे पंजाब, हरियाणा, उत्तर प्रदेश व तमिलनाडु।इसने बीजों की उच्च उत्पादन किस्मों (एच.वाई.वी.), नई प्रौद्योगिकी जैसे ट्रैक्टर, और सिंचाई–सुविधाओं आदिकी शुरुआत की। इस दूसरे दौर का मुख्य केन्द्र–बिन्दु रहा प्रौद्योगिक सुधार। भूमि सुधार यथा जमींदारी उन्मूलनएवं हरित क्रांति कृषिक क्षेत्र में बहुत अधिक बदलाव लाए हैं। इसने न सिर्फ स्वामित्व के आदर्श को प्रभावितकिया बल्कि सामाजिक संरचना, प्रभुत्व के आदर्श व नीतियों के स्वरूप आदि पर भी प्रभाव डाला। भूमि सुधारोंका पहला दौर, खासकर भूमि जमीन–मालिकों का उन्मूलन, स्वतंत्रतापूर्व काल में किसान आन्दोलनों का प्रभावथा। एन.जी. रंगा व चरण सिंह ने इसमें बहुत निर्णयकारी भूमिका निभाई।

भूमि सुधारों का यह दूसरा चरणखाद्य–उत्पादन में भारत को आत्मनिर्भर बनाने हेतु भारत सरकार द्वारा लागू किया गया।जमींदारी उन्मूलन अधिनियम लागू किये जाते समय सामने आने वाली एक प्रमुख समस्या थी पर्याप्त भूमिअभिलेखों का अभाव। वर्ष 1956 तक बिचौलियों (जमीदारों व जागीरदारों) को बिना बल–प्रयोग विधि के एकशांतिपूर्ण लोकतांत्रिक तरीके से समाप्त कर दिया गया। चूँकि अधिकतर जमींदार स्वतंत्रता आन्दोलन के दौरानअंग्रेजों के साथ रहे थे इसलिए वे एक पृथक्त वर्ग थे। जमींदारी की समाप्ति ने लगभग दो करोड़ काश्तकारों काभाग्य बदल दिया, वे अब भूमि के मालिक थे। रियासतों के उपार्जन के बदले में दिया जाने वाला हर्जाना आमतौरपर कम था और इलाके–इलाके के अनुसार भिन्न–भिन्न था।देश के विभिन्न भागों में जमींदारी उन्मूलन कार्य अनेक कमज़ोरियों को भुगतते रहे। उत्तर प्रदेश में जमींदारोंको अपनी निजी कृषि के लिए भूमि रखने की अनुमति थी। निजी कृषि को इतने ढीलेपन से परिभाषित कियागया था कि इनमें वो भी शामिल थे जो भूमि की व्यक्तिगत रूप से अथवा किसी संबंधी के माध्यम से सिर्फदेखभाल करते थे अथवा केवल पूँजी या श्रण प्रदान करते थे। यह कृषिक सुधारों पर कुमारप्पा समिति से मेलनहीं खाती थी। 1949 में अपनी रिपोर्ट में, कांग्रेस पार्टी द्वारा नियुक्त इस समिति ने बताया कि केवल उन्हेंही निजी कृषि करते कहा जा सकता है जो कुछ न कुछ शारीरिक श्रम करते हैं और वास्तविक कृषि कार्य मेंलगे हैं। ज़मींदारी उन्मूलन के पूर्ण प्रभाव को धीरे ही धीरे कमज़ोर करने के लिए अन्य अटकाववादी तकनीकोंका सहारा लिया। राज्य व्यवस्थापिकाओं द्वारा इस प्रकार के विधेयकों के पास होने में विलम्ब करने के लिएविभिन्न तकनींकें इस्तेमाल की गईं। फिर भूस्वामियों ने जमींदारी उन्मूलन कानूनों के लागू होने में विलम्बकरने के लिए मुकदमेबाजी का सहारा लिया। जमींदारों और नौकरशाही के बीच साठ–गाँठ ने जमींदारी उन्मूलनके लागू होने को और अधिक कठिन बना दिया। जमींदार लोग सरकार के तीनों अंगों :- कार्यपालिका, विधायिकाएवं न्यायपालिका :- के माध्यम से बाधा उत्पन्न कर सकते थे। भूस्वामियों द्वारा इन अटकाववादी उपायों कासहारा लिए जाने के बावजूद स्वतंत्रता के दस वर्षों के भीतर, बिहार के कुछ हल्कों को छोड़ कर सभी जगह,जमींदारी उन्मूलन का लक्ष्य हासिल कर ही लिया गया।

स्वतंत्रताप्राप्ति के समय केवल आधी भूमि ही जमींदारी व्यवस्था के तहत थी, परन्तु काश्तकारी प्रथा के दूसरेअर्धभाग में भी विद्यमान थी, जो कि रैयतवाड़ी व्यवस्था के तहत आते थे। भूमि सुधार का एक अन्य महत्त्वपूर्णघटक :- काश्तकारी सुधार, को भी बिना किसी बाधा के लागू किया गया। काश्तकारी सुधारों पर अभिलक्षितकानून विभिन्न राज्यों की विधानसभाओं द्वारा पारित किए गए और उनके अमल में लाने के तरीकों में देश केविभिन्न भागों में विद्यमान भिन्न–भिन्न राजनीतिक व आर्थिक स्थितियों के चलते काफी भिन्नता रही। इनभिन्नताओं से परे, देशभर में काश्तकारी सुधार कानूनों के कुछ सर्वसामान्य उद्देश्य भी थे। उनके लागू किएजाने के तरीके ने भी कुछ पूर्ण और व्यापक अभिलक्षणों के प्रकटन की ओर प्रवृत्त किया। ये सुधार तीन मुख्यउद्देश्यों पर अभिलक्षित थे। प्रथम उद्देश्य था उन काश्तकारों को भूमि को प्रयोग में लाने अवधि संबंधी सुरक्षामुहैया कराना जो एक निर्धारित वर्ष संख्या से बिना रुके किसी भूखण्ड पर खेती करते आ रहे हों। वर्षों कीठीक–ठीक संख्या क्षेत्र–क्षेत्र पर भिन्न–भिन्न थी। काश्तकारी सुधारों का एक अन्य उद्देश्य था एक न्यायसंगतस्तर तक काश्तकारों द्वारा भुगतान किए जाने वाले किरायों में कटौती। यह पट्टे पर ली/दी गई भूमि के उपजके मूल्य के एक चौथाई से लेकर एक–बटा–छह तक होता था।तथापि काश्तकारी सुधारों का एक अन्य उद्देश्य था काश्तकारों को उस भूमि पर स्वामित्व अधिकार प्रदान करनाजिस पर कि वे खेती करते हों। यही कारण है कि दूसरी पंचवर्षीय योजना में अभिकल्पित किया गया कि बहुतछोटे भूमि–मालिक अपनी पूरी जमीन पर स्वयं–कृषि शुरू कर सकते हैं। यह प्रावधान बहुत छोटे भूमि मालिकोंके हितों की रक्षा करने के लिए बनाया गया परन्तु नौकरशाही के गुप्त सहयोग से इसका बड़े भूमि–मालिकों द्वाराअपने लाभ के लिए दुरुपयोग किया गया। बड़े भूमि–मालिकों ने अपनी जमीनें अपने संबंधियों के नाम हस्तांतरितकर दीं ताकि छोटे भूमि–मालिकों का लेबिल लग सके और छोटे भूमि–मालिकों को दिए गए पुनर्ग्रहण अधिकारका प्रयोग कर काश्तकारों को बेदखल किया जा सके। ये बड़े–मालिक कानूनों के बनाये जाने के साथ–साथ लागूकिए जाने में भी विलंबकारी चाल चलने में लगे थे ताकि अपनी जमीनों से उन काश्तकारों को बेदखल करनेका पर्याप्त समय मिल सके जिन्हें कानून की सहायता से लाभ मिल सकता था। वो चीज जिसने काश्तकारों कीसमस्याओं को और जटिल बना दिया यह थी कि अधिकांश काश्तकारियाँ बिना किसी रिकार्ड के मुँह–जबानी थीं।ऐसे काश्तकारों को अपने पक्ष में किसी भी कानून से लाभ प्राप्त नहीं हो सकता था। काश्तकारी संबंधी इन सभीप्रतिबंधों के बावजूद ये कानून काश्तकारों के एक अच्छे बड़े भाग को सुरक्षा और यहाँ तक कि स्थायीअधिभोगाधिकार भी मुहैया कराने में सफल रहे। 1978 में पश्चिम बंगाल में वाम मोर्चा सरकार द्वारा शुरू कियागया 'ऑपरेशन बर्गा' फसल–साझेदारों को अधिभोगाधिकार दिलवाने के लिए उनका एक समयबद्ध पंजीकरणतथा भूमि–मालिक व फसल–साझेदार के बीच 1:3 फसल का हिस्सा संबंधी उद्देश्य को लेकर चला। 'ऑपरेशनबर्गा' प्रयोग का एक उल्लेखनीय पहलू यह रहा कि इसमें अभिलक्षित लाभप्राप्तकर्त्ता शामिल थे ताकि राजस्वअधिकारियों द्वारा निभायी जाने वाली नकारात्मक भूमिका को निष्प्रभ किया जा सके और इस प्रकार काश्तकारीसुधार एक बड़ी सफलता प्राप्त कर सकें।

पहले दौर में भूमि सुधारों का एक अन्य महत्त्वपूर्ण घटक था जोत क्षेत्रों की माप पर सीमा निर्धारण लागू करना।भूमि सीमा निर्धारण को तय करने का उद्देश्य जोतक्षेत्र के और अधिक न्यायपूर्ण वितरण से जुड़ा था। जोतक्षेत्रोंपर सीमा–निर्धारण तय करने और भूमिहीनों के बीच अधिशेष भूमि के वितरण संबंधी इस विचार को हर जगहतगड़े विरोध का सामना करना पड़ा। इसको सम्पत्ति के अधिकार पर खतरे के रूप में देखा गया। यहाँ तककि उन काश्तकारों ने जो जमींदारी उन्मूलन से लाभान्वित हुए थे और भूमि–मालिक बन गए थे, भी भूमिसुधार के इस अगले कदम का विरोध किया। एन.जी. रंगा, सचिव कांग्रेस संसदीय दल ने नेहरू जी को सौसंसद–सदस्यों द्वारा हस्ताक्षरित एक पत्र भेजा था जिसमें जोतक्षेत्रों पर सीमानिर्धारण संबंधी विचार की आलोचनाथी। ऐसे नेतागण जो इस विचार के बारे में ज़्यादा उत्साहित नहीं थे, राज्य व्यवस्थापिकाओं पर छाये हुए थे।यही कारण था कि उन्होंने इस आशय के कानून को पारित करने में देर लगाई। इस प्रकार के कानून को पासकरने में बेतरतीब देरी और कानून–निर्माण की प्रकृति, दोनों ने इसके प्रभाव को क्षीण किया। यह भूमिहीनोंके बीच वितरण हेतु थोड़ी–सी अधिशेष भूमि को आबंटित करने में सफल रहा। सीमा–निर्धारण कानून अपनेकुछ खास दोषों के कारण ज़्यादा कुछ लाभ नहीं दे सका। इस प्रकार का एक दोष यह था कि भारत में सत्तरप्रतिशत जोतक्षेत्रों का क्षेत्रफल पाँच एकड़ से भी कम था, जबकि राज्यों द्वारा किया गया सीमा–निर्धारण बहुतऊँचा था। एक अन्य समस्या थी कि ये सीमानिर्धारण परिवारजनों व संबंधियों के बीच जोतक्षेत्रों पर न होकरव्यक्तिजनों पर थोपे गए थे और उन्हें खुद ही सीमानिर्धारण कानूनों से बचाते थे। इस कानून में एक अन्यप्रावधान था कि यदि परिवार का आकार पाँच सदस्यों से अधिक हो तो यह निर्धारण–सीमा सौ प्रतिशत तक भीजा सकती थी, जैसा कि बिहार के मामले में था। दूसरी पंचवर्षीय योजना में सिफ़ारिश की गई थी कि भूमि कीकुछ खास श्रेणियाँ सीमानिर्धारण से मुक्त की जा सकती हैं। इस सिफ़ारिश ने अधिकांश राज्यों को विभिन्नप्रकार की छूटें प्रदान करने की ओर प्रवृत्त किया। इन छूटों में शामिल थे :- चाय, कॉफी व रबर बागान,पशु–प्रजनन, डेयरी हेतु प्रयुक्त फार्म तथा कुशलतापूर्वक चलाये जाने वाले ऐसे फार्म जिन पर भारी लागत लगाईगई हो। तात्पर्य यह था कि पूँजीवादी खेती में अड़चन न आये। परन्तु कुशलतापूर्वक नियंत्रित खेती का विचारइतना अस्पष्ट था कि इसका प्रयोग बहुत बड़ी संख्या में भूस्वामियों द्वारा इसलिए किया गया कि वे स्वयं को कुशलकृषक घोषित करवा सकें और सीमानिर्धारण कानूनों के प्रावधानों का माखौल बना सकें। यहाँ तक कि राज्यव्यवस्थापिका के माध्यम से इस कानून को सबसे पहले पास कराने में और तदोपरांत कार्यान्वित करने में उत्पन्नकिए गए लम्बे विलम्ब ने बहुत हद तक उसके उद्देश्य को निष्फल ही कर दिया। भूस्वामियों ने इस विलम्ब कोया तो अपनी जमीनों को बेचने में या फिर उन्हें अपने परिवारजनों अथवा संबंधियों के नाम हस्तांतरित कर दिएजाने में प्रयोग किया। कभी–कभी तो उन्होंने बेनामी हस्तांतरण का भी सहारा लिया। भूस्वामियों ने इस विलम्बका प्रयोग अपनी जमीनों से काश्तकारों को बेदखल करने में भी किया। सीमा–निर्धारण कानूनों की निष्प्रभावीताइस तथ्य से भी सामने आयी कि जहाँ सीमानिर्धारण कानून 1961 के अंत तक अधिकांश राज्यों द्वारा पास हो गए थे, 1970 के अंत तक बिहार, केरल, उड़ीसा व राजस्थान जैसे बड़े राज्यों में एक भी एकड़ फालतू घोषितनहीं की गई थी।

10.2.2 सहकारी समितियाँ

भूमि सुधारों के प्रथम चरण का एक अन्य महत्त्वपूर्ण अंग था कृषि में सहकारी समितियों को स्थापित करना।इसको कृषि के सहकारीकरण का नाम दिया जा सकता है। समाजवादी व साम्यवादी पार्टियों के नेताओं केसाथ–साथ नेहरू व गाँधी जी समेत कांग्रेस पार्टी के अनेक शीर्ष नेतागण सहकारीकरण के लाभ के क़ायल थे।इन सबका विचार था कि यह कृषि में बड़े सुधार की ओर प्रवृत्त करेगा और जो ग़रीबों के लिए भी फायदेमंदरहेगा। सहकारीकरण में भूमि सुधारों के प्रथम चरण का एक महत्त्वपूर्ण अवयव शामिल था। परन्तु सहकारीगणके लक्ष्य के सामने भी समस्या थी। जैसा कि भूमि सुधारों के उदाहरण में था, किसानों के बीच इसके पक्ष मेंकोई आम सहमति नहीं थी। 1949 में कांग्रेस पार्टी द्वारा गठित कृषि संबंधी सुधारों पर कुमारप्पा समिति ने यहसिफ़ारिश की कि राज्यों को ऐसी शक्ति प्रदान की जाये ताकि वे विभिन्न प्रकार की खेतियों के लिए सहकारिताकी भिन्न–भिन्न मात्रा का प्रयोग अमल में ला सकें। पारिवारिक किसान सहकारी समितियों का प्रयोग विपणन,ऋण व अन्य बातों के लिए कर सकते थे।

प्रथम पंचवर्षीय योजना में सिफारिश की गई कि छोटे व मंझले किसानों को प्रोत्साहित किया जाये कि वे स्वयंको सहकारी कृषि समितियों में समूहीकृत करें। इसी योजना की एक अन्य सिफ़ारिश यह थी कि यदि किसी गाँवमें कम से कम आधी ज़मीन का ऋण रखने वाले रिहाइशी काश्तकार व भूस्वामी ग्रामभूमि के सहकारी प्रबंधमें आना चाहें तो उनका फैसला गाँव के अन्य निवासियों पर भी बाध्यकारी होना चाहिए।

दूसरी पंचवर्षीय योजनामें घोषणा की गई कि इसका उद्देश्य सहकारी कृषि के विकास हेतु मज़बूत आधार प्रदान करना है ताकि दस वर्षकी अवधि के अन्दर–अन्दर सहकारी के तर्ज पर भूमि के पर्याप्त भाग पर खेती की जा सके।सहकारीकरण के क्षेत्र में चीन आदर्श रहा क्योंकि उसे सहकारीकरण के माध्यम से कृषि–उत्पादन एवं अन्तर्भूतढाँचे के विस्तार में नाटकीय परिणाम प्राप्त हुए थे। 1956 के मध्य में दो भारतीय प्रतिनिधिमंडल जिनमेंसहकारिता आंदोलन के नेतागण, संसद सदस्यगण, सहकारियों के क्षेत्र में अनुभवप्राप्त सरकारी अधिकारीगण तथातकनीकी विशेषज्ञगण शामिल थे,

चीन भेजे गए ताकि वे उनके अनुभव से लाभ उठा सकें। 1959 में कांग्रेसपार्टी के नागपुर प्रस्ताव में ग्राम पंचायतों व ग्राम सहकारियों की एक साथ जन्मीं आवश्यकताओं पर बल दियागया। इस प्रस्ताव में इस बात पर भी ज़ोर दिय गया कि इन संस्थाओं के पास पर्याप्त अधिकार और प्रकार्य होंताकि उन्हें सौंपे गए कार्यों को वे संतोषजनक रूप से कर सकें। इस प्रस्ताव में तीन वर्ष की अवधि के भीतरसंयुक्त सहकारी कृषि के लक्ष्यों को प्राप्त करने का उद्देश्य रखा गया। सहकारीकरण की योजना को प्रैस में औरसंसद भवन में कड़ी आलोचना का सामना करना पड़ा। इस प्रकार के संदेह व्यक्त किए गए कि यह योजनानिजी सम्पत्ति को समाप्त करने की दिशा में एक कदम है और यह भूमिसम्पन्न वर्गों की बेदख़ली की ओर प्रवृत्तकरेगी। यहाँ तक कि वरिष्ठ कांग्रेसी नेताओं, जैसे एन.जी.रंगा, सी. राजगोपालाचारी व चरणसिंह ने इस योजनापर सर्वसत्तावादी (Totaliterian)होने का आरोप लगाया। उनका विचार था कि साम्यवादी योजनाएँ भारत परथोपी जा रही हैं। ऐसे संदेहों को दूर करने के लिए नेहरू ने संसद में आश्वासन दिया कि सहकारीकरण योजनालागू करने के लिए कोई दमनकारी तरीका नहीं अपनाया जाने वाला। कांग्रेस पार्टी के 1959 के नागपुर प्रस्तावकी तीखी आलोचना ने मूल प्रस्ताव के उद्देश्य को लेकर चलने संबंधी कांग्रेस के प्रस्ताव को कमज़ोर कर दिया।तीन वर्ष की अवधि के भीतर देशभर में सेवा सहकारियाँ स्थापित करने और कृषि सहकारियाँ स्थापित करने केविचार को ठण्डे बस्ते में डाल देने के लिए रखा गया कांग्रेसी प्रस्ताव गिरता नजर आया। सहकारियाँ स्थापितकरने का उद्देश्य भी पूरा नहीं हुआ। राज्य कांग्रेस के नेताओं ने ज़्यादा रुचि नहीं दिखाई। यह योजना अंततः1959 में छोड़ दी गई।

तीसरी पंचवर्षीय योजना ने सहकारीकरण के उद्देश्य को फिर से अभिसिंचित किया।जहाँ तक कि सहकारी खेती का संबंध था, उसने हर जिले में दस मार्गदर्शक परियोजनाएँ स्थापित करने काउद्देश्य बनाया। उसने यह भी स्पष्ट किया कि सहकारी कृषि को सामुदायिक विकास आंदोलन के माध्यम से आगेबढ़ना होगा। यह ऋण, विपणन, वितरण व प्रसंस्करण में सहयोग से ही संभव हो सकता था। यह स्पष्ट है कितृतीय पंचवर्षीय योजना में इस बात की कोई ठोस कार्ययोजना नहीं थी कि सहकारीकरण के लक्ष्यों को किसप्रकार प्राप्त किया जाये।

भारत में सहकारी आंदोलन को सफल नहीं कहा सकता। जहाँ तक कि संयुक्त कृषि का संबंध था, दो प्रकारकी सहकारियाँ उभरकर आयीं। प्रथम प्रकार की सहकारियाँ सीमानिर्धारण एवं काश्तकारी कानूनों के प्रावधानोंसे बचने के लिए सामने आयीं। बड़े भूमिधारी परिवारों के प्रभावशाली सदस्यों ने कृषि श्रमिकों को नकलीसदस्यता दी और पूर्व काश्तकारों ने सहकारियों का प्रबंधन अपने हाथ में रखने के लिए भूमि–सीमानिर्धारण एवंकाश्तकारी कानून के प्रावधानों का उल्लंघन किया और साथ ही वित्तीय मदद से लाभ उठाकर, राज्य द्वारा मुहैयाकराए गए बीजों, उर्वरकों आदि में सुधार किया। एक अन्य प्रकार के सहकारी फार्म वहाँ थे जहाँ ग़रीब भूमिहीनश्रमिकों व हरिजनों के लिए घटिया किस्म की ज़मीन मुहैया कराई गई थी। इन ज़मीनों पर सिंचाई सुविधानदारद थी। ये सरकार द्वारा प्रायोजित सहकारी फार्म थे। इनमें पहल और प्रयोजन दोनों का अभाव था। वेबिना किसी समानुपातिक लाभ वाले खर्चीले मामले साबित हुए।सेवा सहकारियों ने इतना बुरा प्रदर्शन नहीं किया। फिर भी, उनको कुछ बड़ी कमियों का सामना करना पड़ा।उन्होंने ग्रामीण अर्थव्यवस्था के पदानुक्रमित दृष्टिकोण को मज़बूत किया। इन सहकारियों के पदाधिकारीगणनिरपवाद रूप से उन परिवारों से आये जिनका न सिर्फ़ ज़मीन पर बल्कि व्यापार एवं ऋण के लेन–देन परभी नियंत्रण था। इन सहकारियों में मुख्य पदों पर काबिज़ हो ये प्रभावशाली परिवार कृषि निवेशों व ऋणों जैसेलाभों को समेट सके। ग्रामीण लब्धप्रतिष्ठ व्यक्तियों ने ऋण समितियों की निधियों को अपने व्यापार के लिए औरकभी–कभी तो ऋण देने के लिए भी प्रयोग किया। इन संस्थाओं पर असल में गाँवों के प्रबल वर्गों का अधिकारहोता था। इन संगठनों का लाभ देहात में ग़रीबों तक नहीं पहुँच रहा था। ये सहकारियाँ ज़मीन को ज़मानतके रूप में रखकर ऋणों को दिए जाने पर ज़ोर देती थीं। इसने कार्यतः ऋण के लाभ को भूमिहीन मगरउद्यमशील किसानों हेतु वर्जित कर दिया। अखिल भारतीय सर्वेक्षण समिति, 1969 की रिपोर्ट तथा 1971 में कृषि पर राष्ट्रीय आयोग द्वारा छोटे व उपांतिक किसानों हेतु ऋण सेवाओं पर अंतरिम रिपोर्ट ने भूमिहीनों के यथार्थ बहिष्करण एवं छोटे व उपांतिक किसानों को सिर्फ़ नाममात्र के लाभ पहुँचने की पुष्टि की। सहकारीआंदोलन की एक मुख्य कमज़ोरी थी समस्या तक पहुँचने की उसकी नौकरशाही प्रकृति। ये सहकारी समितियाँराज्य, ज़िला अथवा खण्ड स्तर पर किसी भी अन्य सरकारी महकमे की ही भाँति थीं। यहाँ तक कि इस विभागके पदाधिकारीगण भी स्थानीय लब्धप्रतिष्ठ व्यक्तियों के दबाव और प्रभाव के अधीन थे। एक अन्य दोष जिसनेसहकारी ऋण समितियों को सताया, वो था ऋणों की उगाही। विचित्र बात है कि बाकीदार न सिर्फ़ ग़रीब औरछोटे किसान ही थे बल्कि सम्पन्न किसान भी थे।

10.2.3 भूदान आन्दोलन

भूदान (भूमि–दान) आन्दोलन अप्रैल 1951 में आचार्य विनोबा भावे द्वारा शुरू किया गया। इस आंदोलन काउद्देश्य था भूमिधारक वर्गों से अपील करना ताकि वे अपनी फ़ालतू ज़मीन ग़रीबों को दान कर दें। परन्तु इसआन्दोलन द्वारा इस उद्देश्य से अपनाया गया तरीका उससे एकदम भिन्न था जो ज़मीदारों उन्मूलन में इस्तेमालकिया गया था। गाँधीवादी तकनीक से प्रेरणा पाकर विनोबा भावे के सर्वोदय समाज ने भूदान आन्दोलन मेंसामाजिक कायान्तरण का अहिंसात्मक तरीके वाला आदर्श अपनाया। विनोबा भावे तथा उनके अनुयायी दल नेगाँव–गाँव पदयात्रा की, बड़े भूमिधारकों से यह

निवेदन करते हुए कि वे भूमिहीनों में बाँटे जाने के लिए भूदानके रूप में अपनी भूमि का एक–बटा–छह भाग दान कर दें। यद्यपि यह आन्दोलन स्वतंत्र होने का दम भरताथा, फिर भी उसे कांग्रेस पार्टी का समर्थन प्राप्त था। अखिल भारतीय कांग्रेस कमेटी ने अपने कार्यकर्त्ताओं सेआग्रह किया कि वे आन्दोलन का साथ दें।विनोबा भावे का भूदान संबंधी प्रयोग 1951 में आंध्र के तेलंगाना क्षेत्र में पोचमपल्ली गाँव में शुरू हुआ। तेलंगानाका चुना जाना महत्त्वपूर्ण था क्योंकि उस क्षेत्र में भारतीय कम्यूनिस्ट पार्टी के नेतृत्व वाले सशस्त्र किसान विद्रोहकी गूँज अब भी सुनाई देती थी। आंध्र में अपनी उल्लेखनीय सफलता के बाद यह आन्दोलन देश के उत्तरी भागकी ओर बढ़ गया। उत्तर में भूदान बिहार व उत्तर प्रदेश में प्रयोग किया गया। अपने प्रारंभिक वर्षों में इसआन्दोलन ने भूमि–दानों को प्राप्त करने तथा उन्हें वितरित करने में काफ़ी बड़ी मात्रा में सफलता हासिल की।परन्तु सफलता आन्दोलन के सामने आने वाली एक समस्या यह थी कि दान की गई भूमि का एक अच्छा–खासाभाग खेती के लिए कतई उपयुक्त नहीं था। ऐसी भूमि को लेने वाला कोई नहीं था।

1955 में विनोबा भावे के प्रयोग ने एक और रूप ले लिया, यह रूप था ग्राम–दान यानी गाँव दान करना। यह विचार इस गाँधीवादी धारणा से जन्मा था कि सारी भूमि भगवान् की है। यह आन्दोलन उड़ीसा के एक गाँव से शुरू किया गया। ग्राम–दान गाँवों में इस आन्दोलन ने घोषणा की कि सारी भूमि पर सामूहिक अथवा समानरूप से अधिकार रहेगा। यह आन्दोलन उड़ीसा में बहुत सफल रहा। तदोपरांत इसे महाराष्ट्र, केरल व आंध्र मेंशुरू किया गया। यह आन्दोलन देश के जनजातीय इलाकों में विशेष रूप से सफल रहा, जहाँ वर्ग–विभेदन अभीउभरा ही नहीं था और स्वामित्व प्रतिमान में बहुत थोड़ी–सी असंगति थी।

अनेक आलोचकगण भूदान व ग्राम–दान आन्दोलन को काल्पनिक कहकर खारिज करते हैं। इस आन्दोलन केखिलाफ एक अन्य आरोप यह लगाया जाता है कि इसने ग़रीबों व भूमिहीनों की वर्ग–चेतना का गला घोंट दियाऔर किसानों की क्रांतिकारी प्रयोगक्षमता पर लगाम कसने के रूप में काम किया। ऐसा लगता है कि भूदान वग्रामदान आन्दोलन का उचित मूल्यांकन अभी किया जाना है। इस आन्दोलन के बारे में असाधारण बात यह हैकि इसने भूमि के समान वितरण का लक्ष्य सरकारी कानून के माध्यम से नहीं बल्कि एक ऐसे आन्दोलन केमाध्यम से किया जिसमें सम्बद्ध लोग शामिल थे। साथ ही, उसने ऐसा बिना किसी हिंसा अथवा दमन प्रयोग के,बल्कि बड़े भूस्वामियों के सद्विवेक की अभ्यर्थना करके किया। इस आन्दोलन की उल्लेखनीय सफलता से परेउसने ज़मीन के पुनर्वितरण हेतु भी पर्याप्त प्रचार और आन्दोलन को जन्म देने में सफलता प्राप्त की।

10.2.4 हरित क्रांति

हरित क्रांति भूमि सुधारों के द्वितीय चरण का मुख्य कार्य–प्रकरण रही है। स्वतंत्रता के पश्चात् ग्रामीण क्षेत्र मेंखास ध्यान कृषि में संस्थागत सुधारों पर रहा। पचास के दशकांत तथा साठ के दशकारंभ तक भूमि सुधारों सेहोने वाला लाभ अपनी सीमा तक पहुँचने लगा। इस दौरान नेहरू ने प्रौद्योगिकीय निर्णयों की आवश्यकता कोमहसूस किया। नई कृषि–रणनीति अपने पैकेज कार्यक्रम को साथ लेकर गहन विकास हेतु कुछ प्राकृतिक लाभोंवाले चुनींदा क्षेत्रों का पता लगा रही थी। गहन कृषि जिला योजना तीसरी पंचवर्षीय योजना में शुरू किया गया।इस योजना में परीक्षण के तौर पर प्रत्येक पंद्रह राज्यों में से एक ज़िले को लिया गया। नई कृषि–रणनीति केइन पदचिह्नों के बावज़ूद उसे कोई बड़ा प्रोत्साहन साठ के दशकमध्य में ही मिल सका। भारत के सामनेचिरकालीन खाद्य–संकट मुँह बाय खड़ा था। देश को 'पी. एल.–480' नामक एक समझौते के तहत अमेरिका से खाद्यान्न के आयात का सहारा लेना पड़ा। उत्तर प्रदेश व बिहार में अकाल जैसी स्थिति थी। इस प्रकार की पृष्ठभूमि में उच्चतर विकास एवं खाद्याभाव के संभावित हल की आशाएँ जगाते हुए कृषि–विज्ञान में कुछसंकटकालीन उपायों ने भारत को हरित क्रांति के रास्ते पर ला दिया। नई कृषि–रणनीति को प्रधानमंत्री लालबहादुर शास्त्री, खाद्य–मंत्री सी. सुब्रह्मण्यम् तथा इंदिरा गाँधी जो शास्त्री जी की अकाल–मृत्यु के पश्चात्प्रधानमंत्री बनीं, का पूर्ण सहयोग मिला।

सुनिश्चित सिंचाई व अन्य प्राकृतिक व संस्थागत लाभों वाले क्षेत्रों को उच्च–उत्पादन किस्म (एच.वाई.वी.) बीजों,रासायनिक उर्वरकों व कीटनाशकों जैसे अतिमहत्त्वपूर्ण निवेश उपलब्ध कराये गए। इन क्षेत्रों में किसानों कोसुविधाजनक शर्तों पर ट्रेक्टर, पम्प–सेट व ट्यूब–वैल जैसे कृषि यंत्र भी दिए गए। वे कृषि विश्वविद्यालयों सेमृदा–सर्वेक्षण, कृषि ऋण व मार्गदर्शन आदि की सुविधा का लाभ उठा सकते थे। किसानों को ये सुविधाएँ मुहैयाकराने के अलावा सरकार ने 1965 में कृषि मूल्य आयोग भी स्थापित किया। इस आयोग का उद्देश्य था किसानोंको सतत लाभजनक दिलाने का वायदा का करना। इस प्रकार, सार्वजनिक निवेश संबंधी पैकेज, संस्थागत ऋण,लाभजनक मूल्य व प्रौद्योगिकी मदद की सहज उपलब्धता ने कृषि को एक फायदेमंद मसविदा बना दिया। इसनई कृषि–रणनीति अथवा हरित क्रांति ने कृषि–उत्पादन में आश्चर्यजनक वृद्धि की ओर प्रवृत्त किया। 1968 से 1971 के बीच उत्पादन 35 प्रतिशत तक बढ़ा। बहुत जल्द ही भारत ने अपनी भिक्षा–पात्र वाली छवि को दफ़ना दिया और अस्सी के दशक तक आते–आते वह न सिर्फ़ प्रतिसंतुलक खाद्य–भण्डार वाले बल्कि एक खाद्य–आपूर्ति करने वाले देश के रूप में भी उभर कर सामने आया। हरित क्रांति के खिलाफ एक आलोचना होती रही है कि उसने कुछ पहले से ही लाभप्राप्त क्षेत्रों पर ध्यान केन्द्रितकर

क्षेत्रीय असमानताओं को और अधिक बढ़ावा दिया। जी.एस. भल्ला जैसे विद्वानों का मत है कि एकसमयावधि विशेष में हरित क्रांति के लाभ सभी कृषिक वर्गों को भिन्न–भिन्न मात्राओं में पहुँचे। इसके लाभ अबदेश के किसी क्षेत्र विशेष तक ही सीमित भी नहीं रहे हैं। हरित क्रांति के विरुद्ध एक अन्य आरोप यह था किवह अमीरों को और अमीर तथा ग़रीबों को और भी ग़रीब बना रही थी। डैनियल थॉर्नर तथा वुल्फ़लादज़िंस्कि, दोनों इस आरोप की पुष्टि करते हैं। उनके अनुसार, जबकि असमानता तो बढ़ी पर छोटे किसानोंव भूमिहीन श्रमिकों समेत ग़रीब लोग हरित क्रांति से लाभान्वित हुए।

10.3 भूमि सुधार का प्रभाव : कृषिक परिवर्तन

10.3.1 कुलक किसान

भूमि सुधारों, खासकर ज़मींदारी उन्मूलन तथा हरित क्रांति से कृषिक परिवर्तन पर अत्यधिक प्रभाव पड़ा। एकओर इन्होंने कृषि विकास को त्वरित किया तो दूसरी ओर कृषि में संबंधों का पूरा प्रतिमान ही बदल गया। यहपरिवर्तन भारत के विभिन्न भागों में आर्थिक व राजनैतिक रूप से सबल समूहों के वर्गोदय के रूप प्रकट हुआ।इनको लोकप्रिय रूप से कुलक अथवा धनी किसानों के रूप में जाना जाने लगा। एल.एच. रुडोल्फ़ और सुसाँरुडोल्फ़ ने उन्हें ''बैल पूँजीपति'' ('Bullock Capitalists')के वर्ग में रखा। ये समूह अनेक राज्यों मेंराजनीतिक मामलों को हाथ में लेने के लिए सामने आये, और नब्बे के दशक से वे राष्ट्रीय राजनीति में भीप्रभावी हो गए। जाति–संयोजन के लिहाज से वे उत्तर प्रदेश, हरियाणा, पंजाब व राजस्थान में जाट, यादव,लोध, गूजर, कुर्मी, आदि; महाराष्ट्र में मराठा; कर्नाटक में लिंगायत व वोकलिग्गा; आंध्रप्रदेश में रेड्डी व कम्माजैसी मध्यवर्ती जातियों से संबंध रखते थे। अपने निवास के राज्यों में वे अन्य–पिछड़ा–वर्ग (ओ.बी.सी.) के नामसे जाने गए। ज़मींदारी उन्मूलन के पश्चात् भूमि–स्वामी बन जाने के बाद उन्हें हरित क्रांति के माध्यम सेआधुनिक प्रौद्योगिकी व निवेशों से लाभ मिला। भूमि सुधारों ने उन्हें देश के अनेक क्षेत्रों में कृषिक समाज मेंसबसे सशक्त समूह बना दिया। यह प्रकटन तत्कालीन प्रबल समूहों के पतन में भी फलीभूत हुआ। इसघटनाक्रम ने, बहरहाल, सामाजिक व आर्थिक रूप से असुरक्षित समूहों :- दलित व निम्न पिछड़े वर्गों, को लाभनहीं पहुँचाया 'ग़रीबी घटाओ' कार्यक्रम आदि जैसे कल्याणकारी कदम मुख्य रूप से जनवादी उपाय रहे हैं।

इसके अतिरिक्त वृहद–स्तरीय भ्रष्टाचार से अड़ंगा पड़ता था। तथापि, शिक्षा, जागरूकता एवं डॉ. भीमरावअम्बेडकर के विचारों व व्यापक संचार माध्यमों के योगदान से, उत्तर प्रदेश जैसे, ग्रामीण–क्षेत्र राज्यों समेत,राज्यों में दलितों का वर्चस्व रहा है। बहुजन समाज पार्टी का उदय इसी बात का संकेत है।

कुलक अर्थात् धनी किसानों ने अपनी उपस्थिति अपने राजनीतिक दलों व गैर–राजनीतिक संगठनों के माध्यमसे महसूस कराई। इस प्रकार का प्रथम उदाहरण था चौधरी चरण सिंह द्वारा 'भारतीय क्रांति दल' की स्थापना।सत्तर के दशांक व अस्सी के दशक में उत्तर भारत में 'भारतीय किसान यूनियन', महाराष्ट्र में शेतकारी संगठनतथा कर्नाटक में कर्नाटक रैयत संघ जैसे संगठनों ने कुलकों के हितों को सुस्पष्ट करने में महत्त्वपूर्ण भूमिकानिभाई।

10.3.2 छोटे किसान व भूमिहीन श्रमिक

साठ व सत्तर के दशकों में देश के बड़े हिस्से में छोटे किसानों व भूमिहीन श्रमिकों का आन्दोलन सर उठातादेखा गया। यह आन्दोलन पश्चिम बंगाल में नक्सलबारी से शुरू हुआ और बहुत जल्द ही, साठ का दशक समाप्तहोते–होते, आंध्र प्रदेश, बिहार व उड़ीसा जैसे देश के विभिन्न भागों में फैल गया। सत्तर के दशक में, गुजरात,पंजाब, राजस्थान, तमिलनाडु, आंध्र–प्रदेश व बिहार में सोशलिस्ट पार्टी व भारतीय कम्युनिस्ट पार्टी के नेतृत्ववाला एक 'भूमि हथियाओ' आंदोलन देखा गया। यद्यपि ये आन्दोलन ज़्यादा कुछ हासिल नहीं कर सके फिर भीवे कृषिक समस्या पर देशवासियों का ध्यान आकृष्ट करने में सफल रहे। वाम–मोर्चा सरकार ने अपने कार्यकालके दौरान पश्चिम बंगाल में भूमि–सुधार लागू किए। इससे काश्तकारों की सुरक्षा और हरवाहों की ज़मीनसुरक्षित हुई।

1970 में भूमि–सुधारों पर मुख्यमंत्री सम्मेलन को सम्बोधित करते हुए प्रधानमंत्री इंदिरा गाँधी ने कहा कि देहात में असंतोष की वजह वहाँ के लोगों की आशाओं को पूरा करने में भूमि–सुधारों की विफलता रही। सीमा–निर्धारण में घटोत्तरी इस सम्मेलन में चर्चा किए जाने वाला मुख्य प्रस्ताव था। अधिकतर मुख्यमंत्रियों नेइस प्रस्ताव को बरतरफ किया। तदोपरांत यह मसला केन्द्रीय भूमि–सुधार समिति को सौंप दिया गया। 1971 में इस समिति ने कुछेक सिफ़ारिशें थीं। 1971 के मुख्यमंत्री सम्मेलन ने भारत में सुधारों के लिए कुछ राष्ट्रीय मार्ग–निर्देशों को मंजूरी दी। राष्ट्रीय मार्गनिर्देश भारत में सीमानिर्धारण कानून के इतिहास से दूर चले गए थे।इसने भूमि की सभी श्रेणियों पर से सीमा–निर्धारण मियाद कम कर दी। फालतू ज़मीनों के वितरण में प्राथमिकताभूमिहीन श्रमिकों को दी गई, खासकर अनुसूचित जातियों व अनुसूचित जनजातियों को।

इस काल में मुआवज़ाबाज़ार मूल्य से काफ़ी कम रहा। भूमि–स्वामियों ने फिर अदालत का दरवाज़ा खटकटाया और सीमानिर्धारणकानूनों को गुप्त रूप से क्षति पहुँचाने के अन्य कपटपूर्ण तरीकों में जुट गए। तिस पर भी सत्तर के दशक मेंसीमानिर्धारण कानून फ़ालतू ज़मीन उगाहने व बाँटने संबंधी अपने उद्देश्य में औसत रूप से ही सफल रहे। एकऔर अच्छी बात यह रही कि इस बार सीमानिर्धारण कानूनों की मुख्य लाभग्राही अनुसूचित जातियों व अनुसूचितजनजातियाँ रहीं।

10.4 सार–संक्षेप

इस इकाई में हमने भारत में कृषिक परिवर्तन पर चर्चा की, जो कि भूमि सुधारों, खासकर ज़मींदारी उन्मूलनव हरकारों को ज़मीन, के प्रभाव का परिणाम रहा है। कृषिक परिवर्तन सबसे अच्छी तरह देश के विभिन्न भागोंमें कुलक वर्ग के उदय में देखा गया है। देश के अधिकांश भागों में इन सुधारों से भूमिहीन किसान व दलितलाभान्वित नहीं हुए। नब्बे के दशक से कुलकों ने अनेक राज्यों और देश की राजनीति में अपना काफी प्रभावजमा लिया। देश के कुछ हिस्सों में, कृषिक परिवर्तन राजनीति में दलितों की बढ़ी भागीदारी में प्रकट हुआ है।

10.5 अभ्यास

1 भूमि सुधारों व कृषिक परिवर्तन के बीच संबंधों को स्पष्ट करें।

2 भूमि सुधारों के क्या सीमा–बंधन थे?

3 राजनीति में कुलकों की भूमिका पर एक टिप्पणी लिखें।

अध्याय 11
उद्योग धन्धे और श्रमिक वर्ग

अध्याय की रूपरेखा

11.1 प्रस्तावना
11..2 उद्योग–धन्धे
11.2.1 राष्ट्रीय उद्योग–नीति
11.2.2 राष्ट्रीय उद्योग–नीति में राज्य
11.2.3 राज्य तथा आर्थिक सुधार
11.2.4 राज्य तथा उद्योग
11.3 श्रमिक वर्ग
11.3.1 श्रमिक और राज्य
11.3.2 औद्योगिक विवाद
11.3.3 श्रमिक और सामाजिक सुरक्षा
11.3.4 श्रमिक और उद्योगीकरण
11.4 सार–संक्षेप
11.5 अभ्यास

11.1 प्रस्तावना

इस इकाई मं हमें उद्योग–धन्धे, श्रमिक वर्ग तथा राज्यों के संदर्भ में उनसे जुड़े मुद्दों का अध्ययन करेंगे। भारत में राज्य भारतीय संघ की इकाइयाँ होने के कारण औद्योगिक संबंधों के क्षेत्रों में अपनी खुद की नीतियों का अनुसरण करने हेतु उल्लेखनीय राजनीतिक स्वायत्तताप्राप्त हैं। मायरन वीनर का कहना है कि केन्द्र और राज्यों के बीच सत्ता–वितरण ही भारतीय लोकतांत्रिक व्यवस्था की आधारशीला है। राज्य सरकारें राज्य सार्वजनिक क्षेत्र के उद्यम चलाती है और औद्योगिक संबंधों एवं श्रम–नीतियों को रूपायित करने में एक महत्त्वपूर्ण भूमिका का निर्वाह करती हैं। राज्य सरकार को राष्ट्रीय सरकार भी बोलने का अधिकार है। राज्यों के मुख्यमंत्रीगण 'राष्ट्रीय विकास परिषद्' के सदस्य होते हैं, जो देश की आर्थिक व सामाजिक नीतियों के निर्धारण में एक अहम् भूमिका निभाती है। यद्यपि राज्य सरकारों का प्रतिनिधित्व औपचारिक रूप से केन्द्रीय मंत्रिपरिषद् में नहीं होता, अब तक प्रधानमंत्रीगण ही हर राज्य को उसके प्रतिनिधियों का हिस्सा दिए जाने का ध्यान रखते आये हैं। केन्द्र सरकार अपने महत्त्वपूर्ण निर्णयों को लिए जाने में राज्य सरकारों पर ही निर्भर करती है। वे औद्योगिक उद्यमों, छोटे कारोबार पर नियामक प्राधिकरण के रूप में काम करती हैं। हालाँकि यह सब सच हो सकता है, पर यह भी सच है कि स्वतंत्राप्राप्ति से कुछ भी समय पश्चात् से केन्द्र सरकार ने अग्रता की स्थिति का लाभ उठाया है और देश के विकास पथको आकार प्रदान करने में केन्द्रीकृत प्रकार के प्राधिकार का प्रयोग किया है, जिसमें उसकी उद्योग और श्रम–नीति भी शामिल हैं। संजय बारू के अनुसार, स्वतंत्रा प्राप्ति के समय एक राष्ट्रीय पूँजीपति वर्ग अस्तित्व में आया। यह वर्ग निश्चित ही अपने लाभ के लिए केन्द्र सरकार की नीतियों को प्रभावित करने की स्थिति में था। सत्तर के दशक तक क्षेत्रीय पूँजीपतियों का एक सशक्त वर्ग उभरकर सामने आ चुका था और उसने अपनी अधिकार–माँग एक प्रभावशाली ढंग से उठानी शुरू कर दी।

एक प्रबल दल के रूप में कांग्रेस के विघटन और सशक्त क्षेत्रीय पार्टियों के उद्‌गमन ने अपने विकासार्थ एक सहायक वातावरण बनाया है।1991 में शुरू की गई 'नई आर्थिक नीति' ने भी राज्य सरकारों को अपनी आर्थिक दशाओं को इच्छित रूप प्रदान करने में नवीनतर भूमिकाएँ सौंपी हैं। वस्तुतः राज्य सरकारों के सहयोग के बिना भारतीय अर्थव्यवस्था को सुधारने का सोचा भी नहीं जा सकता क्योंकि सुधारों संबंधी कार्यसूची में अनेक बातें भारतीय संविधान में राज्य–सूची का हिस्सा हुआ करती है। राज्य सरकारें आजकल अपने राज्यों में निवेश हेतु सभी प्रकार के राष्ट्रीय, क्षेत्रीय व बहु–राष्ट्रीय पूँजीपतियों को लुभाने में लगी हैं। परन्तु राज्यों को उद्योगीकरण के पैमाने पर समान रूप से नहीं रखा गया है। भारत को क्षेत्रीय असंतुलन विरासत में मिला है और दशकों तक नियोजित विकास के बावजूद यह समस्या

उदारीकरण नीति के प्रसंग में और अधिक सर चढ़कर बोलने लगी है। देश के सामने पिछड़े इलाकों से विकसित क्षेत्रों की ओर श्रमिक वर्ग के पलायन की दृश्यघटना है जो विभिन्न प्रकार के मुद्दों को जन्म दे रही है।

11.2 उद्योग–धन्धे

11.2.1 राष्ट्रीय उद्योग–नीति

स्वतंत्रताप्राप्ति के समय भारत ने एक पिछड़ी अर्थव्यवस्था विरासत में पायी और भी खराब बात यह भी कि कुछ ही राज्य अद्योगीकृत और अपेक्षाकृत रूप से उर्वर थे, जबकि अन्य राज्य मुख्यतः कृषि पर जीवन–निर्वाह करते थे और अनुर्वर राज्य थे। बम्बई, कलकत्ता और मद्रास के बंदरगाहयुक्त नगर औद्योगिक गतिविधियों के केन्द्रों के रूप में उभरे थे। इसने नौकरी के अवसर पैदा किए। शैक्षिक संस्थाएँ व अन्य सुविधाएँ भी इन केन्द्रों में उभर कर आयी। इस घटनाक्रम के कुछ उपभोक्ता उद्योगों के उद्‌गमन की ओर प्रवृत्त किया, जिसने बदले में उद्योग–धंधों में निवेशार्थ अधिशेष रखने वाले व्यापारी पूँजीपति वर्ग के उद्‌गमन की ओर अभिप्रेरित किया। इन कारकों ने ही उक्त क्षेत्रों को एड़ लगाई। देश को द्रुत विकास दिखाने को लक्ष्य बनाना पड़ा, परन्तु यह विकास इंसाफ की कीमत पर हासिल नहीं किया जाना था। जैसा कि राज्य–नीति के निदेशक सिद्धांतों में अभिकल्पित किया गया, उसे अपने सभी नागरिकों हेतु आजीविका के समुचित साधन सुनिश्चित करने थे और साथ ही, यह भी कि आर्थिक व्यवस्था की कार्य–प्रणाली कुछ ही हाथों में समृद्धि के संकेन्द्रण में न फलित हो। स्वावलम्बी विकास एक अन्य लक्ष्य था। यह भी देश के संतुलित विकास पर अभिलक्षित था।

1956 के उद्योग–नीति प्रस्ताव ने जो व्यवस्था दी उसे मिश्रित अर्थव्यवस्था के नाम से जाना गया। सार्वजनिक और निजी क्षेत्रों को साथ–साथ ही रहना था। यहाँ तक कि विदेशी कंपनियों को भी काम करने की अनुमति दे दी गई। अर्थव्यवस्था को सरकारी योजना और नियंत्रण के भीतर रहकर ही कार्य करना था। शस्त्रों, गोलाबारूद, आणविक ऊर्जा व रेल–व्यवस्था पर सरकारी एकाधिकार लागू किया जाना था। कोयला, लोह–इस्पात व अन्य खनिजों, जहाज–निर्माण, वायुयानों के निर्माण तथा टेलिफोन व टेलीग्राफ उपकरणों में नए उद्यम शुरू करने संबंधी अधिकार सरकार ने अपने पास सुरक्षित रखा। 1955 में, भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस ने अपने अवाड़ी सत्र में समाज के समाजवाद संबंधी प्रतिमान की स्थापना को अपने लक्ष्य के रूप में घोषित किया। कांग्रेस पार्टी द्वारा इस वचनबद्धता के बावजूद 1956 के उद्योग–नीति प्रस्ताव में राष्ट्रीकरण के विषय में कोई उल्लेख नहीं था। वस्तुतः यह प्रस्ताव मिश्रित अर्थव्यवस्था के प्रति भारत की वचनबद्धता को पुनर्पुष्ट करता था। प्रस्तुत मॉडल में सार्वजनिक एवं निजी क्षेत्रों को न सिर्फ एक साथ अस्तित्व बनाए रखना था, बल्कि एक–दूसरे का पूरक भी बनना था। निजी क्षेत्रों को बढ़ावा दिया जाना था और योजना के उद्‌देश्यों के अन्तर्गत यथासंभव स्वतंत्रता भी दी जानी थी। इस रणनीति का एक महत्त्वपूर्ण भाग था – सार्वजनिक क्षेत्र के तहत भारी और पूँजीगतमाल उद्योग का द्रुत विकास। भारी उद्योग के पक्ष में परिर्वतन को उपभोक्ता वस्तुओं का उत्पादन करने वाले श्रम–साधित लघु व कुटीर उद्योगों को प्रोत्साहन दिए जाने से जोड़ा जाना था। यह बेरोजगारी की समस्याओं से निबटने पर अभिलक्षित था।

11.2.2 राष्ट्रीय उद्योग–नीति में राज्य

यह स्पष्ट है कि स्वतंत्रतापश्चात् भारत द्वारा चुने गए विकास पथ ने राज्य को न सिर्फ राष्ट्रीय स्तर पर बल्कि क्षेत्रीय स्तर पर भी बहुत ही महत्त्वपूर्ण भूमिका सौंपी। राज्य सरकारों को सार्वजनिक क्षेत्रों की स्थापना और निजी क्षेत्रों को नियन्त्रित किए जाने में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभानी पड़ी। लगभग सभी राज्यों ने राज्य विद्युत् बोर्ड, राज्य परिवहन निगम, राज्य वित्त निगम तथा राज्य पर्यटन निगम स्थापित किये। अनेक राज्यों ने किसानों के लिए सहकारी समितियाँ स्थापित की। कुछ राज्यों ने कपड़ा निगम और खादी बोर्ड स्थापित किए। योजना आयोग क उदाहरण में सार्वजनिक उद्यम संस्थान् ने राज्य स्तरीय सार्वजनिक–क्षेत्र उद्यमों के संबंध में कुछ जानकारी संकलित की। इस जानकारी के अनुसार, 31 मार्च 1986 को, रूपये 10,000 करोड़ के बराबर राशि के निवेश के साथ 24 राज्यों में 636 राज्य–स्तरीय सार्वजनिक–क्षेत्र उद्यम काम कर रहे थे। यदि राज्य विद्युत बोर्डों व राज्य परिवहन व निगमों का निवेश जोड़ा जाए तो कुल निवेश रूपये 25,000 करोड़ बैठता था। जबकि 1977 में यह राशि रूपये 950 करोड़ ही थी। इस प्रकार, यह स्पष्ट है कि 1977–78 के दौरान राज्य स्तरीय सार्वजनिक क्षेत्र में 20 प्रतिशत की वृद्धि देखी गई। तदोपरांत, 31 मार्च 2000 को राज्य–स्तरीय सार्वजनिक–क्षेत्र इकाइयों में कुल निवेश रूपये 1,62,063 करोड़ के बराबर पहुँच गया। गुजरात, महाराष्ट्र, कर्नाटक, उत्तर प्रदेश, पश्चिम बंगाल और पंजाब ने सभी राज्य–स्तरीय सार्वजनिक–क्षेत्र इकाइयों में कुल निवेश के 63.6 प्रतिशत का हिसाब दिया।

11.2.3 राज्य तथा आर्थिक सुधार

घाटे में जाती सार्वजनिक–क्षेत्र इकाइयों तथा बेलोच राजस्व स्त्रोत की स्थिति का सामना करते राज्यों के पास बुराइयों के निराकरण के सिवा कोई चारा नही है। इसके बावजूद राज्य सरकारें सुधारों के प्रति एक नियमानुवर्ती प्रवृत्ति नहीं दर्शाती है। अनेक राज्य सरकारें अभी तक सुधार–पूर्व मनःस्थिति अपनाये हुए है। कुछ राज्यों ने सुधारों की

आवश्यकता महसूस की है। उड़ीसा सरकार ने अपने राज्य विद्युत् बोर्डों को सुधारा है तथा गुजरात, महाराष्ट्र तमिलनाडु, आन्ध्र प्रदेश व कर्नाटक ने दोस्ताना माहौल बनाने का प्रयास किया है। प्रतिव्यक्ति आय, साक्षरता दर, सकल घरेलु उत्पाद आदि के आधार पर ही राज्यों को उन्नत अथवा पिछड़े राज्यों का दर्जा दिया जाता है। उन्नत राज्यों की सूची में आते हैं – पंजाब, महाराष्ट्र, हरियाणा, गुजरात, पश्चिम बंगाल, कर्नाटक, केरल, तमिलनाडु तथा आन्ध्र प्रदेश। पिछड़े राज्यों की सूची में शामिल – मध्य प्रदेश, असम, उत्तर प्रदेश, राजस्थान, उड़ीसा तथा बिहार। एन. जे. कुरियन ने संकेत दिया कि सुधार–पश्चात् काल में दो–तिहाई निवेश प्रस्ताव उन्नत क्षेत्रों में ही संकेन्द्रित थे। उन्नत राज्यों के पक्ष में एक सुस्पष्ट पूर्वाग्रह आई.डी.बी.आई., आई.एफ.डी.आई. आई.सी.आई.सी.आई., यू.टी.आई. तथा आई.एस.डी.बी.आई. जैसी राष्ट्रीय व राज्यीय वित्त संस्थाओं द्वारा वितरित आर्थिक सहायता के मामलों तक में देखा जा सकता है। मार्च 1997 तक इन संस्थाओं द्वारा वितरित आर्थिक सहायता का 67.3 प्रतिशत उन्नत राज्यों ने ही समेटा। यहाँ तक कि उन्नत राज्यों की श्रेणी में महाराष्ट्र, गुजरात, तमिलनाडु व आंध्र प्रदेश ने कुल सहायता का 51 प्रतिशत कब्जाया। यह स्पष्ट है कि सुधार प्रक्रिया ने उन्नत राज्यों का पक्ष लिया क्योंकि वे निवेश प्रस्तावों एवं वित्तीय मदद का सबसे बड़ा हिस्सा अपनी ओर खींचने में सफल रहे हैं। इससे उन्नत राज्यों में विकास प्रक्रिया की रफ़्तार और बढ़ेगी जबकि पिछड़े राज्यों को विकास मन्दन की संभावना का ही सामना करना होगा।

कुछ भारतीय राज्य सुधारों के प्रति उत्साह दिखा रहे हैं। ये राज्य हैं – आंध्र प्रदेश, कर्नाटक, गुजरात, महाराष्ट्र तथा तमिलनाडु। हरियाणा, पंजाब, राजस्थान, केरल, मध्य प्रदेश तथा पश्चिम बंगाल राज्य स्तरीय सुधारों के क्रियान्वयन में पीछे ही रहे हैं। कर्नाटक, आंध्र प्रदेश तथा तमिलनाडु निवेशकों को आकर्षित करने के लिए भौतिक और कानूनी तानेबाने को सुधारने में तत्परता दिखा रहे हैं। दक्षिणी राज्य सुप्रशासित राज्य भी हैं। अनेक अमेरिकी तथा यूरोपीय कंपनियों ने अपने बकाया काम कारोबार बंगलौर, चेन्नई और पुणे में खोले हैं। एन. जे. कुरियन का विचार है कि संपन्न राज्य विद्यमान अनुकूल निवेश वातावरण की वजह से ही अपनी विकास संभावना को बढ़ाने के लिए घरेलू व विदेशी दोनों ही प्रकार के निजी निवेश की उल्लेखनीय राशि को अपनी ओर खींच पाने में सक्षम हैं। इस निवेश वातावरण में बेहतर सामाजिक–आर्थिक आधारित संरचना शामिल है। पिछड़े राज्य दुर्बल आधारित संरचना के कारण निजी निवेश को आकर्षित करने में असफल रहते हैं। आधारिक संरचना की बुरी दशा का दोष संसाधन अभाव को दिया जा सकता है। संसाधनाभाव विकासाभाव की वजह से है। कुरियन इसे एक दुश्चक्र की संज्ञा देते हैं। आर्थिक सुधार राज्यों के बीच इन सकल आधारिक संरचना संबंधी विषमताओं को दूर नहीं कर सकते। उदारीकरण प्रक्रिया का अर्थ हैं – इस प्रक्रिया के लिए सार्वजनिक–क्षेत्र निवेश हेतु लघुतर भूमिका। निजी क्षेत्र से ज्यादा मदद की उम्मीद नहीं की जा सकती क्योंकि उसका खास मकसद तो लाभ कमाना ही होता है।

खराब प्रशासन आर्थिक पिछड़ेपन में भी इज़ाफा करता है। बिहार और उत्तर प्रदेश विकट रूप से भंग कानून–व्यवस्था और भ्रष्टाचार का अनूठा उदाहरण प्रस्तुत करते हैं। चौथ वसूली के लिए अपहरण एक बड़ा धन्धा बन चुका है जो उद्यमी को इन राज्यों से निकल भागने पर मजबूर करता है। ये राज्य सड़क और बिजली जैसी आधारभूत सुविधाओ की उपेक्षा से छलनी है। प्रशासन अक्षम भी है और उच्च रूप से भ्रष्ट भी। ये राज्य आर्थिक सुधारों में ज्यादा रूचि नहीं दिखा रहे हैं। ये सिर्फ निवेशकों को आकर्षित करने में भी नाकामायाब नहीं रहे हैं, दरअसल यहाँ मूल्यह्रास के डर से पूँजी ही बेच दी जाती है, खासकर बिहार में।

11.2.4 राज्य तथा उद्योग

स्वतंत्रताप्राप्ति के समय एक राष्ट्रीय पूँजीवादी वर्ग अस्तित्व में आया। मारवाड़ी व्यापारिक उद्यम ने कलकत्ता, मद्रास, हैदराबाद और कानपुर जैसे सुदूर स्थानों में अपना आधार बनाया। गुजराती उद्यम बम्बई में अच्छा जम गया, हालाँकि पारसी उद्यम ने पश्चिमी भारत में जगह बनायी। साठ के दशक तक, औद्योगिक विकास के लगभग दो दशकों बाद तक, अधिकांश निजी निवेश या तो बहुराष्ट्रीय कंपनियों के नियंत्रण में रहा या फिर मारवाड़ी, गुजराती और पारसी उद्यम के हाथ, जिन्होंने आने वाले अवसरों का भरपूर लाभ उठाया। स्पष्टतया, आर्थिक शक्ति का संकेन्द्रण कुछ मुठ्ठी भर व्यापार–गृहों के हाथों में ही रहा, जो कि राज्य–नीति के निदेशक सिद्धान्तों में बताए गए लक्ष्यों से मेल नहीं खाता था। इस सत्य बोध ने इस प्रकृति पर रोक लगाने के लिए एक नया विधेयक पारित किए जाने की ओर प्रवृत्त किया। देश के कुछ भागों में एकाधिकार पूँजीपतियों की बढ़वार पर रोक लगाने हेतु लामबंदी को एक क्षेत्रीय आयाम की जरूरत थी। महाराष्ट्र में राज्स सरकार पारसी और गुजराती पूँजीपतियों के विरूद्ध पूर्वाग्रह से ग्रस्त थी। वहाँ की राज्य सरकार ने नव–उदीयमान चीनी उद्योग के साथ–साथ पारंपरिक वस्त्र–उद्योग में भी राज्य के भीतर से ही आने वाले व्यावसायियों को बढ़ावा दिया। 1969 में, उत्तर प्रदेश में भी चरण सिंह सरकार ने इस आधार पर गैर–स्थानीय निवासियों के स्वामित्व वाले चीनी मिल उद्योग के राष्ट्रीयकरण की माँग की कि उन्होंने उस अधिशेष को पुनर्निवेशित नहीं किया है जो कि उन्होंने उक्त उद्योग में अपना पैसा लगाकर अर्जित किया था।

महाराष्ट्र, गुजरात, तमिलनाडु व आंध्र प्रदेश जैसे राज्यों में एक क्षेत्रीय पूँजीपति वर्ग विद्यमान था। इस वर्ग ने इन राज्यों में चीनी मिल उद्योग में बड़े जोर–शोर से प्रवेश किया। यह बात बिहार और उत्तर प्रदेश जैसे राज्यों के साथ नहीं थी जहाँ कोई क्षेत्रीय पूँजीपति वर्ग था ही नहीं। इन राज्यों में राष्ट्रीय वृहद् व्यवसाय कायम रहे अथवा किसी उदाहरण में ऐसे उद्योगों का राष्ट्रीकरण कर दिया गया। डी. बनर्जी और ए. घोष का विचार है कि केन्द्र व राज्य सरकारों ने पंजाब, हरियाणा, गुजरात, महाराष्ट्र, कर्नाटक, तमिलनाडु और आंध्र प्रदेश जैसे राज्यों में पूँजीवादी उद्यम को प्रभावशाली ढ़ग से समर्थन दिया, जहाँ कि एक सशक्त क्षेत्रीय पूँजीपति वर्ग पहले ही विद्यमान था। इन राज्यों में इस वर्ग ने संपन्न कृषि–वर्ग के साथ मिलकर राजनीति में एक महत्त्वपूर्ण भूमिका अदा की। उनका यह भी मत है कि निजी उद्यम को एक देशज पूँजीपति वर्ग की नाकाफी मौजूदगी की वजह से देश के पूर्वी हिस्से में केन्द्र और राज्य सरकारों से कोई बड़ा समर्थन नहीं मिला। के. एन. राज कृषिक विकास और उद्योगीकरण के बीच एक संबंध स्थापित करते हैं। यहाँ तक कि कृष्ण भारद्वाज का भी मत कि औद्योगिक सजीवता दर्शाने वाले क्षेत्र भी वो हैं जो आशाजनक कृषिक विकास दर्शाते है। संजय बारू का कहना कि कृषिक विकास में ऐतिहासिक कारक और भिन्नताओं से परे कुछ अन्य कारकों ने भी औद्योगिक विकास में परस्पर–राज्यीय भिन्नताओं में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभायी है। बारू के अनुसार, कुछ राज्य स्थानीय उद्यम के मामले में अन्य राज्यों की अपेक्षा अधिक समर्थनकारी रहे हैं। सार्वजनिक–क्षेत्र उद्यम स्थापित करने के विषय में केन्द्र सरकार के निर्णय ने भी इस विकास को प्रभावित किया है क्योंकि ऐसे उद्योगों की स्थापना स्वतंत्र उद्योगों की बढ़वार की ओर प्रवृत्त करती है। यह बात राष्ट्रीय वृहद् व्यवसाय द्वारा निवेश निर्णय के विषय में भी सत्य है।

क्षेत्रीय पूँजीपति व्यवसाय में प्रथम पीढ़ी है। आम तौर पर उनका व्यवसाय उनके अधिवास राज्य तक ही सीमित रहता है। यह वर्ग विभिन्न पृष्ठभूमियों से उभरा है। उनमें से कुछ कृषिक परिवारों से आते है। अन्य ने वहाँ व्यापार और वाणिज्य से प्राप्त पूँजी लगाई है। उनमें से अनेक ऐसे व्यावसायियों के परिवारों से आते है जो भारत अथवा विदेश में लाभप्रद रूप से रोज़गारप्राप्त हैं। उन्होंने नाना प्रकार के उद्योगों में प्रवेश किया है जो कपड़ा, सीमेंट, चीनी, रासायन, उर्वरक, औषध–निर्माण, इलैक्ट्रॉनिक, इस्पात और अभियांत्रिकी माल–असबाब तक फैले हैं। जबकि पचास और साठ के दशक में आंध्र प्रदेश, गुजरात, महाराष्ट्र और पंजाब जैसे राज्यों में निजी क्षेत्र में अथवा बिरला, थापर, श्रीराम आदि जैसे राष्ट्रीय वृहद् व्यापार–गृहों द्वारा वृहद स्तरीय निर्माणकारी इकाइयाँ स्थापित की गई, अस्सी के दशकोपरांत निवेश अवसर का एक बड़ा हिस्सा क्षेत्रीय पूँजीपतियों द्वारा झपट लिया गया है। उन्होंने सीमेंट, चीनी, औषध–निर्माण और इलैक्ट्रॉनिक्स जैसे उद्योगों में बड़े उत्साह से प्रवेश किया है।

राष्ट्रीय वृहद् व्यापार–गृहों ने कांग्रेस पार्टी को समर्थन और पैसा दिया था, अतः वे कांग्रेस पार्टी की नीति को प्रभावित करने की स्थिति में थे। राष्ट्रीय वृहद् व्यापार–गृह यह काम स्वतंत्राप्राप्ति के पश्चात् चार वर्षों तक करते रहे। क्षेत्रीय पूँजीपतियों को कांग्रेस शासित केन्द्र सरकारों के हाथों भेदभाव का सामना करना पड़ा। ऐसा भारतीय उद्योग विकास बैंक और भारतीय उद्योग वित्त निगम जैसी राष्ट्रीय वित्तीय संस्थाओं के विषय में भी सत्य था। राष्ट्रीय स्तर पर ये वित्तीय संस्थाएँ राष्ट्रीय वृहद् व्यवसाय का भी पक्ष लेती थी। क्षेत्रीय पूँजीपतियों की राज्य वित्त निगमों और राज्य उद्योग निगमों तक अपेक्षाकृत आसान पहुँच थी। उन्होंने राजनीतिक समर्थन पाने के लिए क्षेत्रीय पार्टियों से संबंध विकसित कर लिए और राष्ट्रीय वृहद् व्यवसाय का सामना करने के लिए विदेशी निवेशकों के साथ गठजोड़ करने लगे।

गुजरात, महाराष्ट्र, पंजाब, आंध्र प्रदेश, कर्नाटक व तमिलनाडु जैसे अनेक राज्यों के पास औसत रूप से सक्रिय पूँजी–प्रवाहों का संगम होता है। आंध्र प्रदेश, कर्नाटक, केरल, तमिलनाडु, उत्तर प्रदेश, पश्चिम बंगाल और दिल्ली में स्टॉक एक्सचेन्जों का उदय होना इन राज्यों में एक रोमांचकारी पूँजी बाजार की ओर इशारा करता है। क्षेत्रीय पूँजीपति वर्ग की सफलता राज्य सरकारों के साथ–साथ राज्य स्तरीय नेताओं द्वारा भी निभायी गई समर्थनकारी भूमिका के कारण ही संभव हो सकी है। राष्ट्रीय व्यापार–वर्ग के पक्ष में इंदिरा–राजीव युग वाली एक उच्च रूप से केन्द्रीकृत कांग्रेस पार्टी के पूर्वागृह ने भी राज्यों में उद्यमियें को समर्थन के लिए क्षेत्रीय राजनीतिक दलों की ओर धकेला। कांग्रेस पार्टी के प्रभुत्व का ह्रास होते ही गठबंधन का दौर शुरू हुआ। इस दौर में शक्तिसम्पन्न क्षेत्रीय नेताओं ने महत्त्वपूर्ण मंत्रालयों के लिए दावों को जतलाना शुरू कर दिया है और ये नेतागण क्षेत्रीय व्यवसाय की माँगों के प्रति ग्रहण–क्षम है। नयी आर्थिक नीति के शुरू किए जाने से क्षेत्रीयपूँजीपति वर्ग को प्रेरणा मिली प्रतीत होती है। आंध्र प्रदेश में स्पैक्ट्रम और जी.वी.के. पॉवर जैसे द्रुतगामी निजी विद्युत–शक्ति परियोजनाएँ क्षेत्रीय व्यापार–गृहों द्वारा ही स्थापित की गई हैं। क्षेत्रीय व्यवसाय का बढ़ता महत्त्व भारतीय उद्योग महासंघ तथा संयुक्त वाणिज्य मंडल जैसे संघों में भी महसूस किया जा रहा है।

11.3 श्रमिक वर्ग

11.3.1 श्रमिक और राज्य

राज्य स्तरीय सार्वजनिक क्षेत्र मिलकर केन्द्र सरकार के अन्तर्गत सार्वजनिक क्षेत्रों की अपेक्षा कहीं अधिक बड़े नियोक्ता है। राज्य सरकारों द्वारा लगभग 73 लाख कर्मचारी रोजगार प्राप्त हैं। जबकि केन्द्र सरकार के तहत रोजगार

प्राप्त लोगों की संख्या मात्र 34 लाख है। केन्द्र सरकार में रोजगार नाममात्र ही बढ़ा है जबकि राज्य सरकारों ने यह वृद्धि लाखों में की है। चूँकि राज्य सरकारें राज्य स्तर पर अनेक सार्वजनिक क्षेत्रों का भी प्रबंधन करती है, वे ओद्यौगिक संबंध के साथ–साथ श्रम–नीतियों के निर्माण में भी महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाती हैं। राज्य सरकारें औद्योगिक विवादों को निबटाने और कर्मचारियों के लिए सामाजिक सुरक्षा संबंधी योजनाएँ चलाने में एक महत्त्वपूर्ण भूमिका अदा करती है। कृषि क्षेत्र में भी राज्य सरकारें न्यूनतम मजदूरी निर्धारण और क्रियान्वयन में महती भूमिका निभाती है। कारोबार बंद करने अथवा श्रमिकों की छँटनी करने का निर्णय लेने वाली नीजि–क्षेत्र इकाइयों के मामलों में संबद्ध राज्य सरकार की अनुमति पहले से ही लेनी पड़ती है। राज्य स्तर पर सार्वजनिक क्षेत्र नौकरियाँ उत्पन्न करने के साधन रहे हैं। अनेक राज्यों को आबंटित संसाधन की मोटी रकम जरूरत से ज्यादा बड़ी नौकरशाही के वेतन चुकाने में खर्च की जाती है जिससे उन सेवाओं के लिए थोड़ा ही बचता है जो राज्य सरकारों द्वारा मुहैया कराये जाने की उम्मीद की जाती है। इस अत्यन्त बड़ी नौकरशाही का आकार छोटा किए जाने की तत्काल आवश्यकता दिखाई पड़ती हैं। अनेक राज्य कार्यबल की गुणवत्ता सुधारने के लिए यथेष्ट कार्य नहीं कर रहे है। भारत के सामने रोज़गार की तालाश में देश के एक हिस्से से दूसरे हिस्से में पलायन कर जाने वाले श्रमिकोंकी दृश्यघटना भी है। इसके अक्सर स्थानीय श्रमिकों के हित की रक्षार्थ कुछ राज्यों में सकीर्णमना आंदोलनों को भी जन्म दिया है। स्वतंत्राप्राप्ति के समय से ही योजनाकारों के बीच यह बोध व्याप्त रहा है कि भारत के पास श्रमिक बल की प्रचुरता हैं। यही कारण है कि एक श्रमसाधित तकनीक को स्वाभाविक के साथ–साथ वांञ्छित भी समझा जाता था।

1981 की जनगणना के आँकड़ों क अनुसार, कृषि श्रमिक कुल श्रमिक बल का 26.3 प्रतिशत थे। 1960 में प्रकाशित 'द्वितीय श्रमिक अन्वेषण' के अनुसार, 85 प्रतिशत कृषि श्रमिक नैमित्तिक है जो ऐसे किसी भी किसान के पास काम कर लेते है जो उन्हें लगाने को तैयार हो। लगभग 15 प्रतिशत कृषि श्रमिक ही किन्हीं खास भू–स्वामियों से जुड़े हैं। आधे से अधिक कृषि श्रमिकों के पास कोई जमीन नहीं है और बाकियों के पास अगर है भी तो बहुत ही थोड़ी सी। उनके विषय में एक और तथ्य यह है कि वे अभिभावी रूप से अनुसूचित जाति, अनुसूचित जनजाति व अन्य पिछड़ी जातियों से संबंध रखते है। 1948 में न्यूनतम वेतन अधिनियम पारित हुआ। इस अधिनियम के तहत हर राज्य सरकार से कहा गया कि वह तीन वर्षों के भीतर कृषि श्रमिकों के लिए न्यूनतम मज़दूरी तय करे। भारत के केवल कुछ ही राज्यों में कृषि श्रमिक सरकार द्वारा घोषित न्यूतम मजदूरी पाते है। ये राज्य है – केरल, पंजाब, हरियाणा और पश्चिमी उत्तर प्रदेश। इन राज्यों में भी लेकिन महिला श्रमिकों के खिलाफ भेदभाव व्याप्त है। उन्हें घोषित न्यूनतम मजदूरी नहीं मिलती। जागरूकता और संगठन ने कुछ राज्यों में मजदूरी को न्यूनतम वेतन के करीब पहुँचा दिया। उन राज्यों में जहाँ कृषि श्रमिक संगठित नहीं है, मजदूरों की मोल–भाव करने की शक्ति क्षीण हैं। वहाँ प्राप्त वास्तविक मजदूरी और नियम न्यूनतम मजदूरी के बीच बहुत ज्यादा फर्क है।

न्यूनतम वेतन अधिनियम के अन्तर्गत न्यूनतम मजदूरी के सवाल पर अगस्त 1981 में एक राज्यों का श्रम–मंत्री सम्मेलन किया गया। यह तय किया गया कि न्यूनतम मजदूरी गरीबी की रेखा से नीचे नहीं जानी चाहिए। आगे यह भी निर्णय किया गया कि न्यूनतम मज़दूरी को उपभोक्ता मूल्य निर्देशिका से जोड़ा जायेगा। 1998 में केन्द्र सरकार की एक अधिसूचना में राज्य सरकारों को यह निर्देश दिया गया कि वे अंसगठित क्षेत्र में न्यूनतम मजदूरी 40 रूपये से नीचे तय न करें। केवल हरियाणा, पंजाब, मिजोरम, मणिपुर, राजस्थान व उत्तर प्रदेश ही इस मानक दर का पालन करते हैं। अधिकांश राज्यों में न्यूनतम वेतन 1995–96 के बीच तय किए गए। इन राज्यों के बीच न्यूनतम वेतनों में भिन्नता की शृंखला बहुत बड़ी है। हरियाणा में जहाँ यह सबसे ऊँची है, यथा यह रूपये 62.12 से रूपये 64.12 के बीच है, जबकि पंजाब में यह रूपये 58.07 से रूपये 60.62 के बीच, आंध्र में रूपये 16 से रूपये 42.40 के बीच और बिहार में यह रूपये 27.30 से रूपये 39.70 के बीच है।

एक निर्मूल प्रथा जो ग्रामीण भारत में सदियों से चली आ रही है। वो है बंधुआ मजदूरों की प्रथा। यह व्यवस्था उन मजदूरों की अत्यधिक दरिद्रता और असहायपन की वजह से जन्मी जिन्हें अनुत्पादनकारी मौसम में खाद्यान्न की आवश्यकता पड़ती थी अथवा विवाह या चिकित्सा–उपचार आदि विशेष मौकों पर धन की आवश्यकता पड़ती थी। वेतन कम थे और उधार लिए गए धन पर ब्याज इतना अधिक कि वे उसे कभी नहीं चुका पाते थे। एक बार भूमीहीन श्रमिक द्वारा ऋण ले लिए जाने पर वह और उसके वंशज बेमियादी दासता के लिए नियत हो जाते थे। बंधुआ मज़दूरी प्रथा को ऋणबंध श्रमिक उन्मूलन अधिनियम, 1976 द्वारा समाप्त कर दिया गया। राज्य सरकारों से प्राप्त श्रम मंत्रालय के पास उपलब्ध जानकारी के अनुसार, 30 मार्च 1995 तक लगभग 2,51,424 बंधुआ मज़दूरों की पहचान कर उन्हें छुड़वाया गया।

11.3.2 औद्योगिक विवाद

औद्योगिक विवादों क फलस्वरूप उत्पादन में बाधा पड़ती है। ये विवाद राष्ट्रीय आय को प्रभावित करते हैं। ये उपभोक्ता के लिए भी असुविधा पैदा करते हैं। औद्योगिक श्रम के मामले में राज्य सरकारें केन्द्र सरकार के साथ मिलकर

पूँजीपतियों और श्रमिकों के बीच विवादों को निपटाने में एक महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाती है। 1947 में भारत सरकार ने औद्योगिक विवाद अधिनियम पारित किया। इस अधिनियम को 1956 में संशोधित किया गया। इस संशोधित अधिनियम के विवादों के निपटान के लिए एक तंत्र हेतु व्यवस्था दी। राज्य सरकारों ने श्रमिक अदालतें कायम की हैं ताकि नियोक्ताओं के विवादित आदेशों की बारीकी से जाँच की जा सके। उन्हें हड़तालों व तालाबंदियों की वैधता अथवा अन्यथा की तह में जाने की भी शक्ति प्रदान की गई। राज्य सरकारों को एक अथवा उससे अधिक न्यायाधिकरण नियुक्त करने का भी अधिकार दिया गया है। ये न्यायाधिकरण वेतन, बोनस, लाभ आदि से संबंधित विवादों का फैसला सुनाते है। राज्य न्यायाधिकरणों का प्रमुख किसी उच्च न्यायालय के न्यायाधीश के समकक्ष ही कोई व्यक्ति होता है। 1967 में सरकार द्वारा राष्ट्रीय विवाचन प्रोत्साहन बोर्ड की स्थापना की गई। इसका उद्देश्य औद्योगिक विवादों को निपटाने के लिए स्वैच्छिक विवाचन को बढ़ावा देना था। इस बोर्ड में नियोक्ताओं व श्रमिकों तथा केन्द्र व राज्य सरकारों के प्रतिनिधि होते हैं।

11.3.4 श्रमिक और सामाजिक सुरक्षा

औद्योगिक क्षेत्र में श्रमिकों को कुछ कारणों से आवधिक बेरोज़गारी का सामना करना पड़ता है, जिन्हें व्यापार में चक्रीय उतार–चढ़ाव, रुग्णता, औद्योगिक दुर्घटनाएँ तथा वृद्धावस्था के रूप में जाना जाता है। जबकि पूँजीपतियों के पास व्यापार की अनिश्चितताओं का सामना करने के लिए सभी संसाधन होते हैं, श्रमिकों के पास बेरोजगारी, वृद्धावस्था, बीमारी अथवा दुर्घटनाओं का सामना होने पर उनका मुँहतोड़ जवाब देने के लिए संसाधन ही नही होते। राज्यों का उनके प्रति एक दायित्त्व है। इसी उद्देश्य को ध्यान में रखते हुए 1948 में 'कर्मचारी राज्य बीमा अधिनियम' लागू किया गया। यह अधिनियम बीमारी, प्रसूति रोज़गार और क्षति के दौरान नकद लाभ; श्रमिक की मृत्यु पर पेंशन और किसी बीमित व्यक्ति की मृत्यु हो जाने पर अंत्येष्टि व्ययों के भुगतान संबंधी व्यवस्था देता है। यह अधिनियम चिकित्सा–संबंधी देखभाल और उपचार की भी व्यवस्था देता है। इस अधिनियम के अंतर्गत आते है – वेतनभोगी मजदूर, निम्न वेतन पाने वाला लिपिकीय एवं प्रशासनिक कर्मचारी वर्ग जिनका वेतन रूपये 6500 से कम हो। इस अधिनियम ने एक स्वायत्त निकाय को जन्म दिया जिसे 'कर्मचारी राज्य बीमा निगम' कहा जाता है; उक्त योजना को क्रियान्वित करना ही उसकी जिम्मेदारी है। इस निगम के शासी निकाय में 40 व्यक्ति होते हैं जो संघ व राज्य दोनों सरकारों, संसद, नियोक्ताओं एवं श्रमिकों के संगठनों तथा चिकित्सा–व्यवसायियों का प्रतिनिधित्व करते हैं। इस अधिनियम ने एक 'कर्मचारी राज्य बीमा निधि' को भी जन्म दिया है। इसमें नियोक्ता का अंशदान जो पहले 4 प्रतिशत पर तय था, अब बढ़कर 4.75 प्रतिशत कर दिया गया है। कर्मचारी का अंशदान वेतन के 1.5 प्रतिशत हो गया है। इसके अलावा, इस योजना में नियोक्ता और कर्मचारी का अंशदान केन्द्र व राज्य सरकारों से मिलने वाले अनुदानों पर निर्भर करता है। चिकित्सीय देखभाल पर राज्य सरकार 12.5 प्रतिशत की सीमा तक योगदान करती है। 1961 में 'मातृत्व लाभ अधिनियम' पास किया गया। इस अधिनियम का उद्देश्य था – मातृत्व रक्षा हेतु एकरूप मानक प्रदान करना। यह अधिनियम कर्मचारी राज्य बीमा अधिनियम के अन्तर्गत न आने वाले सभी कारखानों, खदानों व बाग़वानों पर लागू होता है। यह अधिनियम 12 सप्ताह ही कुल अवधि के लिए औसत दैनिक वेतन की दर से मातृत्व लाभ हेतु व्यवस्था भी देता है।

केरल, पश्चिम बंगाल, तमिलनाडु, असम और आन्ध्र प्रदेश हमेशा से ही सबसे अधिक बेरोजगारी वाले राज्य रहे हैं। हिमाचल प्रदेश, राजस्थान, उत्तर प्रदेश और पंजाब में सबसे कम बेरोजगारी दर है। वर्ष 1999–2000 में केरल की बेरोजगारी दर 21 प्रतिशत रही, जबकि हिमाचल प्रदेश की बेरोज़गारी संख्या मात्र 3 प्रतिशत थी। केरल, पश्चिम बंगाल व तमिलनाडु में बेरोज़गारी का बहुत ऊँचा स्तर होने की बावत योजना आयोग कर्मिक दल द्वारा किया गया एक स्पष्टीकरण यह है कि इन राज्यों में श्रमिकों की दृढ़ मोल–भाव की शक्ति के कारण वेतन अपेक्षाकृत ऊँचे है और ये राज्य बेहतर सामाजिक सुरक्षा मापदण्डों की पूर्ति करते हैं। मलहोत्रा इसे प्रतिकूल श्रमिक संबंधों की संज्ञा देते है। सुधार–उपरांत दौर में गुजरात, कर्नाटक व हरियाणा को छोड़कर अन्य राज्यों ने बेरोजगारी की दर में बढ़ोत्तरी दर्ज की है।

11.3.4 श्रमिक और उद्योगीकरण

15–21 आयु–वर्ग में युवा बेरोज़गारी दरें केरल और पश्चिम बंगाल में बहुत ऊँची हैं। केरल, पश्चिम, बंगाल, असम, उड़ीसा, बिहार, हिमाचल प्रदेश तथा महाराष्ट्र नगरीय बेरोज़गारी की बहुत ऊँची दर दर्शाते हैं। शहरी इलाकों तक में शिक्षित एवं कुशल युवावर्ग के लिए रोज़गार पैदा किये जाने की आवश्यता दिखाई पड़ती है। संगठित क्षेत्र (सार्वजनिक क्षेत्रों तथा दस से अधिक लोगों को नियोजित करने वाले निजी क्षेत्रों में रोजगार) 8.34 प्रतिशत श्रमिक बल को रोजगार प्रदान करता है। यह क्षेत्र प्रायः रोज़गाररहित विकास की व्यथा झेल रहा है। 1993–94 से 1999–2000 के बीच सार्वजनिक क्षेत्र ने नौकरियाँ उत्पन्न करने में किंचित ही योगदान दिया। नयी आर्थिक नीति के हिस्से के रूप में आकार घटाने की प्रक्रिया शुरू हो चुकी है। इसका अर्थ है – लागत घटाने के लिए उपरिव्ययों को कम करना। साफ शब्दों में, आकार घटाने का मतलब है नौकरियों का कम होना। निजीकरण को भी नौकरियों के लिए खतरे के रूप में देखा जाता है। रूग्ण अद्योगों का बंद होना भी कर्मचारियों को रोजगारहित कर देता है। छँटनी, स्वैच्छिक सेवानिवृत्ति योजनाएँ (वी.

आर.एस.) तथा अनियतीकरण सुधार–उपरांत दौर में श्रमिकों की दशा का चरित्र–चित्रण ही करते लगते हैं। औद्योगिक विवाद अधिनियम, 1947 छँटनी अथवा कारोबार बढ़ाने का इरादा रखने वाले नियोक्ताओं पर तर्कसंगत प्रतिबंध लगता है। ऐसे मामलों में मजदूर यूनियन को यथावत् सूचना देनी होगी; साथ ही, यूनियन और प्रबंधन का काम होगा कि कर्मचारियों के रोजगार के रक्षार्थ तरीके और साधन ईजाद करें। आर्थिक युक्तिपरकता के आधार पर इन प्रावधानों में परिर्वतन का प्रयास किया जाता है। विकसित देशों में पूर्णतयाः विकसित सामाजिक सुरक्षा प्रणाली होने के कारण आकार घटाना कम तकलीफदेह होता है। ऐसी बात भारत जैसे विकासशील देशों के साथ नहीं है। इसी भय से संगठित क्षेत्र में श्रमिक–वर्ग निजीकरण के खिलाफ है। आशुतोष वार्ष्णेय का मत है कि निजीकरण को सिर्फ बड़े पैमाने पर छँटनी से विलग कर दिया जाये, तब वृहत्तर निजीकरण कार्यक्रमों का लागू करना और आसान होगा। 1991 मे टाटा स्टील उड़ीसा में 'ओ.एम.सी. ऐलॉइज' को लेकर आये परन्तु कर्मचारियों को नौकरी से निकाले बगैर उसकी उत्पादकता बढ़ी। दिल्ली विद्युत बोर्ड को भी बेचा जा चुका है परन्तु कर्मचारियों को छँटनी का सामना नहीं करना पड़ा है।

इस प्रकार की स्थिति में केवल असंगठिज क्षेत्र में ही भावी रोजगार हेतु संभावना दिखाई देती है क्योंकि यह क्षेत्र 92 प्रतिशत श्रमिक बल को रोजगार प्रदान करता है। अर्थव्यवस्था के असंगठित क्षेत्र में लघु व्यवसाय और स्व–रोजगार प्राप्त दोनों ही आते है। असंगठित क्षेत्रों में मुख्य रोजगारोन्मुखी गतिविधियाँ है –कृषि व उससे जुड़े क्रियाकलाप, तिजारत, रेस्तरां व होटल तथा पर्यटन। इसमें शिक्षा एवं स्वास्थ्य जैसे सामाजिक क्षेत्र भी शामिल है। परिवहन और निर्माण–कार्य भी इसी का हिस्सा हैं। यहाँ तक कि सूचना–प्रौद्योगिकी भी असंगठित क्षेत्र का ही हिस्सा है। कृषि–क्षेत्र श्रमिक समावेशकारी बन सकता है बशर्ते बागवानी, पुष्प कृषि, कृषि–वानिकी, लघु सिंचाई एवंज ल–संभर विकास पर ध्यान दिया जाये। असंगठित क्षेत्र में अन्य उच्च संभावना वाले रोजगारोन्मुखी क्षेत्र हैं – व्यापार, भोजनालय एवं पर्यटन तथा सूचना प्रौद्योगिकी। इन क्षेत्रों में नौ प्रतिशत से भी ऊपर की वृद्धि दर देखी जा रही है।

11.4 सार–संक्षेप

संक्षिप्ततः यह कहा जा सकता है कि आम तौर पर शैक्षिक कार्य–राष्ट्रीय रुझानों से प्रभावित होते हैं। राज्यों के महत्त्व पर उचित ध्यान नहीं दिया जाता है। देश की राजनीतिक अर्थव्यवस्था को गढ़ने में सुधार–पूर्व अवधि में राज्यों ने महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाई और सही बात सुधार–पश्चात् अवधि के विषय में भी समान रूप से सत्य है। संविधान ने राष्ट्र के आर्थिक जीवन को आकार प्रदान करने में राज्यों हेतु एक महत्त्वपूर्ण रूप से सुनी जाती हैं। राज्यों के पास उद्योगीकरण का एकरूप प्रतिमान नहीं है। उन्होंने आर्थिक सुधारों को अलग–अलग तरीकों से लिया है। बड़ी संख्या में सार्वजनिक क्षेत्रों का प्रबंधन राज्य सरकारों द्वारा किया जाता है। राज्स सरकारें औद्योगिक विवादों को सुलझाने और कर्मचारियों के लिए सामाजिक सुरक्षा योजनाएँ चलाने में समान रूप से महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाती हैं। आर्थिक सुधारों को सफल बनाने के लिए भी राज्य सरकारों का दृढ़ संकल्प और वचनबद्धता एक अनिवार्य शर्त है।

11.5 अभ्यास

1) उस उद्यौगिक नीति के अभिलक्षणों की पहचान करें जिसकी अभिकल्पना भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस के अवाड़ी सत्र में की गई थी।
2) भारतीय राज्यों में उद्योगीकरण के प्रतिमानों पर चर्चा करें।
3) कामगार वर्ग पर निजीकरण के प्रभाव विषयक चर्चा प्रस्तुत करें।

अध्याय 12.
भूमण्डलीकरण, उदारीकरण : राज्यीयराजनीतिक–तात्पर्य

अध्याय की रूपरेखा

12.1 प्रस्तावना
12.2 आर्थिक विकास का आदर्श
12.3 आर्थिक सुधार और विदेशी सीधा निवेश
12.4 आर्थिक उदारीकरण : विभिन्न दृष्टिकोण
12.5 भूमण्डलीकरण और राज्यीय–राजनीति पर उसका प्रभाव
12.6 सार–संक्षेप
12.7 अभ्यास

12.1 प्रस्तावना

भारत की राजनीतिक अर्थव्यवस्था के क्रमविकास में 1990 का दशक एक अंतराल दर्शाता है। 1991 में भारतसरकार ने नई आर्थिक नीति शुरू की जो कि भारत में उदारीकरण व भूमण्डलीकरण के दौर में घोषित की गई। जबकि उदारीकरण औद्योगिक लाइसेंसिग, विनियमन व विनिवेश तथा सार्वजनिक क्षेत्र के निजीकरण के अभिप्राय से आया है, भूमण्डलीकरण का तात्पर्य अर्थव्यवस्था को विदेशी निवेश हेतु खोलने, अन्तरराष्ट्रीय व्यापार पर सेप्रतिबंधों को हटाने तथा विश्व व्यापार संगठन का हिस्सा बनने से है। उदारीकरण एवं भूमण्डलीकरण नीतिआर्थिक सुधार नीति का पर्याय बन गयी है। यद्यपि आम चलन है कि आर्थिक सुधारों की शुरुआत को 1991से माना जाता है, फिर भी आर्थिक सुधारों के पद–चिह्न इन्दिरा गाँधी सरकार द्वारा अपनाई गई आर्थिक नीतियोंमें सामने आने 1980 से ही देखे जा सकते हैं। राजीव गांधी सरकार द्वारा अपनाई गई आर्थिक नीतियों को1991 के बाद सामने आने वाली आर्थिक नीतियों के एक अग्रदूत के रूप देखा जा सकता है। वर्तमान प्रधानमंत्रीडॉ. मनमोहन सिंह तथा जगदीश भगवती जैसे अर्थशास्त्री आर्थिक सुधारों के शुरुआती समर्थकों में से रहे हैं।जबकि तीव्रतर आर्थिक विकास के नाम पर भूमण्डलीकरण और उदारीकरण की नीति का पक्ष लिया जाता है,इसके आलोचक इसको एक ग़रीब–विरोधी नीति के रूप में देखते हैं। कुछ तो इसको अन्तर्राष्ट्रीय पूँजी के सामनेघुटने टेकना ही मानते हैं। देश को आर्थिक सुधारों के मार्ग पर चलते दो दशक से भी अधिक बीत चुके हैं।

कांग्रेस से आरंभ कर चार उत्तरोत्तर सरकारों :- संयुक्त मोर्चा, व भा.ज.पा. के नेतृत्व वाली राष्ट्रीय जनतांत्रिक गठबंधन (एन.डी.ए.) और अब कांग्रेस के नेतृत्व वाली राष्ट्रीय प्रगतिशील गठबंधन (यू.पी.ए.) सरकार :- नेसुधारों की इस नीति को जारी रखने के प्रति वचनबद्धता दर्शायी है। यह कहा जा सकता है कि आर्थिक सुधारोंके पक्ष में एक सर्वसम्मति अब बन ही गयी है। प्रणव वर्धन मानते हैं कि यह मतैक्य अनम्य और अनिवर्त्य है,यथा न झुकने वाला, न बदलने/पलटने वाला। डॉ. मनमोहन सिंह के नेतृत्व वाली इस नयी सरकार ने आर्थिकसुधारों की इस नीति को 'मानवीय रुख' अपनाकर आगे ले जाने के प्रति भी वचनबद्धता प्रकट की है। इसविचार का निहितार्थ यह है कि समाज के सिर्फ़ सम्पन्न वर्ग ही सुधारों के लाभों को न समेट लें बल्कि ये लाभआम आदमी तक भी पहुँचें। यहाँ तक कि वाम दल भी आदतानुसार आर्थिक सुधारों का विरोध नहीं कर रहेहैं।

भूमण्डलीकरण एवं उदारीकरण की नीति ने हमारे देशवासियों के जीवन को वृहद् रूप से प्रभावित किया है। राज्यीय राजनीति विषयक उनकी मंशाएँ दूरगामी रही हैं। उदारीकरण व भूमण्डलीकरण की नीति ने क्षेत्रीयपूँजीपति वर्ग के उदय की ओर प्रवृत्त किया है। क्षेत्रीय पूँजीपतियों व क्षेत्रीय राजनीतिक दलों के बीच एक सहजीवीसंबंध विकसित हो गया लगता है। अनेक राज्य सरकारें विदेशी पूँजी को आकर्षित करने में एक दूसरे से होड़करती रही हैं। यह नया घटनाक्रम केन्द्र–राज्य संबंधों की एक नयी समझ हेतु आह्वान करता है।

12.2 आर्थिक विकास का आदर्श

1991 में पी.वी. नरसिम्हा राव के नेतृत्व वाली कांग्रेस सरकार द्वारा नई आर्थिक नीति (New EconomicPolicy)का सुत्रपात किये जाने से पूर्व भारतीय अर्थव्यवस्था नियंत्रण से दबी, अन्तर्मुखी एवं तीसरी दुनिया के देशों के बीच एक पृथक्त अर्थव्यवस्था थी। उसी वर्ष देश के सामने निर्णायक बिंदु पर पहुँचती भुगतान–शेष स्थिति के साथ एक अभूतपूर्व आर्थिक संकट आया। देश का विदेशी मुद्रा भण्डार मुश्किल से दो माह के आयातों का भुगतान करने के लिए ही पर्याप्त था। देश के पास अपने आर्थिक संकट से पार पाने हेतु ऋणों के लिए विश्व बैंक व अन्तरराष्ट्रीय मुद्रा कोष के पास जाने के सिवा कोई चारा नहीं था। इन ऋणों को प्राप्त करने के लिए देश को स्थिरीकरण एवं संरचनात्मक समंजन कार्यक्रम संबंधी एक

पैकेज पर सहमत होना पड़ा। इस पैकेज ने भारतीय अर्थव्यवस्था की उदारीकरण प्रक्रिया को आवश्यक उत्प्रेरण प्रदान किया। आर्थिक सुधारों का विरोध करने वाली पारंपरिक मानसिकता से निकलकर सरकार ने अर्थव्यवस्था में संकट का प्रयोग व्यापक आर्थिक सुधारों के मार्ग पर चल पड़ने में किया। राज्य के नेतृत्व वाले, केन्द्रीकृत एवं नियोजित चालीस वर्षीयआर्थिक विकास के स्थान पर अब एक बाज़ार के नेतृत्व वाला आर्थिक विकास का उदारीकृत एवं भूमण्डलीकृतप्रतिमान आ गया। आर्थिक विकास के इस नए प्रतिमान में राज्य को ही सभी आर्थिक दोषों का कारण माना जाताहै और बाज़ार को सभी आर्थिक समस्याओं हेतु रामबाण के रूप में देखा जाता है।

इस काल में सुधार–नीति कावैचारिक विरोध बहुत अशक्त था। इंग्लैंड में ब्रिटिश प्रधानमंत्री मार्गरेट थैचर और संयुक्त राज्य अमेरिका मेंराष्ट्रपति रोनाल्ड रीगन ने एक घोषणा की जिसे राज्य की भूमिका समाप्त किए जाने एवं बाज़ार को बड़ीभूमिका सौंपे जाने के रूप जाना गया। एक तरीके से इसने (Keynesian)कीनेशियन कल्याणकारी राज्यअथवा जिसे राज्य–प्रशासित समाजवाद भी कहते हैं, की घटती लोकप्रियता का संकेत दिया। पूर्व सोवियत संघ केपतन एवं विघटन तथा उसके उत्तरवर्ती देशों एवं पूर्वी यूरोप के तत्कालीन साम्यवादी देशों द्वारा विकास केपूँजीवादी मार्ग को अपनाये जाने ने राज्य नियंत्रण की व्यापकता हेतु वैचारिक आधारों को निष्प्रभावी कर दिया।

इसने विश्वव्यापी आर्थिक सुधारों के लिए एक अनुकूल वातावरण तैयार किया। नयी आर्थिक नीति के क्रियान्वयनके चलते, छात्रों एवं नौकरी के इच्छुकों का भारी संख्या में अन्य देशों की ओर झुकाव देखा गया है। इसनेआर्थिक सुधारों के विषय में रवैया बदलने हेतु 'बाहरी देशों के साथ अन्तर्सम्बन्ध एवं सम्प्रेषण बढ़ाने की ओरभी प्रवृत्त किया है। इसी प्रकार, भारतभूमि के ही नज़दीक, साम्यवादी चीन हमारे देश की अपेक्षा लगभग एकदशक पहले ही आर्थिक सुधारों वाली नीति का सूत्रपात कर चुका था। आर्थिक सुधारों की नीति अपनाने के बादचीन अर्थव्यवस्था ने उल्लेखनीय प्रगति की। इस प्रकार यह बिल्कुल स्पष्ट है कि सुधारों के ख़िलाफ बाधाओं कोकम करने और उसके पक्ष में सर्वसम्मति तैयार करने में अनेक राष्ट्रीय एवं अन्तरराष्ट्रीय घटनाक्रमों कायोगदान रहा है।

1991 में होने वाले आर्थिक सुधारों के पैकेज में बीस प्रतिशत तक रुपये का अवमूल्यन शामिल था। इसकाउद्देश्य था रुपये को लक्ष्यपरक रूप से बाज़ार से जोड़ना। आयात हेतु पहुँच–मार्ग अधिक स्वतंत्र बनाने के लिए विधान बनाये गए। एकाधिकारिक एवं प्रतिबंधक व्यापार पद्धति अधिनियम (MRTP Act) के पटाक्षेप के साथ ही लाइसेंस नियंत्रण प्रणाली को भी समाप्त कर दिया गया। सुधार धीरे–धीरे निजीकरण की ओर खिसकते हुए सार्वजनिक क्षेत्रों में स्थान बना रहे थे। बहुराष्ट्रीय कम्पनियों एवं विदेशी निवेश विषयक विचार को समूचे बदलाव से दो–चार होना पड़ा। पाबन्दियों ने स्वागत्–द्वार खोल दिए।

12.3 आर्थिक सुधार और विदेशी सीधा निवेश

आर्थिक सुधारों का मार्ग अपनाकर भारत आर्थिक पुनरुद्धार के रास्ते पर चल पड़ा था। सकल घरेलू उत्पाद (जी. डी.पी.) जो वर्ष 1991–92 में एक नगण्य 0.8 प्रतिशत तक गिर गई थी, 1993–94 तक उठकर 6.2 प्रतिशत तक चली गई। आठवीं पंचवर्षीय योजना के दौरान उक्त अर्थव्यवस्था ने विकास दर सात प्रतिशत के आस–पास तक दर्ज की। यह विकास दर पूर्व एशिया की उच्च–निष्पादन अर्थव्यवस्थाओं की विकास दर के प्रायः नज़दीक थी। यह अद्भुत कमाल संकट काल की टीसों और संरचनात्मक समंजन के बावजूद हुआ। सकल घरेलू बचत जैसे अन्य आर्थिक सूचकांको में भी एक उर्ध्वमुखी उछाल देखा गया। औद्योगिक उत्पादन की वृद्धि दर में 1991–92 में 1 प्रतिशत जैसी अल्प से 1993–94 में 6 प्रतिशत तक बढ़ोत्तरी दर्ज की गई। 1996 में यह अकस्मात् बढ़कर 12.8 प्रतिशत हो गई। पूँजीगत माल क्षेत्र जिसने शुरुआत में एक नकारात्मक वृद्धि दर्शायी, 1994–95 में 25 प्रतिशत वृद्धि दर्ज की। इसने इस संशय में डाल दिया कि आयातों में ढील देने से घरेलू पूँजीगत माल उद्योग पर मार पड़ेगी।

निर्यात जिसने 1991 में 1.5 प्रतिशत की गिरावट (डॉलर की कीमत) दर्ज की थी, ने एक नियमित वृद्धि केसंकेत दिए। 1993–96 के बीच इसने 20 प्रतिशत के आसपास की वृद्धि दर दर्ज की। यह स्वावलंबी विकासलक्ष्य के अनुरूप था। आयातों का पर्याप्त मात्रा में एक बड़ा भाग अब निर्यातों द्वारा चुकाया जाने लगा था।निर्यात–आयों व आयात–भुगतानों का अनुपात अस्सी के दशक में 60 प्रतिशत की औसत से बढ़कर 1990 केदशक–मध्य तक लगभग 90 प्रतिशत तक पहुँच गया। 1991 में विदेशी मुद्रा भण्डार जो महज दो हफ़्तों केआयात भुगतान के लिए ही पर्याप्त थे, अब जनवरी 1999 के अंत तक सात महीनों के आयात भुगतान के लिए पर्याप्त हो गए। कर्ज़ की स्थिति जो अब एक नाजुक घड़ी में पहुँच चुकी थी, ने सुधार के संकेत देने शुरू कर दिए। भारत के लिए समग्र बाह्य ऋण–जीडीपी अनुपात जो 1991–92 में 41 प्रतिशत पर चला गया था, वर्ष 1995–96 में 28.7 प्रतिशत पर आ गया। ऋण–सेवा अनुपात जो 1990–91 में 35 प्रतिशत को छूने लगा था, 1997–98 में 19.5 प्रतिशत पर आ गया। यह चीन, मलेशिया व दक्षिण कोरिया जैसे देशों के ऋण–सेवा अनुपात की अपेक्षा अब भी अधिक था, जो कि इस अवधि के आस–पास 10 प्रतिशत से भी कम रहा। अर्थव्यवस्था के खुलने से विदेशी निवेश को अत्यधिक बढ़ावा मिला। 1991 से 1996 के बीच विदेशी सीधा निवेश 100 प्रतिशत प्रतिवर्ष की दर से बढ़ा। 1991–92 में 12.9 करोड़ डॉलर से उसने बढ़कर 1995–96में 2.1 अरब डॉलर का आँकड़ा पार कर लिया।

यह एक काबिले तारीफ़ उपलब्धि थी परन्तु इस जयांक पररहकर भी, देश पूर्व एशियाई देशों से अभी तक पिछड़ा हुआ है। उदाहरण के लिए, चीन 30 अरब डॉलर वार्षिक के बराबर विदेशी सीधा निवेश प्राप्त कर रहा है। एक महत्त्वपूर्ण घटना थी :- विदेशी पूँजी से वैर का कम होना। 1996 के चुनावों के बाद अपने घटक के रूप में एक वामपंथी दल के साथ एक गठबंधन सरकार सत्ता में आयी। इस सरकार का न्यूनतम साझा कार्यक्रम 10 अरब डॉलर वार्षिक विदेशी सीधा निवेश पर अभिलक्षित था। राष्ट्रीय लोकतांत्रिक गठबंधन सरकार (एन.डी.ए.) ने भी एक विदेशी निवेश–समर्थक नीति अपनायी। औरतो और, वाम दलों के समर्थन पर टिकी होने के बावजूद वर्तमान संयुक्त प्रगतिशील गठबंधन सरकार विदेशी निवेश को बढ़ावा दे रही है।

1995–96 के बाद, जब विकास दर 12.8 प्रतिशत के शिखर पर पहुँच गयी, आगामी दो वर्षों में 5.5 व 6.6तक गिरावट आयी। अर्थव्यवस्था के इस प्रकार सुस्त पड़ने को अंशतः जापान, दक्षिण कोरिया, इण्डोनेशिया,थाइलैण्ड व अन्य देशों में मंदी के प्रभाव के रूप में देखा जाता है। वक्त के इस दौर में अर्थव्यवस्थाएँ नकारात्मक वृद्धि दर्ज कर रही थीं और 1998 में विश्व व्यापार भी सुस्त पड़ चुका था। इस बात को उत्तरदायी माना गया कि भारत स्वयं को विकास को बाधित करती संरचनात्मक प्रक्रिया में नहीं लगा सकता था। भारतीय अर्थव्यवस्था द्वारा एक उच्च विकास दर दर्ज न करा पाने के लिए घटिया आधारभूत ढाँचा (बिजली, परिवहन), पुरातन श्रमिक कानून एवं अविराम व्यापार प्रतिबंध को दोष दिया गया। प्रणव वर्धन का मत है कि आमतौर पर, सुधार–नीति के खिलाफ़ कोई ज़्यादा राजनीतिक प्रतिकूल प्रतिक्रिया नहींहुई। अनेक राज्य स्तर के नेताओं ने उदारीकरण का समर्थन किया क्योंकि यह विदेशी निवेश हेतु एक मुक्त–द्वार नीति से अधिक जुड़ा है, जो राज्यों को राजकोषीय दिवालियेपन से बचने का उपाय सुझाता है। एक समष्टि रूप में बड़े व्यापार–गृह नुकसान में नहीं रहे, यदि कुछ क्षेत्रों में बढ़ी प्रतिस्पर्धा के कारण उन्हें हानि हुई भी तो कुछ अन्य क्षेत्रों में उन्हें लाभ भी हुआ, क्योंकि कुछ निश्चित क्षेत्रों में प्रवेश हेतु पाबन्दियों में ढील दी गई है। सम्पन्न किसानों की ओर से कोई ज्यादा विरोध नहीं हुआ है। विश्व व्यापार संगठन में भारत शामिल तब हुआ जब भारत सरकार ने 1994 में मैराकास में 'गैट' (शुल्क एवं व्यापार पर आम सहमति) के उरुग्वे दौर पर हस्ताक्षर कर दिए। 'गैट' की शर्तों के अनुसार, भारत समेत सभी विकासशील देश एक दायित्व के अधीन हैं कि वे ऐसे स्थानों पर परिदानों की शुरुआत करेंगे जहाँ उन्हें किसानों को उनके उत्पादन मूल्य के 10 प्रतिशत तक आर्थिक सहायता के लिए कहा गया हो। भारत ने, तीसरी दुनिया के अन्य देशों के साथ ही, विश्व व्यापार संगठन पर भेदभावपूर्ण व्यवहार का आरोप लगाया। विकसित देश लगातार परिदान देते आ रहे हैं जबकि विकासशील देशों पर वे परिदान कम करने के लिए दबाव डालते हैं। जैसा कि स्पष्ट है, परिदानों में कटौती से किसानों के हितों को क्षति पहुँचेगी। नयी आर्थिक नीति अथवा भारत के विश्व व्यापार संगठन का हिस्सा बन जाने के प्रति सम्पन्न किसानों की प्रतिक्रिया अभिन्न नहीं रही है। एक ओर, देश के पश्चिमी भाग में सम्पन्न–कृषक आन्दोलन के नेता शरद जोशी ने नए घटनाक्रम का समर्थन किया है, तो दूसरी ओर उत्तर में महेन्द्र सिंह टिकैत और दक्षिण में नॉजुन्दास्वामी इसके आलोचक रहे हैं। ये किसान अपना निवेश कृषि से चीनी, चावल मिल, खाद्य–प्रसंस्करण आदि कृषि–आधारित उद्योगों की ओर मोड़ रहे हैं। आर्थिक सुधारों द्वारा बनाया गया वातावरण उनका उद्देश्य पूरा करता लगता है। कुछ नए उद्यमी दफ़्तरशाहों, सेनाधिकारियों के परिवारों व अन्य पेशेवर वर्गों के सदस्यों से संबंध रखते हैं। यह स्पष्ट है कि दफ्तरशाही और पूँजी के बीच एक नया संबंध गढ़ा गया है। जैटकिन्स का विचार है कि व्यापक राजनीतिक विवादों को जन्म दिए बग़ैर अनेक तरीकों से निहित स्वार्थों के वास्ते बिखरते प्रतिरोध वाली एक राजनीतिक प्रक्रिया के माध्यम से थोड़े–थोड़े सुधारों की बहुतायत रही है।

12.4 आर्थिक उदारीकरण : विभिन्न दृष्टिकोण

आर्थिक सुधार नीति की प्रमुख आलोचनाओं में से एक इस आधार पर रही है कि ये सुधार गरीब–विरोधी रहेहैं। यह तर्क दिया जाता है कि इन सुधारों में उच्च व मध्य वर्गों के पक्ष में एक अंतर्जात पूर्वाग्रह निहित है औरये भौतिक दृष्टि से अल्पलाभांवितों के हितों को नुकसान पहुँचाते हैं। यह भी तर्क दिया जाता है कि ये सुधारआर्थिक विषमता को और अधिक विकराल बना देंगे, और यह एक न्यायसंगत समाज की रचना करने संबंधीसंवैधानिक उद्देश्य के विरुद्ध होगा। आर्थिक समानता एक न्यायसंगत समाज संबंधी इस अवधारणा का एकअनिवार्य अंग है। योजना के प्रारंभ से ही नीति–निर्माताओं के मूल उद्देश्य में से एक न्याय के साथ विकास लानारहा है। सुधारवादी कार्यसूची के समर्थक इस दृष्टिकोण को मान्यता नहीं देते कि आर्थिक सुधार आर्थिकअसमानता को और अधिक विकराल बना देंगे। इसके विपरीत, उनका तर्क है कि एक द्रुत आर्थिक विकास,वस्तुतः, गरीबी के स्तरों में गिरावट से जुड़ा होता है।

उदारीकरण और भूमण्डलीकरण प्रक्रिया की एक अन्य आलोचना यह रही है कि यह नौकरी छूटने की ओर प्रवृत्तकरेगी। सार्वजनिक क्षेत्र के निजीकरण ने संगठित श्रमिकों के विरोध का सामना किया है। स्वैच्छिक सेवानिवृत्तियोजना (वी.आर.एस.) के नाम से प्रसिद्ध योजना के तहत अनेक कर्मचारियों को सेवा मुक्त किया गया है।अनुबंध और अस्थायी श्रमिक नियमित कर्मचारियों का स्थान लेने लगे हैं। विभिन्न छलों का सहारा लेकर अनेकजीवन–अक्षम इकाइयों को बंद किया जा चुका है। निजीकरण नीति के तहत देश में अनेक महत्त्वपूर्ण सार्वजनिकक्षेत्र की इकाइयों को निजी कम्पनियों के

हाथ बेचा जा चुका है। इससे श्रमिक आन्दोलन हेतु नई चुनौतियाँसामने आयी हैं। भारतीय अर्थव्यवस्था में 1991 से ही इस घटनाचक्र ने कामगार वर्ग के लिए बुनियादी समस्याएँपैदा की हैं। श्रमिक संघ कामगारों के अधिकारों पर पूँजी के अतिक्रमण का विरोध करने में दिक्क़त महसूस कररहे हैं।

कुछ आलोचकों ने यह भी तर्क देना शुरू कर दिया है आर्थिक सुधारों ने एक नौकरी–रहित विकास काल कीओर प्रवृत्त किया है। भूमडण्लीकरण और उदारीकरण भारतीय प्रौद्योगिकी संस्थानों एवं भारतीय प्रबंधनसंस्थान् से निकले स्नातकों जैसे उच्च रूप से प्रशिक्षित जनशक्ति हेतु नौकरी के अवसर पैदा कर रहे हैं; इसीप्रकार कॉल सैण्टर उन्हीं को नौकरी देते हैं जिनका अंग्रेजी भाषा पर अच्छा अधिकार है। उच्च मध्यवर्ग वशहरी पृष्ठभूमि से आने वाले लोगों को खगोलीय वेतन वाली इसी प्रकार की नौकरियाँ पाने का एक स्पष्ट लाभप्राप्त है। सरकारी नौकरियों में आरक्षण संबंधी नीति सामाजिक न्याय की धारणा पर आधारित है, क्योंकिआरक्षण के बग़ैर अलाभांवित पृष्ठभूमि से आने वाले प्रत्याशी नौकरियाँ पाने में असमर्थ रहते। बहुराष्ट्रीयकम्पनियाँ व निजी कम्पनियाँ आरक्षण संबंधी किसी भी सिद्धांत को ठीक से नहीं अपनाती हैं। इसी कारण, कुछलोग सुधारों की नीति को उन्हें आरक्षण लाभ से वंचित करने वाली एक कपटपूर्ण युक्ति के रूप में देखते हैं।निजी क्षेत्र में आरक्षण हेतु माँग भी ज़ोर पकड़ती रही है। कमज़ोर तबके को उपलब्ध सरकारी शिक्षा का स्तरगिर रहा है। साथ ही, निजी शिक्षा दिनों–दिन महँगी और समाज के अलाभांवित वर्गों में जन्मे लोगों की पहुँचसे बाहर होती जा रही है। उदारीकरण ने जनता के एक बड़े हिस्से को हाशिए पर धकेल दिया है, क्योंकि उनकेपास विकास का लाभ उठाने के लिए योग्यताएँ या शिक्षा नहीं है। अतः हमें उनमें भरपमर निवेश करने कीज़रूरत है ताकि ये उपांतिक वर्ग उदारीकरण प्रक्रिया में भागीदार बन सकें।

राज्य द्वारा पीछे खिसकने तथा बाज़ारोन्मुखी विकास वाली नव–सैद्धांतिक उदारवादी आर्थिक विचारधारा नेआर्थिक असमानताओं एवं क्षेत्रीय विषमताओं को बढ़ा दिया है। इसने परिणामतः केन्द्र व राज्यों के बीच नएतनावक्षेत्रों के उभरने की ओर प्रवृत्त किया है। इसने संतुलित क्षेत्रीय विकास को प्रोत्साहन देने के लिएकेन्द्र–सरकार की शक्ति में क्षय की ओर भी प्रवृत्त किया है। कुछ सुविज्ञजन विकास को शहरी भारत, संगठितक्षेत्र, अधिक समृद्ध राज्यों एवं सम्पत्ति–धारकों हेतु उपकारी के रूप में देखते हैं।कुछ अर्थशास्त्रियों का विचार है कि व्यापार उदारीकरण सरीखी नीतियाँ बहुराष्ट्रीय निगमों को एक अवसर प्रदानकरती हैं कि वे स्थानीय उत्पादकों की कीमत पर तीसरी दुनिया के बाज़ार को पुरस्कार रूप में ग्रहण करें।

तीसरी दुनिया के देशों में विदेशी निवेश हेतु अवसरों का खुलना बहुराष्ट्रीय कम्पनियों के लिए बड़ा लाभ कमानेहेतु अवसर देता है। इसी प्रकार, इन कम्पनियों को सार्वजनिक क्षेत्र की परिसम्पत्तियों का बेचा जाना बहुराष्ट्रीयकम्पनियों के लिए एक अवसर प्रदान करता है कि वे सस्ते दामों में अपना व्यापार साम्राज्य तीसरी दुनिया मेंबसायें। एन.डी.ए. सरकार के निजीकरण सौदों के खिलाफ़ दोषारोपणों का एक उद्रेक यह रहा है कि उन्होंनेसार्वजनिक परिसम्पत्तियाँ औने–पौने बेच डाली हैं।

संयुक्त प्रगतिशील गठबंधन (यू.पी.ए.) सरकार जो 2004 में सत्ता में आयी, ने सुधारों की नीति को स्वयं साथलेकर चलने और सुधारों को एक मानवीय रूप देने का भी का वचन दिया। यू.पी.ए. के न्यूनतम साझा कार्यक्रमने किसानों और ग़रीब लोगों की ज़रूरतों पर आवश्यक दबाव डाला है क्योंकि अब तक हुए सुधारों के बारे मेंकहा जाता है कि वे भारतीय समाज के शहरी व सम्पन्न वर्गों के पक्ष में ही पूर्वाग्रह पाले रहे। नई सरकार नेविनिवेश मंत्रालय को ही समाप्त कर दिया है और लाभ कमाने वाले सार्वजनिक क्षेत्रों का निजीकरण न करनेका फैसला किया है। एक बोध यह बढ़ता रहा है कि सुधारों ने कृषि क्षेत्र को लाभ नहीं पहुँचाया है। नयी सरकारकृषि पर ध्यान दे रही है ताकि यह असंतुलन ठीक हो; अपने प्रथम बजट में यू.पी.ए. सरकार ने कृषि ऋणको दो गुना कर दिया है और कृषि–व्यापार को बढ़ावा देने एवं जल निकायों को बढ़ाने हेतु मार्गदर्शी योजनाएँशुरू करने का वचन दिया है। कृषि में उच्चतर विकास दर पर ज़ोर दिया जाना उद्योग में भी उच्चतर विकासदर को प्रोत्साहित कर सकता है। सुधार नीति की एक अन्य महत्त्वपूर्ण आलोचना यह रही है कि इसने क्षेत्रीयअसंतुलन को और अधिक खराब किया हैकेन्द्रीय बजट में बिहार के लिए विशेष पैकेज को इस मुद्दे को उठाने हेतु एक प्रयास के रूप में देखा जा सकता है। यू.पी.ए. सरकार का न्यूनतम साझा कार्यक्रम यह घोषणा करता है कि विदेशी सीधा निवेश को प्रोत्साहन देना और विशेषतः आधारभूत ढाँचा, उच्च प्रौद्योगिकी व निर्यात आदि क्षेत्रों से सक्रिय रूप से मेल–जोल जारी रहेगा। साथ ही, सुधार–नीति के साथ–साथ आगे बढ़ते हुए, वित्त मंत्री ने दूरसंचार, बीमा क्षेत्र व नागर विमानन में विदेशी सीधा निवेश की सीमा को बढ़ा दिया है। दूरसंचार में आँचलिक सीमाएँ 49 प्रतिशत से 74 प्रतिशत तक, नागर विमानन में 40 से 49 प्रतिशत तक और बीमा क्षेत्र में 26 से 49 प्रतिशत तक बढ़ा दी गई हैं। लगभग 85 मदों को आरक्षित सूची की श्रेणी से लघु उद्योगों के लिए चुना गया है। 2004–5 का बजट निजी क्षेत्र की जानिब एक बदलाव दर्शाता है। यह बजट इक्विटि के रूप में 14,194 करोड़ रुपये और ऋण के रूप में 2,132 करोड़ रुपये के माध्यम से एक सशक्त पृष्ठपोषण का वायदा करता है। परन्तु निजी क्षेत्र को समर्थन दक्षता और क्षमता की कीमत पर नहीं दिया जायेगा। उसे एक स्पर्द्धेय परिवेश में सुसंगत लाभ दर्शाना होगा। यह बजट घरेलू और विदेशी निवेशकों को लुभाने के उद्देश्य से

एक निवेश आयोग स्थापित करने का भी प्रस्ताव रखता है। एक सुस्पष्ट अनुभव यह रहा है कि भारत विदेशी निवेशकों को लुभाने में चीन से पिछड़ा रहा है।

12.5 भूमण्डलीकरण और राज्यीय राजनीति पर उसका प्रभाव

नयी आर्थिक नीति ने भारत में राज्यीय राजनीति को इतने बड़े स्तर पर प्रभावित किया है कि उसने राज्यीयराजनीति की एक ताज़ा समझ वस्तुतः अनिवार्य बना दी है। भूमण्डलीकरण एवं उदारीकरण की नीति ने, एक प्रकार से, एक ऐसी स्थिति पैदा कर दी है कि जिसमें राज्य सरकारें सत्ता व निर्णयन् के वास्तविक केन्द्र–बिन्दु के रूप में उभरी हैं। विदेशी पूँजी को आकर्षित करने के लिए राज्य सरकारें एक बेलगाम होड़ में पड़ गई हैं। विदेशी निवेशकों को अपनी परियोजनाएँ स्थापित करने के लिए राज्य सरकारों से सौदा करना पड़ता है। 1990 के दशक का वर्णन संविधान परिवर्तन के बग़ैर भारत के राजनीतिक पुनर्संघीकरण के रूप में किया जाता है। ऐसा इसलिए है कि वर्तमान दौर में केन्द्र में सरकार बनाना महत्त्वपूर्ण क्षेत्रीय दलों के समर्थन के बग़ैर संभव नहीं रहा है। एक–दलीय आधिपत्य के दिन अब लद गए लगते हैं। गठबंधन की दृश्यघटना केन्द्र–राज्य संबंध को पुनर्परिभाषित करती एक नई वास्तविकता प्रतीत होती है। ग्रॉविले ऑस्तें ने गौर किया है कि नेहरू के कार्यकाल में केन्द्रीकरण के साथ–साथ लोकतंत्र के प्रति समर्पण और सामाजिक क्रांति का संस्थानीकरण हो गया था। प्रतिपक्षी दलों व अनेक विद्वजनों तक ने आरोप लगाया कि कांग्रेस पार्टी के प्रभुत्व ने अपने शासन के 40 वर्षों के दौरान केन्द्रीकरण पर चलने की ओर प्रवृत्त किया और राज्य सरकारों के साथ महिमामण्डित नगरपालिकाओं के माफ़िक बर्ताव किया गया। भारतीय संघ के केन्द्रवादी लक्षण के आलोचक यह नहीं समझ पाते कि एक सशक्त केन्द्र से अपेक्षा की गई थी कि वह एक गुण व चरित्र में असमान समाज को जोड़ कर रखेगा। अन्तर्–राज्यीय विवादों में मध्यस्थ का काम करने हेतु केन्द्र सरकार की राजनीतिक शक्ति गठबंधनों के इस युग में क्षयग्रस्त हो गई है।

एक केन्द्रीकृत राजनीतिक व्यवस्था भारतीय आर्थिक नियोजन का एक अनिवार्य अंग रही है जिसमें राज्य सरकारों का नेतृत्व केन्द्र सरकार द्वारा किया जाता था। आर्थिक सुधारों को राज्य सरकारों से एक प्रभावशाली भूमिका की अपेक्षा है। उदारीकरण एवं भूमण्डलीकरण की प्रक्रिया भारतीय संघ के सामने नयी चुनौतियाँ खड़ी कर रही है और लगता है कि वह केन्द्र व राज्यों के बीच सत्ता संबंधों के पुनर्निर्माण में जुटी है। कुछ उदाहरण इन बिंदुओं की एक बेहतर तरीके से प्रमाणित कर सकते है। जबकि पूँजी एवं जिंसों का निर्विघ्न रुझान सुनिश्चित करने के लिए हर निवेशक राज्यों की संगति में अकटु संबंध तलाश रहा है, हर राज्य सरकार विदेशी निवेशकों के साथ सौदा करने की अपनी ही कार्यसूची प्रस्तुत कर रही है। लाइसेंस–परमिट राज के दौर में राज्य सरकारों ने माल, जिंसों और यहाँ तक कि परिवहन की गति पर पाबन्दी लगाने के लिए ऊँचे सीमाशुल्क/चुँगी की दीवारें खड़ी कर दी थीं। केन्द्र सरकार निष्फल रूप से वर्तमान स्पर्द्धेय राज्य सीमाशुल्क प्रणाली की जगह एकसमान मूल्य परिवर्धित कर ('वैट') के आधार पर जिंसों की आवाजाही को अनुमति देने के लिए राज्य सरकारों को मनाती रही है। यह कहा जा सकता है कि एक अखिल–भारतीय राष्ट्रीय बाज़ार को जन्म देने के लिए भारत संघर्षरत है। भूमण्डलीकरण की धारणा एक साझा दुनियावी बाज़ार पर आधारित मानी गई है परन्तु हम एक देश तक के रूप में कोई साझा बाजार नहीं बना पाये हैं।

एल.एच. रुडोल्फ़, और एस.एच. रुडोल्फ़ का मानना है कि 1990 के दशक में भारत एक आदेशबद्ध अर्थव्यवस्था से निकलकर एक संघबद्ध बाज़ार अर्थव्यवथा में पहुँचा। उन्होने यह भी गौर किया कि इस दशक में मुख्यमंत्रीगण भारत की संघीय बाज़ार अर्थव्यवस्था में बाज़ारबाज़ी के खिलाड़ी हो गए। इस दशक के विषय में ध्यानाकर्षक भिन्नता यह रही है के राज्य सरकारें आर्थिक क्षेत्रों में महत्त्वपूर्ण खिलाड़ियों के रूप में उभरीं। यह बात नियोजन के उस केन्द्रीकृत चरण के एकदम उलट थी जिस दौरान केन्द्र सरकार राज्य सरकारों से नीतियाँ लागू करवा सकती थी क्योंकि राजकोष उसी के नियंत्रण में होता था। नब्बे के दशक में न सिर्फ़ निवेशकों ने राज्य सरकारों से सम्पर्क साधना शुरू कर दिया बल्कि उन्हें आकर्षित करने के लिए राज्य सरकारों के बीच एक प्रतिस्पर्धा भी शुरू हो गयी। यहाँ तक कि पश्चिम बंगाल की वाम मोर्चा राज्य सरकार भी इस दौड़ में पीछे नहीं रहना चाहती थी।

केन्द्र–राज्य संबंधों की पुरानी व्यवस्था ने मुख्य रूप से प्रायोजित ऐसी योजनाओं की एक प्रणाली विकसित की थी जो लागू तो राज्य सरकारों द्वारा की जातीं थी परन्तु पैसा केन्द्र सरकार लगाती थी। नयी विचारधारा में लगता है कि केन्द्र सरकार अपने सर का बोझ कम करके राज्यों के आर्थिक विकास की जिम्मेदारियाँ राज्य सरकारों को ही सौंप देना चाहती है। नए परिदृश्य में राज्य सरकारें केन्द्र सरकारों के स्थान पर महत्त्वपूर्ण आर्थिक अभिकर्त्ताओं के रूप में उभरी हैं। परन्तु राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था के प्रबंधन से केन्द्र सरकार का पीछे हटना अन्तर्–राज्यीय अथवा अन्तर्–क्षेत्रीय विषमताओं को और अधिक बुरा रूप प्रदान करने वाला है। यथा, भारत ने स्वतंत्रता प्राप्ति के समय सभी प्रकार के क्षेत्रीय असंतुलनों को दाय पाया था। आरम्भ से ही भारत में नियोजन के प्रमुख उद्देश्यों में से एक संतुलित विकास रहा है। यह लगता है कि नयी आर्थिक नीति का सूत्रपात होते ही भारत का संतुलित विकास के प्रति वचनबद्धता समाप्त हो गयी है। नब्बे के दशक में राज्य सरकारों को अपनी ही लड़ाई लड़ने में संघर्षरत देखा गया। यदि कोई राज्य विदेशी निवेशक को एक आकर्षक

पैकेज देने का प्रस्ताव रख सकता है तो उसे उन्नतशील, सुधारवादी एवं प्रगतिशील माना जाता है। एक विश्व बैंक सर्वेक्षण में महाराष्ट्र और गुजरात का अनुकूलतम निवेश ठिकानों के रूप में उल्लेख किया गया है। मोन्टेक सिंह अहलूवालिया, वर्तमान योजना आयोग उपाध्यक्ष, का मानना है कि कुछ राज्यों ने असाधारण रूप से अच्छा काम किया है, कई अन्य ने ज़ोरदार प्रदर्शन किया है, जबकि कुछ सुविज्ञों को आशंका है कि बढ़ती अंतर्–राज्यीय व क्षेत्रीय विषमताओं में केन्द्रीय प्राधिकार को खतरा है। केन्द्रीकरण ने लाइसेंस–परमिट राज में रहकर, उन लोगों के बीच एक दरार पैदा कर दी थी जो केन्द्र सरकार को पक्ष में करने का प्रयास प्रभावशाली ढंग से कर सकते थे, और दूसरे वे जिनका राजनैतिक व व्यापारिक प्रभाव एक राज्य अथवा उस राज्य के भीतर किसी क्षेत्र विशेष तक ही सीमित था। वणिक् पूँजीपति तथा स्थूल रूप से राष्ट्र के बड़े व्यापार–समूहों के महानगरीय वंशों से भिन्न, क्षेत्रीय व्यापार समूहों की नयी पीढ़ियाँ कृषक मूल और ग्रामीण आधारों वाली हैं। क्षेत्रीय व्यापार ने राष्ट्रीय सरकार की लाइसेंसिंग प्रणाली को बड़े व्यापार को अनुचित रूप से लाभ पहुँचाने वाली के रूप में देखा। तदनुसार, नयी आर्थिक नीति के हिस्से के रूप में लाइसेंसिंग प्रणाली की समाप्ति ने क्षेत्रीय व्यापार को लाभ पहुँचाया है। क्षेत्रीय व्यापार–गृहों ने ही अधिकांश तीव्र पथगामी निजी बिजली परियोजनाएँ खड़ी की हैं। पंजाब, हरियाणा, गुजरात, महाराष्ट्र, तमिलनाडु, आन्ध्र प्रदेश, व कर्नाटक जैसे राज्यों में गत दो दशकों की अवधि में एक सक्रिय प्रथम–पीढ़ी व्यापारी वर्ग का उदय हुआ है। यह वर्ग विभिन्न तरीकों से परम्परागत राष्ट्रीय व्यापारी वर्ग से अपने को अलग रखता है। उदयीमान क्षेत्रीय व्यापार–समूहों की आवश्यकताओं की ओर ध्यान दिलाने में राष्ट्रीय राजनीतिक दलों व केन्द्र सरकार की विफलता ने उन्हें प्रोत्साहित किया कि वे क्षेत्रीय दलों व राज्य सरकारों से ही राजनीतिक व भौतिक समर्थन प्राप्त करने का प्रयास करें। क्षेत्रीय पूँजीवाद के उद्गमन और क्षेत्रीय दलों के बीच संबंध इतना अटल है कि उसकी उपेक्षा नहीं की जा सकती है।

12.6 सार–संक्षेप

यह कहा जा सकता है कि सुधारों की प्रक्रिया ने भारत में उस समय की अपेक्षा अब अधिक भरोसा जमा लियालगता है जब ये सुधार शुरू हुए ही थे। यहाँ तक कि नेहरूवादी युग के सुधारवादी अर्थशास्त्री के.एन. राज, तथासुखमय चक्रवर्ती जैसे वामपंथी अर्थशास्त्री भी आर्थिक सुधारों का समर्थन करने लगे हैं। सुधारों के पक्ष में इतनाज़्यादा रायशुमारी के बावज़ूद सुधारों का कोण, दिशा व गति अक्सर एक विवादग्रस्त मुद्दा बन जाते हैं। आर्थिकसुधारों के बारे में कहा जाता है कि वे ग़रीब तबकों को हाशिए पर धकेल कर समाज के सम्पन्न वर्गों के पक्षमें एक पूर्वाग्रह पाले हुए हैं। ग्रामीण भारत ने शहरी भारत के साथ गति साम जस्य नहीं रखा है। तदनुसार,आर्थिक सुधारों ने क्षेत्रीय असंतुलन की समस्या को प्रतिकूल रूप से प्रभावित किया है। देश के सामने रोज़गारकी समस्या मुँह बाये खड़ी है। अनेक सार्वजनिक क्षेत्र की इकाइयों को बंद कर दिया गया है और कुछ को बेचाभी जा चुका है। कर्मचारियों को वी.आर.एस. (स्वैच्छिक सेवानिवृत्ति) की पेशकश की जा रही है। सवेतनरोज़गार जो उदारीकरण एवं भूमण्डलीकरण के साथ ही उभरा है, पहले दर्जे के तकनीकी व प्रबंधकीय कौशलोंकी अपेक्षा रखने वाली ऊँचे वेतन वाली नौकरियों के रूप में है। कुछ लोग आर्थिक सुधारों की नीति को समाजके अलाभान्वित वर्ग को आरक्षण लाभ से वंचित करने वाले दांव–पेंच के रूप में देखते हैं। ये सुधार अर्थव्यवस्थामें निजी क्षेत्र को महत्तर भूमिका सौंपते हैं और निजी क्षेत्र आरक्षण के सिद्धांत नहीं अपनाते।आर्थिक सुधारों ने भारतीय संघ की प्रवृत्ति पर भी प्रचण्ड प्रभाव डाला है। इसने केन्द्र–राज्य संबंधों परबातचीत को महत्त्वपूर्ण रूप से बदल डाला है। केन्द्र–राज्य संबंध की पुरानी व्यवस्था राज्य सरकारों द्वारा लागूकी जाने वाली केन्द्रीय रूप से प्रायोजित योजनाओं के इर्द–गिर्द ही विकसित होती थी। इस नयी व्यवस्था में केन्द्रसरकार अपना बोझ हल्का करके राज्यों के विकास की जिम्मेदारी उन राज्यों की सरकारों पर ही डालती लगतीहै, जो आर्थिक क्षेत्रों में बड़े खिलाड़ियों के रूप में उभरे हैं। निवेशकगण इन राज्यों में उपलब्ध निवेशानुकूलवातावरण के आधार पर एक वरीयता अनुक्रम भी रखते हैं। आर्थिक सुधारों ने क्षेत्रीय असंतुलन की समस्या कोऔर बढ़ा दिया लगता है। सुधारों ने क्षेत्रीय पूँजीपति वर्ग के विकास में एक महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाई है तथाक्षेत्रीय दल व क्षेत्रीय पूँजीपति वर्ग दोनों ही भूमण्डलीकरण के युग एवं राष्ट्रीय स्तर पर गठबंधन राजनीति केदौर में महत्त्वपूर्ण हो गए हैं।

12.7 अभ्यास

1) वे कारक क्या हैं जिन्होंने भारत को आर्थिक सुधारों का मार्ग अपनाने की ओर प्रवृत्त किया?
2) भारत की आर्थिक सुधार–नीति विषयक विभिन्न दृष्टिकोणों पर चर्चा करें।
3) भारत में राज्यीय राजनीति पर भूमण्डलीकरण के क्या निहितार्थ हैं?
4) ''राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था के प्रबन्धन से केन्द्र सरकार का पश्चगमन अन्तर्–राज्यीय विषमताओं कोबढ़ायेगा।'' इस कथन को सिद्ध करें।

इकाई 4
अध्याय 13.अन्तरराज्यीय विवाद : जलीय व क्षेत्रीय सीमाएँ

अध्याय की रूपरेखा

13.1 प्रस्तावना

13..2 जल–विवाद

13.2.1 जल की असमान उपलब्धता

13.2.2 नदी–क्षेत्र

13.2.3 जल–विवाद संबंधी राजनीति

13.3 सीमा–विवाद

13.3.1 एक औपनिवेशिक विरासत

13.3.2 उपनिवेशोपरांत काल में क्षेत्रीय मुद्दा

13.3.3 बेलगाँव विवाद : एक उदाहरण

13.4 सार–संक्षेप

13.5 अभ्यास

13.1 प्रस्तावना

भारत में अन्तरराज्यीय संबंध विवाद के विषय भी है और सहयोग के विषय भी। यह दरअसल, विद्यमान संबंधों, संस्थाओं की मनोवृत्ति, नेतृत्व एवं राजनैतिक परिस्थितियों के संबंध में सवैधानिक प्रावधानों पर निर्भर करता है। भारतीय राज्यों के बीच जल व सीमा जैसे प्राकृतिक संसाधनों के बँटवारे पर विवाद है। ये विवाद अनेक अवसरों पर कई राज्यों के बीच हिंसक संघर्ष में परिणत होते हैं। उनकी विफलता या सफलता भारतीय संघवाद की क्रियात्मकता का संकेतक होती है। इस इकाई में हम दो अथवा अधिक राज्यों को लेकर होने वाले दो प्रकार के विवादों का अध्ययन करने जा रहे हैं, यथा जल–विवाद और सीमा–विवाद।

13.2 जल विवाद

जल मनुष्य की सबसे महत्त्वपूर्ण आवश्यकताओं में से एक है। इसका बहुत से उद्देश्यों की पूर्ति हेतु प्रयोग किया जाता है – पीने के लिए, सफाई, कृषि व उद्योगों के लिए। इसकी कमी या अभाव समाज में विवादों की ओर प्रवृत्त कर सकता है। इसका असमान वितरण राज्यों के बीच सम्बन्धों को बिगाड़ सकता है। सिंचाई के लिए कृषि में आवश्यता से उठने वाले जल–विवाद सर्वाधिक असरकारी राजनीतिक अभिव्यक्ति रखते हैं। जल–विवादों के मामलों पर चर्चा करने से पूर्व भारत में जल–उपलब्धता की असमानता और नदी क्षेत्र पर चर्चा प्रासंगिक होगी।

13.2.1 जल की असमान उपलब्धता

भारत राष्ट्रीय स्तर पर वार्षिक जलवृष्टि और कुल उपलब्ध जल–संसाधनों की दृष्टि से संपन्न माना जाता है। तथापि, उक्त संसाधन का असमान वितरण क्षेत्रीय व काल–संबंधी अल्पताओं को जन्म देता है। भारत की औसत वार्षिक जलवृष्टि, 4000 अरब घन मीटर (बी.सी.एम.) असमान रूप से वितरित है, स्थानोचित् रूप से भी और कालोचित रूप से भी। वार्षिक प्रति व्यक्ति प्रयोज्य संसाधन–उपलब्धता ब्रह्मपुत्र घाटी में 18,417 घन मीटर से लेकर साबरमती नदी–क्षेत्र में मात्र 180 घन मीटर तक की भिन्नताओं में पायी जाती है। यहाँ तक कि गंगा नदी–क्षेत्र में, वार्षिक प्रतिव्यक्ति जल–उपलब्धता, यमुना में 740 घन मीटर से लेकर गण्डक में 3,379 घन मीटर तक की भिन्नताओं में पायी जाती है। वृष्टि स्तर पश्चिमी राजस्थान में 100 मी.मी. वार्षिक से उत्तर–पूर्वी राज्य मेघालय में 9,000 मी.मी. से भी ऊपर विविध रूपों में हैं। अपने चार मानसून मासों में होने वाली 75 प्रतिशत जलवृष्टि और शेष आठ मासों में 1000 अरब घन मीटर अतिरिक्त के साथ भारत की नदियाँ 90 प्रतिशत जल जून और नवम्बर के बीच लाती है। इस प्रकार, नदी प्रवाह का मात्र 10 प्रतिशत ही अन्य छः मासों के दौरान उपलब्ध होता है। भारत, इसीलिए, विभिन्न भागों में होकर बहने वाली और अर्थव्यवस्था को कायम रखने वाली नदियों के एक अच्छे–खासे जाल पर गर्व कर सकता है।

13.2.2 नदी क्षेत्र

देश की नदियों को इस रूप में वर्गीकृत किया गया है – हिमालयी, प्रायद्वीपीय, तटीय तथा अंतःअपवाह क्षेत्रीय नदियाँ। हिमालयी नदियाँ हिम आपूर्ति हैं और वर्ष भर उच्च से मध्यम प्रवाह दर बनाये रखती हैं। हिमालयी जलग्रहण क्षेत्रों में भारी वार्षिक औसत जलवृष्टि स्तर उनकी प्रवाह दरों में और वृद्धि करते हैं। जून से सितम्बर के मानसून मासों के दौरान, इन जल–ग्रहण क्षेत्रों में बाढ़ आने लगती है। वर्षा–आपूर्तित प्रायद्वीपीय नदियों का भी जलस्तर बढ़ जाता है। तटीय धाराएँ, खासकर पश्चिम में, अल्पकालिक और प्रासंगिक होती है। अन्तर्देशीय तन्त्र की नदियाँ, जो पश्चिमी राजस्थान राज्य में केन्द्रित हैं, कुछ ही हैं और अल्प जलवृष्टि के वर्षों में ओझल हो जाती है। अधिकांश नदियाँ विस्तृत, उथली घाटियों से होकर बहती हैं और बंगाल की खाड़ी में गिरती है।

विभिन्न राज्यों से होकर बढ़ने वाले सरित प्रवाहों को समझने की एक इकाई के रूप में नदी–क्षेत्र एक वैज्ञानिक अभिगम प्रदान करता है। 2000 व 20,000 वर्ग किमी. के बीच वाले नदी–क्षेत्र इलाकों को मझौली नदियों के वर्ग में रखा जाता है और विशेष को छोटी नदियों में गिना जाता है। मुख्य नदी–क्षेत्र गिनती में 13 हैं और समूह के रूप में वे अपने में जनसंख्या का 80 प्रतिशत तथा कुल सरितस्त्राव का 85 प्रतिशत समाविष्ट करते हैं। तीन प्रमुख नदियाँ – यथा गंगा, ब्रह्मपुत्र और सिन्धु – हिम–आपूर्तित नदियाँ है जो हिमालय से निकलती हैं। अन्य दस नदियों का उद्‌गम स्थल या तो केन्द्रीय भारत में है, या फिर प्रायद्वीप क्षेत्रों में। ये नदियाँ हैं – गोदावरी, कृष्णा, पेन्नार, महानदी, कावेरी, नर्मदा, ताप्ती, ब्राह्मणी, माही और साबरमती। मझौले नदी–क्षेत्र गिनती में 45 हैं जबकि छोटे नदी–क्षेत्र 55 हैं। इस प्रकार, अपने नदी–क्षेत्र स्थान पर आधारित विभिन्न प्रकार की माँगों को पूरा करने के लिए भारत के विभिन्न भागों में, खासकर शुष्क व अर्ध–शुष्क इलाकों में, जल हेतु बढ़ती ज़रूरतों ने गत कुछ दशकों में विशाल अंतःनदी–क्षेत्र हस्तांतरणों को बढ़ावा दिया है। तदनुसार, बहुत सी वृहद स्तरीय जल हस्तांतरण परियोजनाओं (अंत–सबद्ध प्रस्तावों) संबंधी योजनाएँ बनायी गई हैं। और उनमें से कुछ लागू भी की गई हैं। विभिन्न राज्यों व समुदायों के बीच जल–वैरभाव के मामले भी सामने आये हैं क्योंकि प्रयोगकर्त्ता अधिक है और आपूर्ति सीमित।

विभिन्न राज्यों से होकर बहने वाली प्रमुख नदियों के जल को काम में लाना इसीलिए एक बड़ी ही गंभीर चिंता का विषय है। बाढ़–नियंत्रण, अनावृष्टि निवारण, जल–विद्युत् शक्ति जनन, रोजगार सृजन व पर्यावरणीय गुणवत्ता बहस के लिए एक जन मोर्चा प्रदान करते हैं क्योंकि राज्य विभिन्न नदियों के प्रवाह को बदल देने के लिए राजनीतिक वास्तविकताओं को लेकर आपस में भिड़ जाते हैं। कृषि–संबंधी विकास, द्रुत शहरीकरण, आर्थिक विकास व बुनियादी सेवाओं हेतु उन्नत अभिगम के साथ–साथ देश की आबादी में तीव्र वृद्धि के कारण जल हेतु माँग बढ़ी है। स्थानोचित एवं कालोचित भिन्नताएँ कुछ क्षेत्रों में अल्पता को बढ़ावा देती हैं। पश्चिमी मैदानी क्षेत्र कच्छ क्षेत्र और उत्तरी मैदानी क्षेत्रों में कुछ लघुक्षेत्र पानी की भारी किल्लत का सामना करते हैं। माँग और आपूर्ति के बीच बढ़ती दूरी ने शहरी, कृषिक व घरेलू क्षेत्रों द्वारा भूजल उपभोग के हिस्से में एक ठोस वृद्धि की ओर प्रवृत्त किया है। अपशिष्ट जल उपचार हेतु अपर्याप्त पूर्वोपायों के कारण जल–स्त्रोतों की गुणवत्ता संकट में है। इसी कारण, उपलब्धता और आपूर्ति के बीच लुप्तांश ने तटवर्ती राज्यों से गैर–तटवर्ती राज्यों की ओर नदियों को मोड़े जाने के कारण उत्तेजन और अनुवर्ती अनबन की ओर प्रवृत्त किया है।

कई जल न्यायाधिकरण बनाए गए है और अनेक नदी–क्षेत्र विवादों में फैसले सुनाए गए हैं, परन्तु समाधान एक लम्बे समय से परिहार करते आ रहे हैं। कावेरी के मामले में, समस्या एक सदी से भी अधिक ज्यों–की–ज्यों खड़ी है। जल के प्रयोगों के संबंध में स्थानीय स्तरों पर अनेक न्यायालयी मामले लम्बित भी पड़े हैं, जिससे अनेक लोगों की आजीविका प्रभावित हो रही है।

13.2.3 जल–विवाद संबंधी राजनीति

जल–विवादों का समाधान राजनीतिक कारणों पर निर्भर होता है। भारत में अनेक जल–विवादों में से हम कावेरी जल, रावी–व्यास और सतुलज–यमुना नहर संपर्क से संबंध में राजनीति पर ध्यान केन्द्रित करेंगे। इन विवादों को हल करने में संबद्ध राज्यों के राजनेता, केन्द्र व न्यायालय लगे हुए हैं। फिर भी वे हल नहीं हो पाये हैं। समझौतों की विफलता ने प्राधिकरणों और न्यायाधिकरणों की नियुक्ति की ओर प्रवृत्त किया है। परन्तु न्यायाधिकरणों के फैसलों तक का भी विवादों में शामिल किसी–न–किसी पक्ष द्वारा सम्मान न किया जाना भी एक कटु सत्य है। ऐलन रिचड्‌र्स ऐलन एवं निर्विकार सिंह जैसे विद्वानों के अनुसार, इसके लिए सबसे प्रभावी कारण विभिन्न जल प्राधिकरणों का परामर्शी स्वभाव ही है। जल, राज्य–सूची में 17वीं प्रविष्टि देखें, के अनुसार प्रतीयमानतः एक राज्यीय विषय है। केन्द्र ने इस विषय पर कानून बनाने हेतु अपने प्राधिकार का अनुच्छेद 262 के अनुसार संघ सूची में प्रविष्टि–56 प्रयोग ही नहीं किया है। जबकि 'रावी–व्यास' व 'सतुलज–यमुना नहर सम्पर्क' अनसुलझे ही पड़े हैं, ऐसे मामले भी हैं जो सुलझाये जा चुके हैं। ऐलन रिचड्‌र्स एवं निर्विकार सिंह इसके समाधान का मुख्य श्रेय समझौते की बातचीतों को देते हैं। इस मामले में न्यायाधिकरण

बेसअर साबित हुए। परन्तु कावेरी जल–विवाद और रावी–व्यास जल–विवाद के संबंध में बातचीत और न्यायाधिकरण दोनों ही निष्प्रभावी सिद्ध हुए।

न्यायाधिकरणों निष्प्रभावी निर्णयों के अलावा, जल–बँटवारा विवाद न कानून बनाने हेतु संविधान की धारा–262 के अनुसार संघ सूची में प्रविष्टि–17 का प्रयोग करने में केन्द्र की अनिच्छा, राजनीतिक कारण ही उन्हें सुलझाने में मुख्य अड़चनें हैं। इस मुद्दे के समाधान की संभावना परस्पर विरोधी तरीकों में देखी जा सकती है। एक राज्य इसे लाभकारी समझता है तो दूसरा इसे अपने हितों के विरूद्ध मानता है। यहाँ तक कि एक ही राज्य के भीतर राजनीतिक दल ओर इस दृष्टांत को लेकर झगड़ा करते हैं, तो दूसरी ओर, प्रतिक्रया के आलोक में उनके राजनीतिक समर्थन को धोखा देने वाले भी वही होते हैं। हो सकता है कि ये दल सभी मुख्य मुद्दों पर असहमत हों, इस पर वे दृष्टिकोण सर्वमान्य ही रखते हैं। उन्हें आशंका होती है कि विरोधी दृष्टिकोण रखने से राजनीतिक समर्थन उसके प्रतिद्वंद्वियों के पास चला जाएगा। जैसा कि कुछ विद्वानों द्वारा संकेत किया गया है, इस मामले में राजनेतागण अपने राष्ट्रीय नेताओं व अदालत की सलाह तक को चुनौती दे सकते हैं। उनके अनुसार, उनका राजनीतिक समर्थन कहीं अधिक महत्त्वपूर्ण होता है। उदाहरण के लिए, राजनेताओं ने सतुलज–यमुना नहर–सम्पर्क पूरा किए जाने के विरूद्ध 2004 में पंजाब में एक अधिनियम पारित कराया। यह एक साल के भीतर पूरा हो जाना था। हरियाणा ने इस निर्णय को सर्वोच्च न्यायालय में चुनौती दी। परवर्ती ने राष्ट्रपति के हस्तक्षेप हेतु आज्ञप्ति जारी कर दी। मामला अभी तक अनसुलझाा ही पड़ा है।

अन्तरराज्यीय जल–विवाद के पड़ोसी राज्यों में राजनीति तथा जनता पर अप्रत्यक्ष प्रभाव होते हैं। इसके न जातीय निहितार्थ होते हैं। इस रूप में विचार करने पर, यदि कुछ भाषाई और न जातीय समूह उन राज्यों में रहते हैं जिनका जल के बँटवारे पर विवाद हो, तो न जातीय समूह हिंसक उपद्रवों में भी लग जाते हैं। 1992 में तमिलनाडु और कर्नाटक के बीच कावेरी जल–विवाद ने तमिलनाडु में तमिल–विरोधी दंगों की ओर प्रवृत्त किया। आगे चलकर इन दोनों राज्यों की राज्यीय राजनीति पर इसके अप्रत्यक्ष प्रभाव पड़े असर हुए। जबकि तमिल समूह ने अपनी नृजातीय व भाषाई पहचानों की रक्षा की माँग की, कर्नाटक के राजनेताओं ने तमिलनाडु को पानी दिए जाने का व्यापक रूप से विरोध किया। उन्होंने कहा कि तमिलनाडु को दिए जाने के लिए हमारे पास कोई फ़ालतू पानी नहीं है।

13.5 सीमा–विवाद

इस इकाई में, अब तक हमने देखा कि जल, एक प्रमुख प्राकृतिक संसाधन, कैसे और क्यों भारतीय संघ के कुछ राज्यों के बीच प्रमुख विवाद का कारण रहा। अब हम अपने देश के कुछ राज्यों के बीच विवाद के स्त्रोत के रूप में क्षेत्रीय सीमाओं के विषय में पढ़ेंगे।

अपने अध्यवसाय के दौरान, हो सकता है। हम इन लम्बे तनावों के विषय में सुनते–पढ़ते रहे हों – महाराष्ट्र व कर्नाटक राज्यों के बीच बेलगाँव जिले के न्यायसंगत स्वामित्व को लेकर, पंजाब व हरियाणा के बीच अबोहर–फ़ालिल्का तहसील को लेकर, अथवा दो या अधिक राज्यों को लेकर ऐसे ही अनेक अन्य मामलों के विषय में। वस्तुतः, गत कुछ वर्षों में कुछ नए राज्यों का निर्माण– उत्तराखण्ड, झारखण्ड व छत्तीसगढ़, उदाहरण के लिए – अंशतः क्षेत्रीय सीमाओं पर दीर्घकालिक समस्या से संबंधित एक स्वीकरण ही था। यह मुद्दा जटिल और विवादास्पद था, साथ ही इसकी जड़ें भारत के औपनिवेशिक अतीत में जमीं थीं।

13.3.1 एक औपनिवेशिक विरासत

भारत, जैसा कि हम आज जानते हैं, प्राचीन काल से ही एक अजीबोग़रीब रास्ते से गुज़रा है। इसकी घटक भौगोलिक इकाइयों की सीमाएँ लगातार बदलती रही हैं। फिर भी, अंग्रेजों के आने तक यह वस्तुतः कोई राष्ट्र–राज्य नहीं था, जैसा कि इस शब्द का अर्थ लिया जाता है, और क्षेत्रीय सीमाओं में बारंबार परिवर्तनों की संख्या अधिक नहीं होती थी। अंग्रेज, अपनी औपनिवेशिक कार्यसूची के अनुकरण में, भौगोलिक सीमाओं को परिभाषित एवं पुनर्परिभाषित करने लगे और इसने समस्याएँ पैदा कीं, जिनके दीर्घकालिक प्रभाव आज भी महसूस किए जा सकते हैं। ये प्रभाव अन्तर्राष्ट्रीय रूप से भी महसूस किए जा सकते है। उदाहरण के लिए, भारत के पाकिस्तान, चीन और बंगलादेश के साथ सीमा–विवाद।

यह अनिवार्यतः इसलिए था कि हमारे औपनिवेशिक आका सुगम शासन के विचार से मूलतः प्रेरित थे और इसी उद्देश्य से उन्होंने भाषाई – संस्कृतिक आदि एकीकरण की बजाय प्रशासनिक पहलुओं पर ध्यान केन्द्रित किया। तथागत परिणाम लोगों की व्यक्तिगत पहचानों एवं उनके मूल निवासी सीमाक्षेत्रों के बीच एक गलत मिलन था। यह स्वतंत्र भारत की केन्द्र सरकार पर छोड़ दिया गया कि ब्रिटिश उपनिवेशवादियों के संप्रदायवाद और अदूरदर्शिता द्वारा पहुँचे नुकसान की भरपाई करे।

13.3.2 उपनिवेशोपरांत काल में क्षेत्रीय मुद्दा

केन्द्रीय विधायिका – संसद – को संविधान द्वारा यह अधिकार प्रदान किया गया 'ताकि भविष्य में नए राज्य बनाए अथवा पुराने राज्यों अथवा ऐसे राज्यों के हिस्सों का विलय करे अथवा उनकी सीमाओं में फेर–बदल करें। यह दिलचस्प बात है कि संविधान सभा के कार्यकाल के दौरान तक में स्वतंत्र भारत के संविधान को प्रारूपित करने के लिए विशेष रूप से गठित एवं संयोजित निकाय द्वारा राज्यों के भाषाई पुनर्गठन हेतु माँगे उठायी गई थी, धारणा यह थी कि भाषाई जन–समुदाय एक सर्वमान्य संस्कृति का सूचक होता है; साथ ही, इस प्रकार, एक सर्वमान्य/एकरूप भाषा के आधार पर बनाये गए राज्य अपेक्षाकृत अधिक समांगी होंगे और तदनुसार, प्रभावशाली शासन हेतु प्रेरक भी। तथापि, उस समय, संविधान की संस्थापक निर्माताओं ने इस आधार पर एक भाषाई पुनर्विन्यास हेतु माँग को टाल दिया था, यह कहकर कि कहीं अभी नया–नया बना यह देश अव्यवस्था और उपद्रव में फँस जाये। परन्तु स्वतंत्रता के पश्चात् शीघ्र ही जवाहरलाल नेहरू, भारत के प्रथम प्रधानमंत्री, की सरकार ने अपनी नीति बदल दी संभवतः उसे लगा कि इसके सिवा और कोई रास्ता नहीं है।

इस प्रकार, उसे एक आंध्र राज्य हेतु आन्दोलन का सामना करना पड़ा। भाषाई प्रांत आयोग के अनुसार, आंध्र के तटीय क्षेत्रों में सबसे पहले उठी यह माँग ''एक सनक'' बन चुकी थी और ''किसी भी तर्क का विषय बनना बंद हो गई थी'' प्रथम आम चुनाव (1951–52) के तुरंत बाद, आंध्र प्रदेश प्रांतीय कांग्रेस कमेटी (ए.पी.सी.सी.) ने पृथक तेलुगु–भाषी राज्य गठित किए जाने हेतु एक प्रस्ताव पारित किया। तत्कालीन मद्रास राज्य भी सामने आया और वहाँ की राज्य कांग्रेस समिति ने प्रस्तावित नए राज्य के गठन का समर्थन किया। प्रारंभतः नेहरू के नियत्रंण वाली केन्द्र सरकार ने इस माँग को विफल करने का प्रयास किया, परन्तु पोतली श्रीरामुलु, एक श्रद्धास्पद आंध्र कांग्रेस नेता जिन्होंने आमरण अनशन किया, की मृत्यु से मामले ने तूल पकड़ा। अंततः; 1953 में एक नया और पृथक् आन्ध्र प्रदेश राज्य तत्कालीन द्वि–भाषी मद्रास राज्य के तेलुगु–भाषी क्षेत्रों को काटकर बनया गया।

आंध्र के निर्माण ने राज्यों के और आगे भाषाई पुनर्गठन हेतु माँग को बढ़ावा दिया और सरकार ने पुरानी राज्य–सीमाओं में फेर–बदल करने व नई राज्य–सीमाएँ बनाने संबंधी समग्र प्रश्न पर विचार करने हेतु 1953 में एक तीन–सदस्यीय राज्य पुनर्गठन आयोग बना दिया। इस आयोग ने 1955 में अपनी रिपोर्ट दी और उसकी मुख्य सिफारिश थी – देश के दक्षिण में नए राज्योंका निर्माण 1956 में राज्य पुनर्गठन अधिनियम पास हो गया। तथापि, इस अधिनियम के पास होने के उपरांत ऐसा कोई नया राज्य यथार्थतः नहीं बना। जो कार्यतः हुआ वह था – भाषा के आधार पर अनेक पूर्व–राजसी राज्यों का एकीकरण। उदाहरण के लिए, आन्ध्र प्रदेश के नए राज्यों का बनना तत्कालीन भाग 'बी' हैदराबाद राज्य तथा पुराने आन्ध्र राज्य का एक साथ उभरकर आना था। इसी प्रकार, नया कर्नाटक राज्य पुराने भाग 'बी' मैसूर राज्य और पूर्व–मद्रास व बम्बई राज्यों से सीमाक्षेत्रों का संलयन था।

परन्तु साठ के दशकोपरांत नए राज्यों के गठन की प्रक्रिया चलती रही। तदनुसार, 1960 में ही बम्बई राज्य को विभाजित कर नए राज्य – महाराष्ट्र और गुजरात – बनाए गए। इसी प्रकार, 1966 में नया पंजाब राज्य बनाया गया।

हम हाल के दिनों में नए राज्यों – उत्तरांचल, छत्तीसगढ़ व झारखण्ड – के गठन का पहले ही उल्लेख कर चुके हैं। यहाँ तक उल्लेख आवश्यक है कि इस अवधि में देश के उत्तरी–पूर्वी भाग का भी एक महत्त्वपूर्ण पुनर्गठन हुआ। तदनुसार, 1963 में नागालैण्ड राज्य और 1972 में मेघालय राज्य बनाये गए।

नए राज्यों के गठन हेतु माँग स्वातंत्र्योत्तर भारत में थमी नहीं है। एक पृथक विदर्भ राज्य हेतु माँग महाराष्ट्र में जन–साधारण के एक प्रभावशाली वर्ग की लम्बे समय से चल रही माँग है, परन्तु अभी तक मानी नहीं गई है : इसी प्रकार, यद्यपि एक पृथक पर्वतीय उत्तरांचल राज्य हेतु माँग फलित हुई, एक पृथक् राज्य पश्चिमी उत्तर प्रदेश (हरित प्रदेश) हेतु एक सदृश माँग को अभी तक वैधता प्रदान नहीं हुई है। जैसा कि इस इकाई में पहले भी उल्लेख किया गया, सीमाक्षेत्रीय पुनर्विन्यास एक जटिल विषय रहा है। और जब कभी भी किसी सीमाक्षेत्र को मूर्त रूप प्रदान किया जाता है, वह हर नागरिक की आशाओं का प्रत्युत्तर नहीं होता। एक प्रमुख उदाहरण बतौर, यद्यपि नवगठित आन्ध्र प्रदेश राज्य दक्षिण भारत के विभिन्न भागों में बिखरे तेलुगु–भाषी लोगों को एक साथ ले आया, उक्त नव राज्य ने अपने प्रारम्भ से ही एक अन्य नए राज्य 'तेलंगाना' हेतु लम्बे समय से चल रहे आन्दोलन की समस्या का सामना किया है। इसी प्रकारख उत्तर–पूर्वी राज्यों के निर्माण ने सीमाक्षेत्रीय विवादों को हल नहीं किया है। तीन विभिन्न राज्यों को एक ही ''नागालिम'' में लाने हेतु नागाओं की माँग ऐसे ही उदाहरणों में से एक है। चलिए, महाराष्ट्र व कर्नाटक के बीच विवाद – बेलगाँव – जुड़े एक सुपरिचित मामले पर दृष्टि डालते हैं, जो क्षेत्रीय सीमाओं के फेर–बदल/निर्माण के कठिन और विवादित प्रश्न पर प्रकाश डाल सकती है।

13.3.3 बेलगाँव विवाद : एक उदाहरण

बेलगाँव ज़िला वर्तमान में कर्नाटक राज्य (उत्तर–पूर्व) में स्थित है और उसकी सीमाएँ महाराष्ट्र के साथ–साथ गोवा भी लगती हैं। अनुमानतः स्थानीय जन–साधारण का 20 प्रतिशत महाराष्ट्रीय मूल का है। अतुल कोहली के दृष्टिकोण

में ''मराठी बाहुल्य वाले क्षे, खासकर बेलगाँव कस्बा, कर्नाटक से महाराष्ट्र को हस्तांतरित किये जाएँ, अथवा न किए जाएँ, इस जिले में महत्त्वपूर्ण मुद्दों में यह मुद्दा लगातार कायम है''।

बेलगाँव ज़िले पर मराठी–कन्नड़ी विवाद – ऐसे ही कई अन्य विवादों के सदृश ही – के जड़ पकड़ने का श्रेय सीधे–सीधे स्वातंत्र्योत्तर भारत में राज्यों के भाषाई पुनर्गठन को दिया जा सकता है। बेलगाँव में मराठी और कन्नड़ बोलने वालों की मिली–जुली आबादी है। महाराष्ट्र राज्य के गठन के बाद, जहाँ कन्नड़ बोली जाती थी वे क्षेत्र कर्नाटक को हस्तांतरित कर दिए गए, बल्कि कुछ मराठी–भाषी क्षेत्र भी कर्नाटक को दे दिए गए। बेलगाँव एक ऐसा ही जिला है जहाँ मराठी और कन्नड़ बोलने वालों की आबादी है। इन विस्थापित महाराष्ट्रीयों के आन्दोलन की अगुवाई चार से भी अधिक दशकों से महाराष्ट्र एकीकरण समिति (एम.ई.एस.) द्वारा की जा रही है। इसकी माँग है कि बेलगाँव के चुनिन्दा मराठी प्रभुत्व वाले क्षेत्र (खासकर बेलगाँव कस्बा) महाराष्ट्र को हस्तांतरित किए जायें। एम.ई.एस. के मामले की बुनियाद दो आधारवाक्यों पर खड़ी है।

1) भाषा और नृजातिय – राज्यों के पुनर्गठन हेतु मापदण्ड
2) शिक्षा और रोज़गार (खासकर सरकारी नौकरी) में मराठियों के विरूद्ध तथाकथित अथवा यर्थाथतः भेदभाव।

कन्नड़ियों, खासकर जो बेलगाँव के निवासी हैं, दावा ऐतिहासिक आधार पर क्षेत्र हेतु है। मुख्य रूप से, यह कि बेलगाँव कस्बा हमेशा से ही एक ऐसे ज़िले का अभिन्न हिस्सा रहा है जो मुख्यतः कन्नड़–भाषी था।

इस दीर्घकालिक विवाद में एक तीसरा, जो कम महत्त्व का नहीं है, कारक रहा है – तत्कालीन केन्द्र सरकार द्वारा लागू राजनीतिक समझौता। यथा, पुराने हैदराबाद राज्य के कुछ कन्नड़–भाषी जिले कर्नाटक को बेलगाँव दिए जाने के बदले नव आंध्र प्रदेश राज्य को दे दिए गए।

तदनुसार, किसी प्रेक्षक ने कटुक्ति की – ''भाषाई आधार पर एम.ई.एस. का दावा, ऐतिहासिक पूर्वत पर कन्नड़ियों का दावा, और राजनीतिक विचारों पर आधारित राष्ट्रीय निर्णय सबने मिलकर आधारिक साँचा तैयार किया जिसके भीतर ही यह विवाद क्रम विकसित हुआ है।

31.4 सार–संक्षेप

सारांशतः जल और सीमाक्षेत्र का बँटवारा दो या अधिक राज्यों के बीच विवादग्रस्त मुद्दों में शामिल है। राज्य–पुनर्गठन ने राज्यों से संबंधित अनेक मुद्दे अनसुलझे ही छोड़ दिए। इन मुद्दों के राजनीतिकरण ने इस समस्या को और अधिक जटिल बनाया है। यदि एक राज्य समाधान का इच्छुक होता है तो दूसरा असहमत हो जाता है। प्रतिस्पर्धात्मक राजनीति इस विवाद में मुद्दों से मुताल्लिक एक निर्णय–सिंद्धात बन गयी है। जहाँ तक कि जल–विवादों का संबंध हैं, इन विवादों को हल करने के दो उपाय हैं– समझौता–बातचीत और मध्यस्थता। जब बातचीत के दौर असफल हो जाते हैं जो जल–निकाय अथवा न्यायाधिकरण बनाये जाते हैं। तथापि, कुछ मामलों में विवाद निपटाये भी गए है, जो बातचीतों से ही हल हुए, न कि अदालतों से। सीमाक्षेत्रीय विवाद के संबंध में, महाराष्ट्र और कर्नाटक के बीच विवाद के विषय में हमने जो इस इकाई में पढ़ा, देश में लगभग सभी अन्तरराज्यीय सीमाक्षेत्र–विवादों के विषय में भी सत्य है। इस मुद्दे को हल किया जा सकता है बशर्ते सभी संबद्ध राजनीतिक दल घटिया सियास्तबाजी और सस्ती शोहरत हासिल करने से बाज आयें। ताजा हालातों में, वैसे, यह एक अनुचित माँग ही प्रतीत होती हैं।

13.5 अभ्यास

1) भारत में संघवाद के संबंध में जल व सीमाक्षेत्रीय विवादों का प्रसंग प्रस्तुत करें।
2) अन्तरराज्यीय जल–विवादों के बने रहने की स्थिति हेतु कारकों का विश्लेषण करें।
3) अन्तरराज्यीय सीमाक्षेत्रीय विवादों पर एक टिप्पणी लिखें।

अध्याय 14
साम्प्रदायिक राजनीति के प्रतिमान

अध्याय की रूपरेखा

14.1 प्रस्तावना
14.2 साम्प्रदायिक राजनीति क्या है?
14.3 भारत में साम्प्रदायिक राजनीति का उदय कैसे और कब हुआ?
14.4 साम्प्रदायिक राजनीति कैसे पनपती है?
14.5 साम्प्रदायिक राजनीति और इतिहास की व्याख्या
14.6 साम्प्रदायिक राजनीति और वर्तमान साम्प्रदायिक हिंसा
14.7 वर्तमान साम्प्रदायिक राजनीति के प्रतिमान
14.8 सार–संक्षेप
14.9 अभ्यास

14.1 प्रस्तावना

स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद भारत में राजनीति–आभिजात्यों के बीच विधायी निकायों में घुसने के लिए छीना–झपटीदिखाई दी। उन्हें अपना राजनैतिक आधार पाने के लिए लोगों को संघटित करने की आवश्यकता थी।राजनीतिक संघटन हेतु इस आवश्यकता ने उन्हें समाज में मुद्दे तलाशने की ओर प्रेरित किया। ये मुद्दे दो प्रकारके थे :- सामाजिक–आर्थिक एवं भावात्मक।

पहले में शामिल थीं :- रोज़गार, शिक्षा एवं आधारभूत ढाँचेसंबंधी बुनियादी जरूरतें।

दूसरे में शामिल थे :- भारत को एक राष्ट्र–राज्य बनाने का मुद्दा, और साथ ही, उनपहचान–चिह्नों से संबंधित मुद्दे भी, जिनके माध्यम से लोग जन्म से पहचानते हैं :-

धर्म, भाषा, जनजाति अथवाजाति। भारत में जाति, धर्म, भाषा, अथवा जनजाति के आधार पर संघटन विभिन्न तरीकों से किया जाता रहाहै। भारत में धर्म साम्प्रदायिक संघटन की सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण ताकतों में एक रहा है।

14.2 साम्प्रदायिक राजनीति क्या है?

साम्प्रदायिक राजनीति उस अभिव्यक्ति के लिए एक दक्षिण–एशियाई शब्द है जिसका वर्णन नृजातीय अथवामतांध राजनीति के रूप में किया जाता है। इस प्रकार की राजनीति इस विश्वास पर आधारित है कि धर्म आमपहचान का एक आधार तैयार करता है; दूसरे, एक विशिष्ट धार्मिक समुदाय के सदस्यों के आर्थिक, राजनीतिव सामाजिक हित एकसमान ही होते हैं। दूसरे शब्दों में, साम्प्रदायिक राजनीति इस विश्वास पर काम करती हैकि हर धार्मिक समुदाय अपने धार्मिक–सांस्कृतिक व्यवहारों, जीवन–शैलियों तथा मूल्य सिद्धांतों में दूसरे से भिन्नहै, जो कि इन समुदायों के बीच सामाजिक–आर्थिक हितों में मतभेदों का आधार बन जाते हैं। साझा हितों केअभाव में सिर्फ़ अविश्वास और संशय ही है जो विभिन्न समुदायों के बीच संबंध को परिभाषित करने को उद्यतरहता है। साम्प्रदायिक राजनीति धार्मिक समुदायों के बीच आपसी अविश्वास को जन्म देती है। अविश्वास का यहभाव अक्सर हिंसा की ओर ले जाता है, जो कि साम्प्रदायिक राजनीति हेतु एक महत्त्वपूर्ण स्थान रखती है, क्योंकिपहले उसी ने आपसी अविश्वास और घृणा को गहरा किया जिसने हिंसा को भड़काया। साम्प्रदायिक हिंसा इसप्रकार समाज के साम्प्रदायिक ध्रुवीकरण की ओर प्रवृत्त करती है और इसी कारण से साम्प्रदायिक राजनीति केप्रसार में मदद भी करती है।

इस अर्थ में साम्प्रदायिक राजनीति बुनियादी रूप से राजनीति का ही एक रूप है, जो राजनीतिक सत्ता के लिएकिसी धार्मिक समुदाय–विशेष को संघटित करती है। यह राजनीतिक लाभ के लिए धार्मिक भिन्नताओं का शोषणहै। साम्प्रदायिक राजनीति किसी भी अन्य समुदाय के लिए अनिवार्यतः घृणा पैदा किए बग़ैर किसी एक धार्मिकसमूह के समाजवादी हितों को महत्त्व दिए जाने का भी रूप ले सकती है। साम्प्रदायिक राजनीति के संबंध में जोमहत्त्वपूर्ण बात है वो यह है कि वह किसी भी धार्मिक अथवा आध्यात्मिक मुद्दे से नहीं, बल्कि उन धर्मनिरपेक्षहितों से अभिप्रेरित होती है जो नौकरियों के लिए सौदेबाजी से लेकर शिक्षा–संबंधी रियायतों, राजनीतिक प्रश्रय,पृथक् प्रतिनिधित्व अथवा शासी संस्थाओं

पर नियन्त्रण तक में देखे जा सकते हैं। साम्प्रदायिक राजनीति हेतुकसौटी है :- एक धार्मिक समुदाय के भीतर एकता का अहसास और साथ ही समुदायों के बीच सांस्कृतिकभिन्नता का भाव भी। साम्प्रदायिक राजनीति चाहे आर्थिक रियायतों के लिए हो अथवा राजनीतिक सत्ता के लिए,आंतरिक सम्बद्धता के इस भाव, और समुदायों के बीच भिन्नता के अहसास को बढ़ाती है। दीर्घावधि में यह एकस्वाभाविक रूप से दृढ़ीकृत अखण्ड समुदाय की धारणा को मज़बूत करती है और स्वभावतः पुनर्जागरणवादी होतीहै। यह अपने सदस्यों पर पारम्परिक रीति–रिवाजों व प्रथाओं को पकड़ को मज़बूत करती है। बहुत शक्तिशालीहो जाने पर वे स्थापित यथास्थिति से भिन्न सोचने व पेश आने की स्वतंत्रता को कम कर देते हैं। इसी कारण,समुदायिक पहचान वाले इस प्रकार के बनावटी सुदृढ़ीकरण व्यक्ति की विचार व अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता सेमुकरते हुए गहन लोकतंत्र–विरोधी होते हैं। इस प्रकार, सारी साम्प्रदायिक राजनीति अन्तर्भूत रूप से उदारवाद–विरोधी और लोकतंत्र–विरोधी होती है।

वे व्यक्ति जो समुदाय के स्थापित मानदण्डों व परम्पराओं से अलग सोचते अथवा बोलते हैं, उन पर या तो चुपरहने व अनुगत होने के लिए दबाव डाला जाता है अथवा उन्हें समुदाय से विश्वासघाती बताकर निष्कासित करदिया जाता है। यह एक अन्तर्जात सत्तावादी प्रवृत्ति है जो पूरे विश्व में सभी प्रकार की सामुदायिक व नृजातीय:-साम्प्रदायिक राजनीति द्वारा अपनायी जाती है। गैलीलियो को चर्च से बहिष्कृत कर दिया गया था क्योंकि उसनेअपनी वैज्ञानिक खोज का विस्तारपूर्वक सही–सही वर्णन किया था कि पृथ्वी एक स्थिर सूर्य के चारों ओर घूमतीहै जबकि यह बात प्रचलित सिद्धांत के सिरुद्ध थी। इसी प्रकार, राजा राममोहन राय को तत्कालीन समाज काकोपभाजन बनना पड़ा था जब उन्होंने विधवाओं को ज़िंदा जलाये जाने वाली हिन्दुओं के बीच प्रचलित प्रथा कीनिन्दा की और उसका विरोध किया, हाल के बीते दिनों ही हमने असगर अली इन्जीनियर जैसे समाज–सुधारकोंव तस्लीमा नसरीन जैसे उपन्यासकारों को स्थापित धार्मिक प्रथा के विरुद्ध विचार रखने के लिए जान कीधमकियों का सामना करते देखा है। प्राचीन भारत की जानी–मानी इतिहासकार रोमिला थापर तथा मैगसैसैपुरस्कार विजेता संदीप पाण्डेय हिन्दू सम्प्रदायवाद की राजनीति व विचारधारा का विरोध करने के लिए द्वेषान्विततीखी आलोचना का शिकार रहे हैं। हर देश में और इतिहास के हर क्षण में साम्प्रदायिक :- नृजातीय राजनीतिकी बलि वही चढ़े हैं जिन्होंने अलग सोचने का दुस्साहस किया।

साम्प्रदायिक राजनीति, यथा साम्प्रदायिक हिंसा (अथवा साम्प्रदायिक दंगों) से भिन्न, राजनीति का एक विशिष्टअभिगम है जिसका एक दीर्घ स्तर पर प्रयोग किया जाता है। साम्प्रदायिक हिंसा में दो धार्मिक समुदायों केबीच हिंसा की घटनाएँ शामिल होती हैं। यह स्वभावतः यत्र–तत्र घटित हो सकती हैं और मुख्य रूप सेकानून व व्यवस्था का मुद्दा बनती हैं जिस पर मौक़ा–ए–वारदात पर ही काबू पाने की जरूरत होती है ताकिअमन और शान्ति बहाल हो। यद्यपि साम्प्रदायिक राजनीति को तत्काल पुलिस हस्तक्षेप की आवश्यकता नहींहोती, आगे चलकर इसकी कहीं अधिक नुकसानदेह मंशाएँ होती हैं। यह धार्मिक समुदायों के बीच संशय कीभावना को जन्म देती है और हिंसा की प्रायिकता को भी बढ़ा देती है जो कि बदले में साम्प्रदायिक राजनीति कोकायम रखती है।

14.3 भारत में साम्प्रदायिक राजनीति का उदय कैसे और कब हुआ?

साम्प्रदायिक राजनीति ब्रिटिश भारत में औपनिवेशिक शासन के तहत आर्थिक विशेषाधिकार व सामाजिक मर्यादावाले पदों हेतु एक सौदाकारी माध्यम के रूप में उभरी। यथोक्त, शुरू–शुरू में साम्प्रदायिक राजनीतिसरकारी संरक्षण, नौकरियों, शिक्षा–संबंधी रियायतों व राजनीति पदों हेतु प्रतिस्पर्धा के रूप होती थी, औरअनिवार्यतः ऐसी कोई चीज नहीं थी जो साम्प्रदायिक विद्वेष पैदा करे। सैयद अहमद खान व अलीगढ़ घराने कीराजनीति को इस वर्ग में रखा जा सकता है। यह राजनीति यथार्थतः विचारधारा पर आधारित होने की बजायएक हितोन्मुखी राजनीति अधिक थी। इसका मुख्य उद्देश्य था मुस्लिम समुदाय की ऊर्ध्वमुखी सामाजिक–आर्थिकगतिशीलता। एक वैचारिक साँचे में ढलने से पहले लगभग दो दशकों तक यह ऐसी ही रही। भारतीय राष्ट्रीयकांग्रेस के साथ मुस्लिम व हिन्दू दोनों की ही साम्प्रदायिक राजनीति के संबंध तनावमय रहे। नितान्त आरम्भसे ही इस राजनीति ने कांग्रेस के नेतृत्व वाले राष्ट्रीय आन्दोलन से स्वयं को जानबूझकर अलग रखने का प्रयासकिया, यद्यपि प्रायः वह परिस्थितियों से अभिभूत रही और उसे धर्मनिरपेक्ष–उदारवादी उपनिवेश–विरोधीआन्दोलन में शामिल होना पड़ा। जबकि कांग्रेस का मुख्य लक्ष्य था ब्रिटिश शासन से संपूर्ण आज़ादी, साम्प्रदायिकराजनीति अपने सदस्यों के लिए नौकरियों व सत्ता के संबंध में औपनिवेशिक व्यवस्था के भीतर रहकर तत्काललाभ उठाने में ज़्यादा लगी थी।

यह भी हुआ कि बीसवीं सदी के आरंभ में उपनिवेशवाद–विरोधी लामबन्दी प्रायः धार्मिक मुद्दों पर हुई और यहलामबंदी लोगों को राष्ट्रवादी संघर्ष में धार्मिक समुदायों के रूप में लायी। उदाहरण के लिए, 1919 व 1926के बीच भ्रष्ट ब्रिटिश–समर्पित गुरुद्वारा प्रबंधनों के खिलाफ़ अकाली आन्दोलन सिख समुदाय को राष्ट्रवादी संघर्षमें ले आया। निर्दय महन्तों के खिलाफ़ इस साहसपूर्ण और दयाहीन क्रांति ने अन्ततः स्वयं ब्रिटिश शासन केखिलाफ़ एक सशक्त आन्दोलन की

ओर प्रवृत्त किया। तुर्की में खलीफ़ाई फिर से कायम करने के लिए :- एकबार फिर एक धार्मिक मुद्दा :-1920–21 में अंग्रेजों के विरुद्ध खिलाफ़त आन्दोलन ने इस बार मुसलमानों को स्वंतत्रता आन्दोलन में खींचा। इन आन्दोलनों ने औपनिवेशिक शासन के खिलाफ़ एक राष्ट्रवादी संघर्ष को जन्म देने में योगदान दिया, परन्तु उसने वर्ग, धर्म व जीवन–शैली की भिन्नताओं का सम्मान न करते हुए एकसमजात धार्मिक समुदाय संबंधी एक झूठे अर्थ को भी दृढ़ता प्रदान की। साम्राज्यवाद–विरोधी उत्साह लगाने केलिए धार्मिक मूर्तियों व प्रतीकों का भी प्रयोग किया गया। 19वीं सदी–उत्तरार्ध व 20वीं सदी–पूर्वार्ध में गणपति–उत्सव, शिवाजी उत्सव, रक्षाबंधन का लोक–प्रचार उपनिवेशवाद–विरोधी संघर्ष में हिन्दुओं को शामिलकरने के लिए किया गया। 1905 में बंगाल में काली–पूजा बंग–भंग पश्चात् स्वदेशी व बहिष्कार आन्दोलनों केएक हिस्से में लोक–प्रचारित की गयी। उपनिवेशवाद–विरोधी लामबंदी के उद्देश्य को पूरा करते हुए इन हिन्दूत्यौहारों व प्रतीकों का प्रयोग भी इसलिए किया गया कि विभिन्न समुदाय एक–दूसरे से मन फेर लें।

अंग्रेजों ने राष्ट्रवादी आन्दोलन को कमज़ोर करने के लिए साम्प्रदायिक व अलगाववादी राजनीति को बढ़ावा दियाऔर इस बात की गहरी छाप छोड़ने का प्रयास किया कि कांग्रेस एक हिन्दू संगठन है। यह उनकी 'फूट डालो,शासन करो' नीति की तर्ज पर ही था। स्वदेशोत्पन्न अभिजात–वर्ग की भौतिक विशेषाधिकारों हेतु उत्कट इच्छाके साथ–साथ अलगाववादी राजनीति को ब्रिटिश सरकार के समर्थन ने 1930 के दशक में इस विचार को जन्मदिया कि हिन्दू व मुस्लिम दो पृथक् व विरुद्ध राष्ट्रों का निर्माण करते हैं। स्वतंत्र भारत की प्रकृति व इस भावीसत्ता में अपनी राजनीतिक पदस्थिति के विषय में साम्प्रदायिक आभिजात्यों के बीच मतभेदों ने इस दो–राष्ट्रपूर्वपक्ष को मज़बूती प्रदान की। इसके सर्वप्रथम प्रस्तावकर्त्ताओं में एक थे :- वी.डी. सावरकर, एक उग्रपंथीराष्ट्रवादी जो आगे चलकर अखिल भारतीय हिन्दू महासभा के अध्यक्ष बने। यह सैद्धान्तिक सम्प्रदाय आधारितराष्ट्रवाद ही 'राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ' व 'अखिल भारतीय मुस्लिम लीग' की बुनियाद बना। ये संगठनऔपनिवेशिक शासन को चुनौती देने कभी सामने नहीं आये, दूसरी ओर उन्होंने स्वयं को कांग्रेस की उसभारतीय राष्ट्रवाद संबंधी विचारधारा के खिलाफ़ ही खड़ा किया जो धार्मिक संबंधन से परे थी। अंग्रेजों ने इनविभाजनकारी व पृथक्तावादी विचारों को बढ़ावा दिया क्योंकि वे सामंती तत्त्वों के साथ मिलकर औपनिवेशिकशासन के हित में और भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस के उपनिवेशवाद–विरोधी राष्ट्रवाद के खिलाफ़ काम करते थे।

कांग्रेस हिन्दू–मुस्लिम एकता और अंग्रेजों के खिलाफ़ एक सशक्त मोर्चा बनाने के प्रति वचनबद्ध थी। उसने एकआज़ाद भारत के लिए एक प्रकार का सामाजिक–आर्थिक कार्यक्रम तैयार करने का प्रयास भी किया। कांग्रेस केभीतर एक सशक्त हिन्दू दक्षिण पंथ था, परन्तु वह हाशिये पर ही रहा और कांग्रेस के सर्व–छत्रक, अखिलभारतीय स्वभाव पर हावी होने में सक्षम नहीं रहा। कांग्रेस की 'हिन्दू' प्रकृति का भय ब्रिटिश सरकार केसाथ–साथ मुस्लिम लीग द्वारा भी बढ़ा–चढ़ाकर बखान किया गया ताकि साम्प्रदायिक अलगाववाद मज़बूत हो।यद्यपि कांग्रेस गैर–साम्प्रदायिक राजनीति से जुड़ी थी, पार्टी के भीतर इस विषय पर कोई वैचारिक स्पष्टता नहींथी कि एक धर्म–निरपेक्ष राज्य–नीति क्या होनी चाहिए। इसके नेतागण एक क्षेत्रीय व सांस्कृतिक रूप से एकीकृतभारत के लिए काम करते थे, उसके नागरिकों के लिए धार्मिक आज़ादी का वचन देते थे और इस बात से भीसहमत थे कि कोई राज्यीय धर्म नहीं होना चाहिए।

औपनिवेशिक शासन से मुक्ति और तदोपरांत आर्थिक विकाससम्प्रदायवाद के विषहर या प्रतिषेधक माने जाते थे। एक अवचेतन धारणा भी व्याप्त प्रतीत होती थी कि 'शाश्वत'हिन्दू 'धर्मनिरपेक्षवाद' और 'सहिष्णुता' संबंधी विचार जिन्होंने बीते काल में 'अनेकता में एकता' को जन्म दियाथा, एक बार फिर से विभिन्न समुदायों के बीच साम जस्य और बंधुत्व पैदा करेंगे। परन्तु, कांग्रेस भारत कीविशिष्टताओं में छुपा धर्मनिरपेक्षवाद का कोई स्पष्ट सिद्धांत प्रतिपादित करने में विफल रही। क्या राज्य धार्मिकमामलों से पूरी तरह अलग काम कर रहा था? राजनीतिक उद्देश्यों के लिए धार्मिक संघटन पर राज्य का क्यादृष्टिकोण होना चाहिए? नागरिक संबंधों को नियंत्रित करने के लिए क्या कोई एकसमान कानून होना चाहिएअथवा विभिन्न समुदायों को अपने ही कानूनों का पालन करना चाहिए? कानून को समुदाय के मानदण्डों केसाथ वैयक्तिक स्वतंत्रताओं का किस प्रकार साम जस्य स्थापित करना चाहिए? न सिर्फ़ उसके राजनीतिक कार्यक्रमों में बल्कि उस संविधान में भी जो 1950 में अपनाया गया, उपर्युक्त व अन्य प्रश्नों पर विचारणीयअनेकार्थकता कायम रही।

भारत में अंग्रेजी हुकूमत के अन्तिम वर्षों में सर्वाधिक भयंकर हिन्दू–मुस्लिम दंगे देखे गए। 1946 में मुस्लिम लीगद्वारा नाम दिए 'सीधी कार्रवाई दिवस' ने कलकत्ता में बड़े पैमाने पर हिंसा भड़कायी जो महीनों तक जारी रही।नगर दर नगर मौत का तांडव देखा गया। बंगाल व बिहार में हुई हिंसा पंजाब व उत्तर–पश्चिमी सीमांत पंजाबतक फैली। यह एक ऐसा वक्त था जब ग़ैर–अलगाववादी मुस्लिम नेतृत्व पूरी तरह से हावी था और जन–समर्थनमुस्लिम लीग के पक्ष में जाने लगा था, यथा एक ऐसा तथ्य जो साम्प्रदायिक राजनीति हेतु हिंसा के महत्त्व कोदर्शाने लगा। उप–महाद्वीप के विभाजन ने हिन्दू–मुस्लिम संबंधों को और अधिक खराब किया। साम्प्रदायिकहत्याएँ जिनकी संख्या दस लाख तक पहुँच गयी थी :- और साथ ही हुए विस्थापन ने राष्ट्र की आत्मा को गहरेआहत किया और स्वतंत्र भारत में साम्प्रदायिक राजनीति का आधार तैयार कर दिया।

14.4 साम्प्रदायिक राजनीति कैसे पनपती है?

साम्प्रदायिक राजनीति के लिए यह आसान होता है कि एक असमान और पिछड़े आर्थिक विकास की अवस्था मेंफले–फूले। असमान आर्थिक विकास और वितरण, क्षेत्र के साथ–साथ सामाजिक समूहों के लिहाज से भी,साम्प्रदायिक राजनीति को ही लाभ पहुँचाता है। एक ऐसी अर्थव्यवस्था जो धीमे और अटकलपच्चू विकास,बेरोज़गारी के बढ़ते स्तरों, ग़रीबी के अनियंत्रणीय स्तरों, निम्न साक्षरता स्तरों, गिरते स्वास्थ्य मानदण्डों, आदिसे पहचानी जाती है, सम्प्रदाय, धर्म जाति व पंथ पर आधारित लामबंदियों की ओर प्रवृत्त रहती है। एक आर्थिककष्टों :- ग़रीबी, भूख और बेरोज़गारी :- को झेल रहे समाज में सम्प्रदाय–आधारित राजनीति को समर्थन मिलनेकी अधिक सम्भावना होती है।धन–सम्पत्ति संबंधी भिन्नताओं की व्याख्या करने के लिए दो कारण दिए जा सकते हैं : प्रथम, एक के बाद एकसरकारें संसाधनों के न्यायोचित वितरण करवाने तथा शिक्षा व स्वास्थ्य में अल्पतम वृद्धि भी मुहैया कराने मेंविफल रही हैं। दूसरे, धार्मिक–सांस्कृतिक कारण ही धन–सम्पत्ति में भिन्नताओं के लिए जिम्मेदार हैं।साम्प्रदायिक राजनीति दूसरी व्याख्या को अपनाती है और अपने को आगे बढ़ाती है। वह एक समुदाय के दूसरेसमुदाय द्वारा शोषण, अथवा उसूल लफ्फ़ाज़ी की जगहों को भी जन्म देती है, सच्चाई उनमें बेशक रत्ती भर नहो। उदाहरण के लिए, साम्प्रदायिक शब्दाडम्बर जैसे, ''अमुक समुदाय का आर्थिक व राजनीतिक तुष्टीकरण हीहमारी ग़रीबी का कारण है'' तथा ''फलां समुदाय का फलता–फूलता कारोबार हमारी सलामती के खर्चे पर है'',राजनीतिक कार्य–सूचियों में धार्मिक समुदाय को संघटित करने के लिए सामान्यतः प्रयोग किया जाता है। इसप्रकार, हम पाते हैं कि अल्पलाभान्वित :- निम्न जातियाँ, जनजातियाँ, ग़रीब किसान व श्रमिक वर्ग :-साम्प्रदायिक लामबंदी की ओर खिंचे चले जाते हैं, इस उम्मीद से कि उनकी माली कंगालियों का अंत होगा। येसमाज के विपन्न और अल्पलाभांवित वर्ग ही हैं जो अक्सर साम्प्रदायिक हिंसा की ओर आकर्षित होते हैं। हालाँकि,कई मामलों में मध्य वर्गों व विशेषाधिकारप्राप्त वर्ग तक को घटिया सीना–जोरी में लिप्त देखा जाता है।साम्प्रदायिक हित राजनीति व समाज में अपनी प्रबल स्थिति कायम रखने के लिए साम्प्रदायिक शत्रुता कोप्रोत्साहन देते हैं।इसके अतिरिक्त, संकीर्ण साम्प्रदायिक सोच कर लोगों को संघटित करना शासक वर्ग के लिए अपेक्षाकृत अधिकआसान होता है। ऐसी लामबंदियाँ सत्ता की 'शॉर्ट–कट' होती हैं। जन–साधारण की आर्थिक स्थिति सुधारने केलिए दीर्घकालिक इच्छाशक्ति और वचनबद्धता की आवश्यकता होती है। यह वचनबद्धता अन्ततः प्रबलराजनीतिक व आर्थिक हितों को चुनौती देती है। आर्थिक विकासदर दुःखदायी रूप से मंद रहती है, विशालकायभ्रष्टाचार के कारण किंचित् भी नहीं जिसमें राजनीतिक नेतृत्व शामिल होता है। प्रायः, राज्य आम जनता केलिए बनायी गयी कल्याणकारी योजनाओं में कटौती का उपाय अपनाते हैं। राज्य के वित्तीय संकट की भरपाईके लिए शिक्षा व स्वास्थ्य क्षेत्रों से संसाधन वापस खींच लिए जाते हैं, रोज़गार पैदा करने वाली योजनाएँ ठंडीपड़ जाती हैं और सार्वजनिक क्षेत्र से कर्मचारियों की छँटनी की जाती है। इन नीतियों के सामने किसी भीजन–विरोध को समाप्त करने में साम्प्रदायिक राजनीति बड़े काम आती है। ऐसी परिस्थितियों में साम्प्रदायिकराजनीति जनाक्रोश को सही रास्ते से दूर अन्य समुदायों की ओर ले जाने में उन नेताओं की मदद करती है
जो उनके आर्थिक अल्प–विकास के लिए जिम्मेदार होते हैं।

अन्ततः, अक्सर किसी व्यापार प्रतिद्वंद्वी को दूर करने और ललचायी सम्पत्ति हथियाने के लिए साम्प्रदायिक दंगेभड़काये जाते हैं। किसी आर्थिक प्रतिस्पर्धा की घटना में एक सम्प्रदाय–विशेष के व्यापारी व उद्यमी प्रायः किसीभिन्न समुदाय के व्यापार प्रतिद्वंद्वियों से प्रतिस्पर्धा में उसे पूरी तरह से परास्त कर देने के लिए साम्प्रदायिकराजनीति और हिंसा का प्रयोग करते हैं।

14.5 साम्प्रदायिक राजनीति और इतिहास की व्याख्या

बेरोकटोक चलने लायक बनने के लिए साम्प्रदायिक राजनीति अतीत पर बहुत अधिक भरोसा करती है। वहइतिहास की किसी निश्चित व्याख्या पर निर्भर होती है और उसके चुनींदा अपनाव, खोट, तानेबाने, बेमताल्लकीव पसंदीदा छँटाई–चुनाई इतिहास के सम्प्रदायीकरण का असबाब तैयार करते हैं जो कि साम्प्रदायिक राजनीतिके लिए अपरिहार्य हैं। मानो साम्प्रदायिक आवश्यकताओं को पूरा करने के लिए कल्पित अतीत की रचना कीजाती है। उदाहरण के लिए, हिन्दू सम्प्रदायवाद इतिहास का एक ऐसा दृष्टिकोण लेकर चलता है जिसमें कुछसदैव श्रेष्ठ गुणों का श्रेय हिन्दुओं को दिया जाता है, जैसे सहिष्णुता, दूसरों की धार्मिक आस्थाओं का सम्मान,आध्यात्मिकता, भौतिक इच्छाओं पर ध्यान न देना, आदि। इन सद्गुणों के बारे में कहा जाता है कि वे भारतीयइतिहास वे प्राचीन काल में पूर्ण उत्कर्ष पर थे, यथा उस काल में जिसे हिन्दू राष्ट्र के लिए गौरव और समद्धिवाला बताया जाता है (यह 'राष्ट्र' भी एक कल्पित प्राचीन काल का माना जाता है)। यह प्राचीन युग ऐसा हिन्दूपैतृक–धन माना जाता है जिसे पुनरुज्जीवित करने की आवश्यकता है।

मुसलमानों के प्रवेश ने तथाकथित रूप से इस काल की शांति, समृद्धि और रचनात्मकता को नष्ट कर दिया।कहा जाता है कि उनके पदार्पण से भारत ने अपने इतिहास का दूसरा चरण :- मध्यकाल, यथा अंधा–युग, आरम्भकिया। यह

प्रचार किया जाता है कि यह युग मुस्लिम धर्मोन्माद और संहार का युग था :- मुसलमान जनधर्मपरिवर्तन और हिन्दुओं के पूजा–स्थलों के विध्वंस संबंधी एकमात्र लक्ष्य को लेकर चल रहे थे। इस इतिहासमें मुसलमान धर्मान्धता की प्रवृत्तियों :- मूर्तिभंजन, लूटपाट व हत्याओं :- से बेहिचक जुड़े हैं।विलोमतः, मुस्लिम सम्प्रदायवादियों के अनुसार, वो मध्यकाल ही है जिसको सुदृष्टिपूर्ण रूप से देखा जाना चाहिए।यही वो काल था जब मुस्लिम सत्ता उत्कर्ष पर थी :- यथा मुस्लिम शासन का एक गौरवशाली काल। शासकोंका धर्म के आधार पर ऐतिहासिक कालों में यह विभाजन अपने आप में अनैतिहासिक है जो इस सम्पूर्ण कार्यवाहीको संदेह में डालता है। किसी इतिहास में जिसका दूर–दूर तक उन जटिल विचारधाराओं व प्रति–विचारधाराओंसे मेल नहीं है जो ऐतिहासिक प्रक्रिया को जन्म देती हैं। इतिहास का यह काल–निर्धारण :- हिन्दू, मुस्लिम वब्रिटिश :-जेम्स मिल के *हिस्ट्री ऑव ब्रिटिश इण्डिया* से लिया गया है। इसके अतिरिक्त, हिन्दू–मुस्लिमप्रतिरोध का औपचारिक रूप से समर्थन करते हुए, इस ब्रिटिश काल–निर्धारण ने धार्मिक समुदायों के बीचउनको एक ऐसी आंतरिक एकता प्रदान करते हुए एकपत्थरी दीवारें खड़ी कर दीं, जिसका कभी अस्तित्व ही नहींरहा। बदले में, इस व्याख्या ने साम्प्रदायिक राजनीति की चक्की में और अनाज डालने का काम किया।

इस व्याख्या ने साम्प्रदायिक प्रतिरूपों (स्टॅरियोटाइप्स) की जन्म देने में मदद की। हिन्दू सम्प्रदायवादियों केअनुसार, हिन्दू लोग जन्मजात सहिष्णु होते हैं और मुसलमान कट्टर। मुस्लिम सम्प्रदायवादियों के अनुसारहिन्दुओं को बेगुनाह बेचारे मुसलमानों का साजिश और चालाकी से नाज़ायज फ़ायदा उठाने वालों के रूप मेंदेखा जाता है। एक के अनुसार हिन्दूवाद एक निस्पृह रूप से समृद्ध, सहिष्णु व शान्तिप्रिय धर्म है तो दूसरे केअनुसार यह मूर्ति पूजने वाला, अटरम–शटरम का भ्रमवादी जमावड़ा है। साम्प्रदायिक राजनीति हमेशा दूसरेसमुदाय को प्रतिरूपों व हास्य–चित्रों/बयानों की शृंखला में छोटा करके पेश करती है जो उस समुदाय–विशेषके भीतर सभी सामाजिक जटिलताओं व ऐतिहासिक भिन्नताओं को मिटा डालती है।मुस्लिम 'कट्टरवाद' की एक अक्सर दोहरायी जाने वाले घटना है पूजा–स्थलों का विध्वंस। एक बात जो बड़ेआराम से भुला दी जाती है, वो यह है कि पूजा–स्थलों का विध्वंसन हमेशा धार्मिक कट्टरवाद के कारण नहींरहा और वे सिर्फ़ मुस्लिम मतावलम्बी शासक ही नहीं थे जो इस प्रकार की गतिविधि में संलिप्त थे। प्रायःराजनीतिक व सामाजिक–आर्थिक कारक ही पूजा–स्थलों के विध्वंसन के लिए जिम्मेदार होते हैं और उनकोशत्रु–शरणस्थलों में बदले जाने के लिए भी।यह बात कोई खासकर भारत के लिए ही नहीं थी, वरन् अन्य समाजों में भी इसी प्रकार होता था। इस प्रकारके विध्वंस राजनीतिक सत्ता के अभिकथन थे और खाली खजानों को भरने के माध्यम भी। साथ ही, विभिन्न धार्मिक मत एक दूसरे के साथ राज्य–संरक्षण व आर्थिक लाभ के लिए भी संघर्ष करते रहे थे जिसका परिणामहोता था पवित्र आश्रयों का विध्वंसन। इतिहासकार रोमिला थापर एक 11वीं शताब्दी के राजा हर्ष के बारे मेंबताती हैं जिसने अपने खजाने को भरने के लिए मंदिरों को लूटा और छीनकर सरकारी बना दिया। वहतमिलनाडु, कर्नाटक व आंध्रप्रदेश में शैव्यों व जैनों के बीच परस्पर विरोध का ज़िक्र करती हैं जो अनेकउदाहरणों में हिंसक हुआ और जैन मंदिरों के विध्वंसन में अथवा उनको शैव्य आश्रमों में बलात् बदले जाने मेंपरिणात हुआ। वह मुग़ल शासन के उत्तर काल में संन्यासी पंथों एवं वैरागियों के बीच हिंसा के अनेक उदाहरणभी प्रस्तुत करती हैं। ये उदाहरण कुछ महत्त्वपूर्ण बिन्दुओं पर प्रकाश डालते हैं; जैसे :-

प्रथम, यह कि धार्मिक आस्था समूह–विशेष का पहचानयोग्य आधार हो सकती है, परन्तु राजनीतिक दबदबा औरआर्थिक लाभ जैसे कारक संघर्ष व विध्वंस के प्रमुख कारण बन जाते हैं।

दूसरे, धन–दौलत अथवा राजनीतिक संरक्षण के लिए एक–दूसरे के पूजा–स्थलों की लूटपाट व विध्वसंन की ओरप्रवृत्त करने वाली मज़हबी दुश्मनी पूर्वाधुनिक काल में कोई असामान्य घटना नहीं थी।

तीसरे, अविभेदीकृत धार्मिक समुदाय जैसा कोई संगठन नहीं होता था। कर्मकाण्डीय व सामाजिक प्रथाओं मेंभिन्नताएँ एक फिरके को दूसरे से अलग दर्शाती थीं। साथ ही, धर्म, व्यवसाय व जाति–संबंधी पहचानें भिन्नहोती थीं।साम्प्रदायिक राजनीति इस प्रकार इतिहास को सरलीकृत चरणों में विभाजित कर देती है जो अतीत की विकृततस्वीर प्रस्तुत करने के अलावा अपनी प्रकृति में साम्प्रदायिक भी होते हैं।

इसके अतिरिक्त, धार्मिक पक्षपात हीऐतिहासिक व्याख्या का आधार तैयार करता है, न कि इतिहास का कोई उद्देश्यपूर्ण दृष्टिकोण। यहाँ धर्म व धार्मिकसंघर्ष को महत्त्व दिया जाता है और उनकी भूमिका इस हद तक बढ़ा–चढ़ाकर बताई जाती है कि धर्मनिरपेक्षमुद्दों पर साधारण प्रतिद्वन्द्विताओं को भी एक धार्मिक व्याख्या प्रदान कर दी जाती है।

14.6 साम्प्रदायिक राजनीति और वर्तमान साम्प्रदायिक हिंसा

वर्ष–दर–वर्ष जैसे–जैसे आर्थिक कठिनाइयाँ बढ़ी हैं, देश की राजनीति राजनीतिक संघटन के लिए उत्तरोत्तरसाम्प्रदायिक मुद्दों की ओर मुड़ी है। प्रायः ही यह साम्प्रदायिक संघटन के लिए हिंसा में परिणत हुआ

है।साम्प्रदायिक राजनीति के लिए हिंसा बड़े काम की चीज है क्योंकि वह समाज के साम्प्रदायीकरण की ओर प्रवृत्तकरती है और एक ध्रुवीकरण में परिणत होती है, जो वोट और राजनीतिक सत्ता दिलवाता है। इसी कारण,साम्प्रदायिक दंगे धार्मिक विवादों की कोई सहसा अभिव्यक्ति नहीं होते। यदि हम 1960 के दशक से वर्तमान शती(21वीं शताब्दी) के कुछ शुरुआती वर्षों पर नज़र डालें तो पायेंगे कि साम्प्रदायिक दंगे उत्तरोत्तर रूप सेसुनियोजित एवं सुव्यवस्थित ढंग से रचे गए हैं। भौतिक कारण व चुनावी मज़बूरियाँ इस राजनीति का आधारतैयार करते हैं।

साम्प्रदायिक राजनीतिक खुले रूप से राजनीतिक परिणामों के लिए साम्प्रदायिक लामबंदी का सहारा लेती है। एकराजनीति और होती है जो अल्पकालीन चुनावी लाभों के लिए साम्प्रदायिक लामबंदी का मौक़ा पाकर सहारा लेतीहै। पहली श्रेणी में विश्व हिन्दू परिषद्, शिवसेना, मुस्लिम लीग व मजलिस–ए–इत्तेहादुल मुस्लिमी, आदि आतेहैं। दूसरे में कांग्रेस–आई, तृणमूल कांग्रेस, तेलुगुदेशम, समता पार्टी, आदि शामिल हैं। प्रथम समूह के राजनीतिककार्यक्रम खुले रूप से धार्मिक समुदायों की लामबन्दी पर आधारित होते हैं। दूसरे समूह ने साम्प्रदायिक विषयोंको मौक़ापरस्ती से प्रयोग किया है अथवा साम्प्रदायिक मुद्दों के खिलाफ कोई एकसमान विचार नहीं अपनाया हैक्योंकि उसका मतलब होगा सत्ता का उनके हाथ में कमज़ोर पड़ना अथवा छूट जाना। उदाहरण के लिए, जबपूजा–अर्चना के लिए हिन्दुओं के लिए बाबरी मस्जिद खोल देने के आदेश पारित हुए तो कांग्रेस को हिन्दूसम्प्रदायवाद का विचार आया। कांग्रेस ने मुस्लिम साम्प्रदायिक हितों को रिझाने का भी प्रयास किया जब लगभगउन्हीं दिनों (1986 में) उसने शाहबानो मामले पर सर्वोच्च न्यायालय के उस फैसले को पलट दिया जिसमेंतलाकशुदा शाहबानो को उसके पति द्वारा निर्वाह–भत्ता दिए जाने का आदेश दिया गया था। वर्ष 2002 मेंगुजरात की साम्प्रदायिक हिंसा के दौरान तेलुगुदेशम्, समता, जनता दल व डी.एम.के. जैसी पार्टियों ने स्वयंको मौखिक आलोचनाओं की हद में ही रखा और इस मुद्दे पर सरकारी हाथ होने पर ज़ोर देने के लिए अपनेसंसदीय अधिकार का प्रयोग नहीं किया क्योंकि इससे उनके हाथ से सत्ता निकल जाने की संभावना पैदा होसकती थी।

यह तर्क दिया जा सकता है कि बाबरी मस्जिद–रामजन्मभूमि विवाद बीते दशक भर या उससे भी अधिक समयतक भारत में बढ़ती असहिष्णुता व हिंसा में मुख्य योगदान देता रहा। बाबरी मस्जिद के विध्वंस हेतु जिम्मेदारलोगों का, और जो लोग राम–मंदिर के निर्माण हेतु लामबंदी कर रहे हैं, का मुख्य संघर्ष–विषय यह है कि भारतएक हिन्दू राष्ट्र है और इस कारण हिन्दू समुदाय संबंधी अधिकार किसी भी अन्य चीज़ से ऊपर है। कार्यतः यहस्पष्ट रूप से द्वि–राष्ट्र सिद्धांत है और यह राजनीति भारत में खुले रूप से हिन्दू राष्ट्र–राज्य के निर्माण कीवकालत करती है। रामजन्मभूमि की राजनीति भा.ज.पा. के चुनावी भाग्य में प्रमुख योगदान देती रही है। भाजपा की लोकसभा में सीटें 1984 के चुनावों में मात्र दो से बढ़कर 1989 के चुनावों में 88 और 1991 के चुनावों में 120 सीटों तक चली गईं। रामजन्मभूमि आन्दोलन पर भा.ज.पा. की यह निर्भरता ही है जो उसे सत्ता में रहते हुए भी साम्प्रदायिक हिंसा व राजनीति के साथ दृढ़ता से पेश करने से रोकती है।

साम्प्रदायिक दंगों में जनहानि सालों साल लगातार बढ़ी है। 1950 व 1960 के बीच साम्प्रदायिक दंगों में गईजानों की संख्या 316 बताई गई है। यह संख्या (एक दशक में) 1960 के दशकोत्तर से साम्प्रदायिक हिंसा की हर घटना में मृतकों की संख्या के मुकाबले बहुत कम है। वर्ष 1969 के राँची–हाटिया दंगों में मारे गए लोगोंकी संख्या 184 थी और उसी वर्ष अहमदाबाद में मृतकों की संख्या 512 थी। भिवांडी–जलगाँव (1970) दंगों में यह संख्या 121 मृतक थी। अक्टूबर 22, 1989 से जनवरी 15, 1990 तक मारे गए लोगों की संख्या 960 थी। यहाँ एक और बात सामने आती है कि स्वतंत्र भारत में साम्प्रदायिक हिंसा में मुसलमान अधिक मारे गएऔर विस्थापित हुए। राँची–हाटिया दंगों में 184 मृतकों में 164 मुसलमान थे; अहमदाबाद (1969) में 512 मौतों में 413 मुसलमान थे। भिवांडी–जलगाँव में 121 मौतों में 101 मुसलमान थे। भागलपुर में 960 मृतकों में लगभग 890 मुसलमान थे।1992–93 के बम्बई (मुम्बई) दंगों में लगभग 900 लोग मारे गए जिनमें कम से कम 575 मुसलमान थे। मुम्बई के नल बाज़ार में 512 दुकानों को लूटने के बाद आग लगा दी गई। इनमें 90 दुकानें हिन्दुओं की थीं और बाकी मुसलमानों की। गोल देवल के पीछे कुछेक मुस्लिम दुकानें थीं और वे सभी लूट ली गईं और जलाकर खाक़ कर दी गईं। न्यायमूर्ति बी.एन. श्रीकृष्ण आयोग जो हिंसा की जाँच–पड़ताल के लिए नियुक्त किया गया था, उसने पाया कि मुम्बई में साम्प्रदायिक दंगे शिव सेना ने भड़काये और करवाये थे, जिन्होंने निर्दोष मुसलमानों की मौत और उनकी सम्पत्ति नष्ट करने की ओर प्रवृत्त किया था। गुजरात हिंसा (2002) के दौरान मुसलमानों व उनकी संपत्ति को सुनियोजित रूप से लक्ष्य बनाया गया था। चारों दिनों में :-20 फरवरी से 3 मार्च 2003 तक :-600 मुस्लिम मारे जा चुके थे, हालाँकि ऐम्निस्टि इण्टरनेशनल इनकी संस्था 2000 बताता है। दो लाख से अधिक मुसलमान विस्थापित हुए, उनके घर लूट लिए गए और जला दिए गए। विस्थापित हिन्दुओं की संख्या 10,000 थी।

साम्प्रदायिक हिंसा में पुलिस की भूमिका पर भी विचार किए जाने की भी आवश्यकता है। देश में साम्प्रदायिकहिंसा की हर प्रमुख घटना से लगभग निरपवाद रूप से जो बात सामने आयी है, वो है पुलिस की पक्षावलंबी भूमिका। पुलिस का

साम्प्रदायिक चरित्र प्रत्यक्ष से कहीं अधिक है। पुलिस ने अपने पक्षानुराग से साम्प्रदायिक राजनीति की सहायता की है और वस्तुतः शासक–वर्ग की अच्छी सेवा में एक दमनकारी नौकरशाह की भूमिका निभाई है। पुलिस एक मध्यस्थ की भूमिका निभाने एवं तत्परता से आगजनी, लूटपाट व हत्याओं को रोकने की बजाय या तो हिंसा की मूकदर्शक बनी रही या फिर उसमें खुद भागीदार बनी। इसके अलावा, यह चुप्पी अथवा भागीदारी अमूमन हमेशा ही अल्पसंख्यक–विरोधी रही है। भिवांडी 1970, फिरोज़ाबाद 1972, अलीगढ़ 1978, मेरठ 1982 में एक भी हिन्दू व्यक्ति पुलिस की गोली का शिकार नहीं हुआ जबकि पुलिस की गोली से मरने वाले मुसलमानों की संख्या क्रमशः 9, 6, 7 व 6 रही। वर्ष 1979 में जमशेदपुर साम्प्रदायिक हिंसा में पुलिस ने तथाकथित रूप से बलवाइयों की भीड़ में हिस्सा लिया और मुस्लिम घरों को लूटा। अगस्त 1980 में मुरादाबाद में विशिष्ट सशस्त्र पुलिस दल (पी.ए.सी.) ने 40,000 मुसलमानों पर अन्धाधुंध गोली चलाई जबकि वे ईद पर नमाज़ अदा कर रहे थे। नमाज़ के दौरान एक सूअर भटक कर उधर आ गया था जिससे एक छोटी–सी तकरार हुई और पुलिस उन्मत्त हो गई फिर नमाज़ियों पर गोली चलानी शुरू कर दी। मेरठ में मई 1987 के दंगों के बाद पी.ए.सी. द्वारा निर्दोष मुस्लिमों का एक निर्मम हत्याकाण्ड देखा गया। दो दर्जन से अधिक मुसलमानों को हाशिमपुरा स्थान से उठा लिया गया और कत्लेआम कर दिया गया। लाशें हिण्डन नहर में डाल दी गईं। कुछ शव मलियाना गाँव के नज़दीक नहर में तैरते पाये गए। इससे आक्रोश भड़का और मेरठ फिर लपटों में घिर गया। मई, जून व जुलाई 1987 महीनों में मेरठ में कुछ दुर्दांत दंगे देखे गए। 1989 के भागलपुर दंगों के दौरान पुलिस ने 116 मुसलमानों की हत्या को चुपचाप देखा जो कि एक खेत में दफ़ना दिए गए और उस पर फूलगोभी उगा दी गई। 1992–93 के मुम्बई दंगों के दौरान पुलिस ने मुसलमानों के खिलाफ़ अत्यधिक बलप्रयोग किया और मुसलमान सुनियोजित ढंग से हिन्दू बलवाइयों के खिलाफ़ उनकी शिकायतों को दर्ज करने से इंकार कर दिया। यही कहानी 2002 में गुजरात में रही। मुसलमानों को न सिर्फ़ हिन्दू बलवाइयों का, बल्कि पुलिस का भी सामना करना पड़ा, जोकि अनेक बार स्थानीय वि.हि.प.–बजरंग दल के गुंडों के नेतृत्व में हुआ। वर्ष 2002 में गुजरात में पुलिस ने वो सब किया जिसकी उससे उम्मीद नहीं थी, और वहाँ कार्रवाई नहीं की जहाँ उसे करनी चाहिए थी। पुलिस ने बलवाइयों को मुस्लिम घरों की ओर खदेड़ा, उनकी हत्याओं की मूकदर्शक रही, मुसलमानों पर गोली चलाई, उनकी सम्पत्ति लूटने में भाग लिया, और प्रभावित मुसलमानों की उन पर आक्रमण करने वालों के खिलाफ़ शिकायतें दर्ज नहीं कीं। 28 फरवरी को बापू नगर पुलिस थाने के निकट जिन 40 आदमियों को गोली मार दी गई, वे सब मुसलमान थे जिन्हें एक 3000 लोगों की भीड़ से अपने आपको बचाते हुए सिर और छाती में गोली लगी थी।

14.7 वर्तमान साम्प्रदायिक राजनीति के प्रतिमान

ये घटनाएँ राजनीतिक परिदृश्य पर एक प्रमुख वैचारिक दबाब के रूप में हिन्दुत्व के उद्‌गमन पश्चात्साम्प्रदायिक राजनीति विषयक कुछ महत्त्वपूर्ण तथ्य उजागर करती हैं। एक, सम्प्रदायवाद ने खुलापन, वैधताऔर व्यापक पहुँच अख़्तियार कर ली है, जिसकी तुलना उससे, और उससे बढ़कर, की जा सकती है जो ब्रिटिशभारत में मुस्लिम लीग ने अर्जित कर ली थी। स्वतंत्र भारत के आरम्भिक दशकों में सम्प्रदायिक राजनीति कोएक ऐसे पर्दे की ज़रूरत थी जिसके पीछे से वह संचालित हो सके। यह एक प्रकार की अनकही राजनीति थी,जो खुले में अपने से शर्माती थी। अब इस शर्मीलेपन के स्थान पर खुलापन आ गया है, जिसका श्रेय उसवैधता को दिया जा सकता है जो उसने हासिल कर ली है। यह वैधता भारतीय राजनीति की एक सांस्कृतिक रूपसे बहुसंख्यवादी सोच से निकली है, यथा, वह सोच जो यह मानती है कि चूँकि भारत में हिन्दुओं का धार्मिकबहुमत है, हिन्दू राजनीति ही सम्पूर्ण जनता के हितों व आशओं का सर्वाधिक सहज प्रतिनिधित्व है। इसी कारण,इस सोच के अनुसार, हिन्दू राजनीति सभी के लिए स्वीकार्य होनी चाहिए क्योंकि यह एक अधिकतम जनसंख्याके हितों की अभिव्यक्ति है और यही है लोकतंत्र का सार। हिन्दू सम्प्रदायवाद की पहुँच बढ़ी है, जिसका श्रेयअंशतः उपरोक्त, पहली बात को दिया जा सकता है, यथा, लोकतंत्र की बहुसंख्यवादी धार्मिक–सांस्कृतिक सोच को,और अंशतः हिन्दू दक्षिण–पंथी राजनीति के साथ राज्य की बढ़ी स्वयं की पहचान को। राज्य ने स्वयं को उनवायदों से भी काफ़ी दूर कर लिया है जो उसने भारतीय जनता के इस ग़रीब जन–समूह से किए थे।दो, वर्तमान साम्प्रदायिक राजनीति, अपने हिन्दू साम्प्रदायिक रूप में, भारत में लोकतंत्र के मूलाधार को चुनौतीदेती है। वह एक हिन्दू राज्य के निर्माण हेतु आह्वान करती है और समान नागरिकता, धर्मनिरपेक्षतावाद,धार्मिक सहिष्णुता व धार्मिक स्वतंत्रता संबंधी मूल सिद्धांतों :- एक अनेकसंख्यक भारतीय राज्य–व्यवस्था केआधार :- को चुनौती देती है। एक राजनीतिक बहुमत द्वारा शासन जो लोकतांत्रिक प्रतिस्पर्धा हेतु खुला हो, की बजाय उसका राजनीतिक शासनाधार के रूप में धार्मिक बहुसंख्यवाद की ओर झुकाव है। यह बात पहले नहींथी। पहले सम्प्रदायवाद आर्थिक व राजनीतिक प्रभाव का वाहन तो बना, परन्तु उसने लोकतंत्र पर ख़तरा कभीपैदा नहीं किया। 1980 के दशकोत्तर पश्चात् सम्प्रदायवाद में यह बुनियादी परिवर्तन हिन्दुत्व ने किया है।तीन, स्वतंत्र भारत में अल्पसंख्यक साम्प्रदायिक राजनीति हिन्दू राजनीति की

मारकाट को झेलकर भी कायमरहने में असमर्थ रही है। पहले अल्पसंख्यक एवं बहुसंख्यक साम्प्रदायिक राजनीतियाँ अपने–अपने प्रभावक्षेत्रों कोमज़बूत करने के लिए एक–दूसरे का पोषण किया करती थीं और साथ ही, मुस्लिम लीग पर काफ़ी राजनीतिकदाग़ भी लगे थे। परन्तु, स्वतंत्र भारत में मुस्लिम राजनीति एक वैचारिक शक्ति के रूप में ग़ैर–महत्त्वपूर्णहाशिये पर धकेल दी गई है।

हाल के वर्षों में मुस्लिम राजनीति इस अर्थ में साम्प्रदायिक कम और समाजवादीअधिक बन गयी है कि वह समान नागरिकों के रूप में मुसलमानों के अधिकारों के प्रति अधिक गंभीर है औरसार्वजनिक क्षेत्र में भेदभाव के खिलाफ़ बोलती है। मुस्लिम राजनीति में साम्प्रदायिक प्रतिस्पर्धा संबंधी मुद्दों कीअपेक्षा नागरिकता संबंधी प्रश्न कहीं अधिक उठने लगे हैं। इस भूमिका में वह धर्मनिरपेक्ष राजनीतिक कार्यावलीकी ओर जा रही है। तथापि, अल्पसंख्यक सम्प्रदायवाद का एक तुच्छ तत्त्व रूढ़िवादी संगठनों व आतंकवादीगिरोहों की ओर गया है। अतः वर्तमान में मुस्लिम सम्प्रदायवाद के दो रूप हैं।

एक व्यापक व अधिकसमाजवादी रूप जो मुसलमानों के अधिकारों की भारत के समान नागरिकों के रूप में रक्षा करता है, और

हाशियों पर अवस्थित एक उग्रवादी रूप जो आतंकवादी गतिविधियों का सहारा लेता है।

मुस्लिम साम्प्रदायिक राजनीति (अपने समाजवादी रूप में) क्षेत्रीय रूप से निश्चित है। उसके प्रभाव वाले तितर–बितर आंतर–निवासों का एक–दूसरे से कोई संबंध नहीं है। उदाहरण के लिए, हैदराबाद मेंएम.आई.एम. की, केरल में मुस्लिम लीग की, उत्तर प्रदेश में सैयद शहाबुद्दीन जैसे नेताओं की, आदि राजनीतिआपसी सहयोग की किंचित संभावना के साथ क्षेत्रीय रूप से ही केन्द्रीभूत है। इनमें हर एक मुसलमानों के हितोंका अपने विशिष्ट क्षेत्रीय प्रसंग में ही प्रतिनिधित्व करता है। हिन्दू सम्प्रदायवाद में मौजूदा प्रकार की एकसंगठनात्मक एकता का यहाँ अभाव है।

हिन्दू सम्प्रदायवाद वैचारिक रूप से मुस्लिम सम्प्रदायवाद की अपेक्षा कहीं अधिक सशक्त है, और यह शक्तिभारतीय राष्ट्रवाद के साथ पहचानने की उसकी क्षमता से आती है। भारतीय राष्ट्रवाद के दावों में सुविधापूर्वकघुस पड़ने वाली हिन्दू सम्प्रदायवाद की भली/बुरी आदत एक ऐसी चीज है जो मुस्लिम सम्प्रदायवाद कभी हासिलनहीं कर सकता, बल्कि अन्य सभी अल्पसंख्यक राष्ट्रवादों की ही भाँति, उस पर अलगाववादी और राष्ट्र–विरोधी करार दिए जाने का खतरा मंडराता रहता है। हिन्दू सम्प्रदायवाद की वैचारिक अभिव्यक्ति हिन्दुत्व मेंप्रकट होती है जिसके पास भौगोलिक एकरूपता और एकता है। दूसरे शब्दों में, उत्तर प्रदेश या कर्नाटक यागुजरात आदि में हिन्दू सम्प्रदायवाद के बीच कोई वैचारिक मतभेद नहीं है। उसकी प्रचण्डता भिन्न हो सकतीहै परन्तु सिद्धांत रूप में वह सभी जगह एक–सा है। वह हितों की बजाय पहचान संबंधी प्रश्नों पर है कि यहवैचारिक इमारत एक उग्र साम्प्रदायिक एवं सत्तावादी दृष्टिकोण का प्रतीक अपनाकर बनायी गई है।

हिन्दू सम्प्रदायवाद को उस तरीके से एक अतिरिक्त शक्ति प्राप्त है जिससे विश्व राजनीति ने स्वयं को चलाया है।

न्यूयार्क में विश्व व्यापार केन्द्र की इमारतों पर 11 सितम्बर 2001 के हमलों के बाद नव– साम्राज्यवादी ताकतों के हाथों में भूमण्डलीय आतंकवाद के साथ इस्लाम की पहचान हिन्दू सम्प्रदायवादी ताकतों के एक बड़े राजनीतिक व वैचारिक समर्थन के रूप में उभरी है। इसने उन्हें और अधिक राजनीतिक विस्तार हेतु भारत में मुसलमानों के खिलाफ़ अपनी घृणा की राजनीति को भड़काने की ओर प्रवृत्त किया है। अंतरराष्ट्रीय स्तर पर अल क़ायदा जैसे आतंकवादी गिरोहों, और राष्ट्रीय स्तर पर मुम्बई अपराध–जगत् की गतिविधियों ने भारत में हिन्दुत्व शक्तियों के लिए इन बातों को सुविधाजनक बना दिया है कि मुसलमानों को राष्ट्र–विरोधी व आतंकवादी के रूप में पहचाना जाए।

14.8 सार–संक्षेप

सामाजिक–आर्थिक लाभों अथवा राजनीतिक सत्ता के लिए धर्म अथवा धार्मिक पहचान का प्रयोग साम्प्रदायिकराजनीति कहलाता है। यह राजनीति एक ओर धार्मिक–सांस्कृतिक अनेकत्व की स्थिति में पनपती है तो दूसरीओर असमान व शिथिल आर्थिक विकास में। ये दोनों ही स्थितियाँ भारत में मौजूद हैं।जबकि राजनीतिक हिंसा छुट–पुट ही होती है और एक मौक़ा–ए–वारदात पर ही सुलझा ली जाने वाली समस्याके रूप में उससे निबट लिया जाता है, साम्प्रदायिक राजनीति एक दीर्घावधि दृश्यघटना है जो कि एक धार्मिकसमुदाय के किसी अखण्ड विचार पर आधारित होती है तथा विभिन्न धामिक समुदायों के बीच मतभेदों कोबढ़ा–चढ़ाकर बताती है। ये मतभेद समाज के साम्प्रदायीकरण की ओर प्रवृत्त करते हैं, जो साम्प्रदायिक राजनीतिको दृढ़ता प्रदान करता है।

औपनिवेशिक भारत में साम्प्रदायिक राजनीति सरकारी नौकरियों और राजनीतिक पदों हेतु प्रतिस्पर्धा का एकतरीका था। उसने कांग्रेस के नेतृत्व वाले राष्ट्रीय आन्दोलन के खिलाफ़ रक्षात्मक आड़ के रूप में एक बड़ी हीगंभीर

मुद्रा अपनायी। औपनिवेशिक भारत में ही द्वि–राष्ट्र सिद्धांत प्रतिपादित हुआ। साम्प्रदायिक राजनीतिब्रिटिश उपनिवेशवादियों की 'फूट डालो, शासन करो' नीति का भी हिस्सा थी।

साम्प्रदायिक राजनीति अतीत की व्याख्या एक चयनात्मक और विकृत तरीके से करती है ताकि अपना प्रभावक्षेत्रबढ़ा सके। वह अपने लाभ के लिए कुछ साम्प्रदायिक दबंगों का भी सहारा लेती है।गत वर्षों से राजनीति उत्तरोत्तर रूप से साम्प्रदायिक संघटन का सहारा लेती रही है। बहुधा ही यह घृणाजनकसाम्प्रदायिक हिंसा में परिणत हुई है। वर्तमान भारतीय राजनीति में हिन्दुत्व ने केन्द्रिकता हासिल कर ली है।बहुमत राजनीति अथवा हिन्दू राजनीति ने अल्पसंख्यक राजनीति को हाशिये पर धकेल दिया है।स्वतंत्र भारत में अल्पसंख्यक राजनीति अथवा मुस्लिम राजनीति धीरे–धीरे समाजवादी मुद्दों की ओर खिसक गई है। 11 सितम्बर 2001 के बाद हिन्दू साम्प्रदायिक राजनीति को एक विचारणीय राजनीति व वैचारिक निश्चयनमिल गया है।

14.9 अभ्यास

1) साम्प्रदायिक राजनीति क्या है? साम्प्रदायिक राजनीति व राजनीतिक विकास के बीच संबंध पर चर्चा करें।
2) इतिहास की किस प्रकार की व्याख्या पर साम्प्रदायिक राजनीति भरोसा करती है?
3) वर्तमान भारत में साम्प्रदायिक राजनीति के प्रतिमान क्या हैं?
4) साम्प्रदायिक राजनीति के लिए साम्प्रदायिक हिंसा की आवश्यकता की व्याख्या करें।

अध्याय 15
दलितों और पिछड़े वर्गों की अधिकार–माँग

अध्याय की रूपरेखा

15.1 प्रस्तावना

15..2 सामाजिक–आर्थिक दशाएँ

15.2.1 दलित

15.2.2 पिछड़ी जातियाँ

15.3 दलितों की अधिकार–माँग

15.3.1 भारतीय रिपब्लिकन पार्टी

15.3.2 दलित पैन्थर

15.3.3 बहुजन समाज पार्टी

15.3.4 वामपंथ और दलित प्रश्न

15.4 पिछड़े वर्गों की अधिकार–माँग

15.3.1 उत्तर भारत

15.3.2 दक्षिण भारत

15.3.3 पिछड़ी जातियों के संगठन

15.5 सार–संक्षेप

15.6 अभ्यास

15.1 प्रस्तावना

गत कुछ दशकों के दौरान भारत में दलितों और पिछड़े देशों से संबंधित अधिकार–माँग होती रही है। परवर्ती को अन्य–पिछड़े–वर्ग(ओ.बी.सी.) के नाम से भी जाना जाता है। इस प्रकार के हक–दावों के माध्यम से इन समूहों ने सामाजिक व सांस्कृतिक स्वायत्तता, आत्म–सम्मान एवं गरिमा हेतु संघर्ष करने और राजनीतिक सत्ता में भागीदारी की माँग करने का प्रयास किया है। वे अनेक राज्यों की राजनीति में बड़ी ही प्रभावशाली भूमिका निभा रहे हैं। हाल के बीते वर्षों में वे राष्ट्रीय राजनीति में सत्ता दृष्टिकोण के प्रबल संघटक बन गए है। इस इकाई में हम भारत में दलितों और पिछड़े वर्गों के दृढ़ कथन, इसके पक्ष में कारणों और देश की राजनीति व समाज पर इसके प्रभाव का अध्ययन करने जा रहे हैं।

15.2 सामाजिक–आर्थिक दशाएँ

दलित एक ऐसा शब्द है जो उन भूतपूर्व–अछूत जातियों के लिए प्रयोग किया जाता है जिन्हें हमारे संविधान द्वारा अनुसूचित जातियों के रूप में पहचान प्रदान की गई है। वे जातियों की एक बड़ी संख्या का निर्माण करते हैं और निचले दर्ज़े के व्यवसायों में लगे हुए हैं, जैसे चर्म कार्य, झाड़ू लगाना और खेतों में मजदूरी करना। भूमिसुधार उपायों ने उन्हें लाभ नहीं पहुँचाया। तथापि, बहुत–सी कल्याणकारी योजनाओं का उन पर देश के विभिन्न भागों में विभिन्न रूपों में असर हुआ है। राज्य की कल्याणकारी नीतियों से लाभ उठाने में अड़चन होने के बावजूद, उनकी दशाओं में सुधार आया है। शैक्षिक एवं राजनीतिक संस्थाओं में आरक्षण से उनके बीच एक सवाक् समूह के उद्‌गमन को बढ़ावा मिला है। यह समूह उनकी समस्याओं को स्पष्ट करता है। यह एक सामाजिक कायांतरण संबंधी प्रक्रिया की ओर भी इशारा करता है, जो कि भारत में हुआ है। परन्तु सामाजिक कायांतरण ने देश में असमान प्रतिमान दर्शाये हैं। देश के बड़े इलाकों में, खासकर ग्रामीण क्षेत्रों में, दलितजन अब भी तिरस्कार और मानमर्दन का सामना करते हैं।

भारतीय संविधान में व्यापक प्रावधानों के बावजूद, दलितों से भेदभाव के विरूद्ध लड़ाई अभी जीती जानी है। आज की तारीख तक दलितों का इस संकट से गुजरना जारी है। मार्क गैलेण्टर शोक प्रकट करते हैं : ''हमारा संविधान भारतीय समाज के पुनर्गठन हेतु एक आम योजना प्रस्तुत करता है। अपने दीर्घाकार होने के बावजूद, यह भारतीय समाज में जाति संस्था और वर्तमान समूह संरचना संबंधी अपने उपचार में आश्चर्यजनक रूप से अविस्तृत है।''

यहाँ तक कि देश के कानून द्वारा प्रदान प्रावधान अधिकांश मामलों में निष्प्रभावी सिद्ध हुए है। संविधान के अनुच्छेद 17 ने ''अस्पृश्यता'' समाप्त कर दी थी। संविधान में दिए गए सकारात्मक कार्रवाई संबंधी प्रावधान कुछ मामलों में निरर्थक हो गए हैं। सम्पूर्ण निजी क्षेत्र पर दलितों हेतु सामाजिक न्याय करने के लिए कोई दायित्व नहीं हैं। निजी क्षेत्र में आरक्षण हेतु दलितों की माँग को अनेक सशक्त व सुस्पष्ट समूहों की ओर से कड़े विरोध का सामना करना पड़ रहा है।

15.2.2 पिछड़ी जातियाँ

पिछड़ी जातियों को पिछड़े वर्गों अथवा अन्य–पिछड़े–वर्ग (ओ.बी.सी.) के नाम से भी जाना जाता है। हमारा संविधान उन सामाजिक समूहों की ओ.बी.सी. के रूप में पहचान करता है जो शैक्षिक और सामाजिक रूप से अनिवार्यतः पिछड़े नहीं है। यही कारण है कि ओ.बी.सी. के रूप में पहचान प्राप्त बड़ी संख्या में जातियाँ राजनीति और अर्थव्यवस्था, खासकर भारत के विभिन्न राज्यों में कृषि में पूरी तरह से प्रभावशाली हैं। दलितों से भिन्न, ओ.बी.सी. एक अधिक विभेदीकृत क्षेणी है। इसमें मध्यवर्ती भूधारक जातियों के साथ–साथ भूमिहीन सेवक जातियाँ भी आती है। भूमि–धारक मझली या मध्यवर्ती जातियाँ मुख्य रूप से हैं – उत्तर भारत में जाट, यादव, गूजर, लोध, कुर्मी; महाराष्ट्र व गुजरात में मराठा व पटेल; और दक्षिण भारत में रेड्डी, कम्मा, वोकलिग्ग व लिंगायत। ये जातियाँ ही ओ.बी.सी. में सर्वाधिक हठधर्मी हैं। मझौली अथवा मध्यवर्ती जातियों से सामाजिक रूप से संबंध रखने वाले इन लोगों को भूमि–सुधारों व हरित क्रांति से लाभ मिला है। उनके पास ग्रामीण समाज में अधिकतम संसाधन एवं ज़मीन भी है। उनमें से कुछ ने तो गैर–कृषिक अर्थव्यवस्था में भी अनेक उद्यमों में पैसा लगाया है। इस प्रकार, उनका प्रभावक्षेत्र कस्बों व गाँवों की सरहदों से पार पहुँच चुका है। वे कृषि से जुड़ी बाज़ार अर्थव्यवस्था के महत्त्वपूर्ण घटक का निर्माण करते हैं।

15.3 दलितों की अधिकार–माँग

भारत में स्वातंत्र्योत्तर काल में दलितों की अधिकार–माँग आ उठी है। इसको तीन हिस्सों में बाँटा जा सकता है – भारतीय रिपब्लिकन पार्टी का दौर; दलित पैन्थर का दौर और बहुजन समाज पार्टी (बी.एस.पी.) का दौर। चूँकि यह अभिकथन अम्बेडकर की मृत्यु के बाद ही घटित हुआ, ये सभी दौर अम्बेडकर–उपरांत दलित आन्दोलन से संबंध रखते हैं। पूर्ववर्ती काल में दलित आन्दोलन के ध्यानाकर्षण केन्द्र रहे – मन्दिर प्रवेश, आत्म–सम्मान की पुनर्प्राप्ति, और राजनीतिक व सरकारी संस्थाओं में दलितों हेतु आरक्षण दिलवाना अम्बेडकर–उपरांत दलित आन्दोलन ने अनेक रूप लिए – सामाजिक–सांस्कृतिक, आर्थिक एवं राजनीतिक। अपनी अधिकार–माँग की बदौलत दलितजन एक विशिष्ट सामाजिक व राजनीतिक समूह के रूप में मान्यता पाने में सफल रहे हैं। यह अधिकार–माँग विभिन्न तरीकों से व्यक्त की जाती है, यथा सामाजिक, सांस्कृतिक व राजनीतिक संगठनों की स्थापना, अन्य धर्म में अंतकरण तथा वर्धमान राजनीतिक भागीदारी।

दलितों की अधिकार–माँग हेतु अनेक कारक उत्तरदायी है। इनमें से सबसे महत्त्वपूर्ण हैं – उनके बीच शिक्षित और सवाक् समूहों का उदय, जन–संचार माध्यमों का विस्तारण तथा सबसे महत्त्वपूर्ण रूप से, उन पर डॉ. भीमराव अम्बेडकर के विचारों व जीवन का प्रभाव। वह प्रक्रिया जो डॉ. भीमराव अम्बेडकर के जीवन और विचारों के प्रभाव का संकेत करती है, जगपाल सिंह द्वारा अम्बेडकरीकरण के रूप में अभिकल्पित की गई है। आगे पठांश 15.3.1, 15.3.2, 15.3.3 व 15.3.4 में हम भारतीय रिपब्लिकन पार्टी, दलित पैन्थर व बहुजन समाज पार्टी, तथा वाम एवं दलित विवाद–विषय पर दृष्टिपात करेंगे।

15.3.1 भारतीय रिपब्लिकन पार्टी

अपनी मृत्यु से कुछ ही वर्ष पूर्व डॉ. भीमराव अम्बेडकर ने भारतीय रिपब्लिकन पार्टी (आर.पी.आई.) की स्थापना की। इस पार्टी का उद्देश्य था– दलितों व कमजोर वर्गों की सामाजिक–आर्थिक दशाओं का सुधार तथा उन्हें राजनीतिक शक्ति हासिल करने में सक्षम करना। अम्बेडकर की मृत्यु के पश्चात् आर.पी.आई. को दलितों के एक उदीयमान शिक्षित मध्यवर्ग द्वारा मज़बूती प्रदान की गई। आर.पी.आई. पचास व साठ के दशक में मुख्यतः उत्तर प्रदेश व महाराष्ट्र में लोकप्रिय हो गई। साठ के दशक में उसने उत्तर प्रदेश में चुनाव भी लड़ा और उसकी गिनती एक शक्ति के रूप में होने लगी। उत्तर प्रदेश में आर.पी.आई. ने दलितों, मुसलमानों व ओ.बी.सी. के गठबंधन को जन्म दिया। परन्तु साठ के दशकोपरांत उसने अपनी लोकप्रियता खो दी क्योंकि उसके कुछ प्रमुख नेतागण कांग्रेस पार्टी में समंजित हो गये। महाराष्ट्र में आर.पी.आई. अनेक समूहों में बिखर गई, जो वैचारिक एवं व्यक्तिगत मतभेदों द्वारा पहचाने गए।

यह ध्यान देने योग्य बात है कि दलितों के बीच आर.पी.आई. ने दो मोर्चों में पर काम किया– राजनीतिक एवं सांस्कृतिक। राजनीतिक मोर्चे में शामिल था – चुनावों में भाग लेने के लिए दलितों की लामबन्दी। यद्यपि साठ के दशकोपरांत आर.पी.आई. का अस्तित्व एक महत्त्वपूर्ण राजनीतिक दल से रूप में समाप्त हो गया, उसके द्वारा किए गए काम का सांस्कृतिक क्षेत्र में प्रभाव पड़ा था। अम्बेडकर से प्रभावित होकर उसके अनेक अनुयायियों ने बौद्धधर्म अपना लिया। अम्बेडकरवाद और बौद्धधर्म द्वारा प्रभावित लोगों ने दलितों के बीच अम्बेडरवाद फैलाने में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाई।

वास्तव में, अम्बेडकरीकरण की प्रक्रिया उस काल में ही शुरू की गई। इसने आने वाले दशकों में दलितों की अधिकार–माँग में योगदान दिया।

15.3.2 दलित पैन्थर

मार्क्सवाद, अम्बेडकरवाद और नीग्रो साहित्य से प्रभावित होकर दलित बुद्धिजीवियों के एक समूह ने 1972 में महाराष्ट्र में दलित पैंथर की स्थापना की। यह मूल रूप से दलित बुद्धिजीवियों का एक आन्दोलन था, जिसने एक महत्त्वपूर्ण सीमा तक दलितों के बीच चेतना जगाने में योगदान दिया। उसने घरों, दफ़्तरों व सार्वजनिक स्थानों पर साहित्यिक गतिविधियों, वाद–विवादों एवं चर्चा के माध्यम से हिन्दू–जाति व्यवस्था की कड़ी आलोचना की। एक घटना दलित पैन्थर की स्थापना हेतु मुख्य कारण बनी। दलित पैन्थर का नाम अमेरिका के 'ब्लैक पैंथर' के नाम पर पड़ा। यह घटना एक पत्रिका 'साधना' में दलित लेखकों द्वारा प्रकाशित एक वाद–विवाद से जुड़ी थी। पैंथर ने मराठवाड़ा विश्वविद्यालय का नाम बदलकर डॉ. भीमराव अम्बेडकर किए जाने हेतु भी यह आन्दोलन चलाया। इसका आधार शहरी क्षेत्रों में सीमित होने के कारण यह बलपूर्वक बंद कर दिया गया। वैचारिक एवं व्यक्तिगत आधारों पर इसने अनेक विभाजनों को भी झेला।

15.3.3 बहुजन समाज पार्टी

उत्तर भारत में बीसवीं सदी के अन्तिम दो दशकों में ब.स.पा. (बहुजन समाज पार्टी– बी.एस.पी.) का उदय, और उत्तर प्रदेश में तीन बार उसकी नेत्री मायावती का मुख्यमंत्री बनना भारत में दलितों के सशक्तीकरण का प्रतीक है। ब.स.पा. का उदय दलित–सशक्तीकरण प्रक्रिया का ही हिस्सा है, जो स्वातंत्र्योत्तर काल में शुरू हुई। 14 अप्रैल 1984 को कांशीराम द्वारा स्थापित बहुजन समाज पार्टी का लक्ष्य है – समाज के बहुमत वर्ग अथवा बहुजन समाज, यथा दलितों, ओ.बी.सी., जनजातियों एवं अल्पसंख्यकों को सशक्त बनाना।

ब.स.पा. की जानकारी के अनुसार, भारत में अल्पसंख्यक उच्च जातियों – ब्राह्मणों, राजपूतों व बनियों ने बहुजन समाज का शोषन किया है। पूर्ववर्ती ने उनके वोटों का इस्तेमाल बहुजन समाज पर शासन करने के लिए किया है। इस बहुजन समाज को राजनीतिक सत्ता हथियानी चाहिए क्योंकि वह जनता के बहुजन का निर्माण करता है, और लोकतंत्र में बहुमत को ही शासन करना चाहिए। जब बहुजन समाज सत्ता पर कब्जा कर लेगा, उसे अल्पसंख्यक उच्च जातियों से मदद की आवश्यकता नहीं पड़ेगी। बल्कि उच्च जातियों की मदद के लिए वह झुकेगा। ब.स.पा. के गठन से पूर्व कांशीराम ने अखिल भारतीय पिछड़ा व अल्पसंख्यक कर्मचारी संघ (बामसेफ) के माध्यम से अनुसूचित जातियों, अन्य पिछड़े वर्गों व अल्पसंख्यकों से संबंध रखने वाले मध्यवर्गी कर्मचारियों को संघटित किया था। उसने इसे डी–4 (D-4) में बदल दिया।

उत्तर प्रदेश में बहुजन समाज पार्टी 1993 के विधानसभा चुनाव में समाजवादी पार्टी के साथ मिलकर बहुजन समाज को संघटित करने में सक्षम थी, जिसकी वजह से वह अपने गठबंधन साझीदार समाजवादी पार्टी के साथ मिलकर ही सत्ता में भागीदार बन सकी। समाजवादी पार्टी के साथ मनमुटाव के चलते, ब.स.पा. ने सरकार बनाने के लिए उत्तर प्रदेश में तीन बार भा.ज.पा. (भारतीय जनता पार्टी) के साथ गठजोड़ किया। ब.स.पा. नेत्री मायावती के नेतृत्व वाली सरकारों ने उत्तर प्रदेश में अम्बेडकर ग्रामों को पहचान प्रदान की, जहाँ दलितों की भारी जनसंख्या थी। दलितों पर मुख्य रूप से ध्यान देते हुए, इन गाँवो के समग्र विकास हेतु अम्बेडकर ग्रामों में विशेष कार्यक्रम चलाए गए।

ब.स.पा. के माध्यम से दलित अधिकार–माँग, वस्तुतः, एक प्रक्रिया की निरन्तरता है जो पचास के दशकांत और साठ के दशक में शुरू हुई। तथापि, बहुजन समाज का एक गठबंधन बनाने संबंधी ब.स.पा. की प्रारंभिक रणनीति सफल नहीं हो सकी। बहुजन समाज के सभी प्रमुख घटक, जिन्होंने प्रारम्भः ब.स.पा. के सामाजिक आधारों का निर्माण किया था– ओ.बी.सी., मुसलमान और गैर–जाटव दलितों का एक वर्ग – सत्ता में भागीदारी रखने के अपने कुछ एक वर्षों के भीतर ही ब.स.पा. से अलग हो गए। ब.स.पा. के सामाजिक आधार के विघटन संबंधी प्रथम घटना थी – ब.स.पा. और स.पा. (समाजवादी पार्टी) गठबंधन के बीच दरार।

यद्यपि बहुजन समाज के प्रमुख घटक जिन्होंने ब.स.पा. हेतु सामाजिक आधार तैयार किया था, अलग हो चुके हैं, फिर भी ब.स.पा. सबल राजनीतिक शक्ति बनी हुई है। ब.स.पा. के माध्यम से दलितजन अपनी निजी शर्तों पर राजनीतिक सत्ता में भागीदारी हेतु सौदेबाजी कर सकते है। इसके अलावा, ब.स.पा. जाति संघटन संबंधी अपनी रणनीति बदल चुकी है। वह अब बहुजन समाज की लामबंदी वाली अपनी पहले की रणनीति से चिपकी नहीं रही है। वह सब सर्व समाज (ब्राह्मण, राजपूत व बनियों समेत सभी जातियों) की लामबंदी में विश्वास करती है। यही कारण है कि ब.स.पा. अपने टिकिट उच्च जातियों को भी देती। दलितों के बीच अपने सशक्त आधार के साथ, वह उच्च जातियों को टिकिट बाँटकर उनका भी अतिरिक्त समर्थन हासिल करने में सक्षम है।

15.3.4 वामपंथ और दलित प्रश्न

दलित अधिकार–माँग वामपंथ द्वारा लामबंदी के माध्यम से भी सामने आयी है, खासकर बिहार, आंध्र प्रदेश व कुछ अन्य राज्यों के हिस्सों में। नक्सलवादियों ने दलितों के दोहरे शोषण संबंधी मुद्दे उठाये हैं – आत्म–सम्मान, नारी–शोषण, पगार व भूमि–सुधारों से जुड़े मुद्दों समेत जाति शोषण व वर्ग शोषण। नक्सलवादी लोग अपनी माँगों को मनवाने के लिए हिंसक साधनों के प्रयोग से भी परहेज नहीं करते है। पी.डब्ल्यु. जी. (पीपल्स वॉर ग्रुप), पार्टी यूनिटि, इण्डियन पीपल्स फ्रंट कुछ नक्सलवादी संगठन हैं, जो दलित अधिकार माँग की दिशा में काम करते है। उनका विरोध उच्च जातियों व जमींदार, भूस्वामियों के संगठनों, जैसे बिहार में 'लोरिक सेना' अथवा 'भूमि सेवा' द्वारा किया जाता है।

प्रमुख वाम दलों – सी.पी.आई. (एम.) और सी.पी.आई. अभी हाल तक जाति के प्रश्न पर दलितों को संघटित किए जाने की विशेष आवश्यकता नहीं समझते थे। उनके अनुसार दलितजन गरीब तबकों के घटक हैं, जो आर्थिक शोषण के शिकार हैं। इन दलों को लगता था कि दलितों की आर्थिक दशाओं में सुधार आने से सामाजिक भेदभाव का उन्मूलन भी हो जायेगा। अनुच्छेद 5.12 में सी.पी.आई. (एम.) का पार्टी कार्यक्रम स्पष्ट उल्लेख करता है कि : ''जाति दमन और भेदभाव की समस्या का एक लम्बा इतिहास है और उसकी जड़ें पूर्व–पूँजीवादी सामाजिक व्यवस्था में गहरे कहीं है। पूँजीवादी विकास के अंतर्गत समाज ने वर्तमान जाति–व्यवस्था से समझौता कर लिया है। भारतीय बुर्जुआ वर्ग स्वंय ही जाति पूर्वाग्रहों का पोषण करता है। कामगार वर्ग की एकता जाति–व्यवस्था व दलितों के दमन के विरूद्ध एकता पहले से ही मानकर चलती है, चूँकि दलित जनसंख्या का बड़ा भाग श्रमिक वर्गों का ही हिस्सा है। एक सामाजिक सुधार आन्दोलन के माध्यम से जाति–व्यवस्था व भी प्रकार के सामाजिक दमनों के उन्मूलन हेतु संघर्ष लोकतांत्रिक संकल्प का एक महत्त्वपूर्ण भाग है। जाति–दमन के विरुद्ध लड़ाई वर्ग–शोषण के विरुद्ध संघर्ष से अन्तर्सम्बन्ध है।'' तथापि दलितों व पिछड़े वर्गों के अधिकार माँग के संदर्भ में, इस पार्टियों ने भी अपनी स्थिति पर पुनर्विचार किया है। दूसरों की भाँति उन्हें भी लगता है कि दलितों की नीतियाँ बनाते समय वर्ग मुद्दों के साथ–साथ जाति को भी ध्यान में रखा जाना चाहिए।

15.4 पिछड़े वर्गों की अधिकार माँग

15.4.1 उत्तर भारत

उत्तर भारत में पिछड़ी जातियों की अधिकार–माँग मूल रूप से मझौली अथवा मध्यवर्ती जातियों की अधिकार–माँग हैं, तथा उत्तर प्रदेश, बिहार, राजस्थान व हरियाणा में जाट, यादव, गूजर, कुर्मी, लोध आदि। निम्न पिछड़ी दस्तकार व सेवक–जातियाँ इस प्रकार का हक–दावा पेश नहीं करती जैसा कि मझौली जातियों ने किया है। तथापि, कर्पूरी ठाकुर, जो सेवक जाति – हज्जाम – से संबंध रखते थे, दो बार बिहार के मुख्यमंत्री बने। परन्तु उनका मुख्यमंत्री के पद पर जा पहुँचना सेवक जातियों व दस्ताकारों की अधिकार–माँग का संकेत नहीं था। ठाकुर ने वस्तुतः मध्यवर्ती अथवा मझौली जातियों का प्रतिनिधित्व किया था। स्वतंत्रता–पश्चात् प्रथम दो दशकों के दौरान, पिछड़ी जातियों का प्रतिनिधित्व उत्तरकाल के मुकाबले काफी कम रहा। सत्तर के दशक से ये जातियाँ उत्तर प्रदेश व बिहार में राजनीति पर छा गई। वे ने सिर्फ इन राज्यों में ही बड़ी संख्या में विधायकों और मंत्रियों को बनाती हैं, बल्कि अब वे केन्द्र में सरकार निर्माण में निर्णायक भूमिका निभाती हैं।

स्वतंत्र्योत्तर काल में उत्तर भारत में पिछड़ी जातियों को संघटित करने का श्रेय वस्तुतः चरणसिंह का जाता है। हालाँकि सिंह की अपनी जाति – जाट – को 2002 तक उत्तर प्रदेश में ओ.बी.सी. के रूप में वर्गीकृत नहीं किया गया था, उन्होंने अपनी पहचान यादव, कुर्मी, लोध व गूजर जैसे अन्य पिछड़े वर्गों के साथ बनायी। इन जातियों के राजनीतिक महत्त्व की समझ उनको थी। जबकि वह एक कांग्रेस के सदस्य थे, उन्होंने पिछड़े वर्गों के नेता के रूप में अपने लिए एक खास जगह बनाई। इस उद्देश्य से उन्होंने अपनी रणनीति अति सावधानीपूर्वक तैयार की। पचास व साठ के दशकों के दौरान पिछड़े वर्गों से संबंध रखने वाले किसानों को संबंधित करने के लिए उन्होंने पूर्वी उत्तर प्रदेश के जिलों की यात्रा बहुत जल्दी–जल्दी की। चरणसिंह ने उन्हें कांग्रेस द्वारा निभाई जा रही उस भूमिका से अवगत कराया, जिसमें उन्होंने एक निर्णायक भूमिका निभाई थी, यथा ज़मींदारी उन्मूलन के परिणामस्वरूप उन्हें अपनी जमीन का मालिक बनाना; उन्होंने पिछड़े वर्गों की सभाओं में भाग लिया और भाषण दिए; उन्होंने सहकारी खेती संबंधी नेहरू के विचार और कृषि पर कर आदि थोपे जाने का विरोध किया। भूमि–सुधारों के अलावा, इन समूहों को साठ के दशक में शुरू की गई हरित क्रांति से भी लाभ पहुँचा।

पिछड़े वर्गों को संघटित करने संबंधी उनकी रणनीति ने कांग्रेस के भीतर कुछ उच्च जाति के नेताओं को नाराज कर दिया। परवर्ती ने चरणसिंह पर पिछड़ी जातियों की हिमायत करने और परिणामस्वरूप कांग्रेस से उच्च जातियों को विमुख करने का आरोप लगाया। कांग्रेस के भीतर मतभेदों का परिणाम हुआ – 1967 में कांग्रेस से चरणसिंह का दल–त्याग और 1969 में उनके द्वारा भारतीय क्रांति दल का गठन। यह एक ऐसे वक्त हुआ जब कांग्रेस आठ राज्यों में पराजित हुई, और सरकार के गठन को ग़ैर–कांग्रेसी घटकों द्वारा नेतृत्व प्रदान किया गया।

इस घटनाक्रम ने उत्तर भारत में पिछड़े वर्गों के एक स्वतंत्र नेता के रूप में चरणसिंह को उभरने में मदद की। पहली बार अपने मंत्रीमण्डल में उन्होंने पिछड़े वर्गों को अधिक से अधिक प्रतिनिधित्व प्रदान किया। चरणसिंह के प्रयासों के साथ ही, राममनोहर लोहिया द्वारा प्रभावित समाजवादियों ने भी पिछड़े वर्गों को संघटित किया। पिछड़ी जातियों का गठबंधन उत्तर भारत में 'अजगर' (अहीर, जाट, गूजर व राजपूत) नाम से जाना जाने लगा। इसी प्रकार, गुजरात में पिछड़ी जाति गठबंधन को 'खाम' (खातिया, हरिजन, आदिवासी व मुसलमान) के नाम से जाना जाने लगा। 1974 में भारतीय क्रांति दल और संयुक्त सोशलिस्ट पार्टी का विलय गाँधी वादियों, समाजवादियों और चरणसिंह को एक मंच पर ले आया। इन्होंने उत्तर भारत में पिछड़ा–वर्ग संघटन और अधिकार–माँग को विचारात्मक आवरण प्रदान किया।

पिछड़ वर्गों ने जनता पार्टी में एक महत्त्वपूर्ण स्थान बनाया। 1977–80 के दौरान पिछड़े वर्ग, ग्रामीण क्षेत्र व कृषि संबंधी मुद्दों ने जनता पार्टी सरकार का विशेष ध्यान खींचा। पिछड़ी जातियों की अधिकार माँग का एक परिणाम ही था – पिछड़े वर्गों की पहचान करने के लिए मण्डल आयोग की नियुक्ति। 1989 में विश्वनाथ प्रताप सिंह की सरकार द्वारा मण्डल आयोग रिपोर्ट का क्रियान्वयन दर्शाता है – पिछड़ी–जाति अधिकार–माँग प्रक्रिया की पराकाष्ठा। अन्य–पिछड़े–वर्गों में उन वर्गों का शामिल किए जाने के मापदण्ड, जो सामाजिक व शैक्षिक रूप से पिछड़े हैं, और इसके क्रियान्वयन के कालमापन का परिणाम मण्डल–विरोधी आन्दोलन में नजर आया।

यह घटनाचक्र पिछड़े वर्गों की अधिकार–माँग की ओर इशारा करता है। पिछड़े वर्गों को विभिन्न राजनीतिक दलों में समायोजित किया जाता है : कुछ पार्टियाँ, जैसे बिहार में राष्ट्रीय जनता दल और उत्तर प्रदेश में समाजवादी पार्टी मुख्य रूप से पिछड़े वर्गों की पार्टियाँ है।

15.4.2 दक्षिण भारत

दक्षिण – तमिलनाडु, कर्नाटक व महाराष्ट्र – में पिछड़ी जातियों की अधिकार–माँग उत्तर भारत में उठी अधिकार–माँग से काफी पहले ही शुरू हो चुकी थी। इसने अपनी जड़ें ग़ैर–ब्राह्मण आंदोलन अथवा आत्म–सम्मान आंदोलन में तलाशी, जिसको बीस व तीस के दशक में ई.वी. रामास्वामी नयकर द्वारा नेतृत्व–प्रदान किया गया, जिन्हें लोकप्रिय रूप से 'पेरियर' के नाम से जाना जाता है। पेरीयर की विरासत को उनके सी.एम. अन्ना दुरई व एम. करुणानिधि तथा अनेक अनुयायियों द्वारा आगे ले जाया गया। इसका उद्देश्य था संस्कृति व सार्वजनिक संस्थाओं में ब्राह्मणों के वर्चस्व को समाप्त करना। उसके हिन्दूवाद या ब्राह्मणवाद से पहचाने जाने वाले सांस्कृतिक प्रतीकों की तीखी आलोचना की और ईश्वर में आस्था के खिलाफ़ नास्तिकता का प्रचार किया।

पिछड़े वर्गों की आशाएँ और विचारधारा राजनीतिक दलों के माध्यम से व्यक्त हुई, यथा जस्टिस पार्टी, द्रमुक(द्रविड़ मुन्नेम कड़गम – डी.एम.के), अन्ना द्रमुक, (अन्ना द्रविड़ मुनेत्र कड़गम – ए.डी.एम.के) और ऑल इण्डिया अन्ना द्र.मु.क. (ए.आई.डी.एम.के.)। इसके अलावा, दक्षिण भारत में पिछड़े वर्गों के बहुत–से छोटे दल भी विद्यमान हैं : डी. के., डी.एम.के. का अग्रदूत, स्वांतत्र्योत्तर भारत में सर्वप्रथम दल था जिसने 1950 में तत्कालीन मद्रास प्रांत में पिछड़ी–जाति आरक्षणों के लिए एक बड़ा आन्दोलन शुरू किया। पचास से साठ के दशकों में पिछड़ी–जाति अधिकार–माँग ने एक नृजातीय आन्दोलन का रूप अख्तियार कर लिया, जिसने द्रविड़ों के लिए एक अलग राज्य की माँग की। मद्रास सरकार ने इस प्रकार का पहला आदेश 1951 में जारी किया, जिसने अंततः एक लम्बे समय के बाद, जब 1967 में डी.एम.के. सरकार सत्ता में आयी, प्रथम पिछड़ा वर्ग आयोग नियुक्त किए जाने की ओर प्रवृत्त किया। यह आयोग 1969 में गठित हुआ और उसने अपनी रिपोर्ट अगले वर्ष प्रस्तुत की। डी.एम.के. ने आयोग की सिफारिशें स्वीकार कर लीं, जिनके अनुसार पिछड़ी जातियों के लिए तत्कालीन आरक्षणों की संख्या को 25 से बढ़ाकर 33 प्रतिशत किया जाना था और अनुसूचित जातियों व अनुसूचित जनजातियों के लिए आरक्षण 16 से बढ़ाकर 18 प्रतिशत किया जाना था।

15.4.3 पिछड़ी जातियों के संगठन

स्वातंत्र्योत्तर काल में बड़ी संख्या में पिछड़ा–वर्ग संघ उभरे है। मार्क गैलेण्टर का अवलोकन है कि 1954 तक भारत में 88 संगठन थे, जो पिछड़े वर्गो के हितों को व्यक्त करते थे। इनमें से सबसे महत्त्वपूर्ण उत्तर भारत में विद्यमान थे। ये थे – उत्तर प्रदेश पिछड़ा–वर्ग संघ और बिहार राज्य पिछड़ा–वर्ग संघ। इन दोनों संगठनों का 26 जनवरी 1950 को विलय हो गया और पंजाब राव देशमुख के प्रयासों से अखिल भारतीय पिछड़ा–वर्ग संघ (AIBCF) बना। यह फिर दो समूहो में बँट गया – एक कांग्रेसी विचारधारा को मानने वाला और दूसरा लोहियावादी समाजवाद को। पूर्ववर्ती का प्रतिनिधित्व करते थे पंजाब राव देशमुख और परवर्ती का आर.एल. चाँदपुरी। आर.एल. चाँदपुरी ने 10 नम्बर 1957 को भारतीय राष्ट्रीय पिछड़ा वर्ग संघ (INBCF) की स्थापना की।

इस संगठन ने अन्य पिछड़ा वर्ग (ओ.बी.सी.) के लिए आरक्षण दिलवाने का प्रयास किया और उन्हें 'ब्राह्मण–बनिया राज' उखाड़ फेंकने के लिए सशक्त बनाया। इस संगठन ने अन्य–पिछड़ा वर्गों की चेतना जगाने में योगदान दिया। यह चेतना, जो भूमि–सुधारों व समुचित संख्यात्मक शक्ति का परिणाम थे, ने अन्य पिछड़े वर्गों की

अधिकार–माँग की ओर प्रवृत्त किया। तथापि, यह संगठन सत्तर के दशक तक अधुना लुप्त हो गया। परन्तु पिछड़े वर्गों की एक पीढ़ी राजनीतिक रंगमंच पर पहले ही उभर चुकी थी, जो जनता पार्टी शासन (1977–80) के दौरान अधिक प्रभावशाली हो गयी। ऐसा ओ.बी.सी. नेतृत्व के इस वर्ग के प्रयासों से ही हुआ कि जनता पार्टी सरकार ने द्वितीय पिछड़ा–वर्ग आयोग गठित किया, जिसे उसके अध्यक्ष बी.पी. मण्डल के नाम पर 'मण्डल कमीशन' नाम दिया गया। सरकारी नौकरियों में ओ.बी.सी. के लिए 27 प्रतिशत आरक्षण शुरू करने के प्रयास में, 1989 में मण्डल आयोग रिपोर्ट के क्रियान्वयन ने भारतीय राजनीति का नक्शा ही बदल दिया।

पिछड़े वर्गों की अधिकार–माँग का वर्तमान दौर औपनिवेशिक शासन से देश से स्वतंत्रता–प्राप्ति के आसपास के वर्षों में उनकी अधिकार–माँग का उत्तर भाग है। इसने 29 जनवरी, 1935 को 'कालेलकर आयोग' नामक प्रथम पिछड़ा–वर्ग आयोग की नियुक्ति की ओर प्रवृत्त किया, जिसके अध्यक्ष थे – काका कालेलकर। कालेलकर आयोग का मकसद भारत में सामाजिक व शैक्षिक रूप से पिछड़े वर्गों की पहचान हेतु मापदण्डों का निर्धारण करना था, ताकि सरकार उनके कल्याणार्थ नीतियाँ चला सके। परन्तु, किसी समुदाय की पिछड़ा–वर्ग स्थिति निर्धारित करने हेतु अपनाये जाने वाले मापदण्डों को लेकर आयोग के सदस्यों में मतभेद थे ; एक भाग मापदण्ड के रूप में जाति का समर्थन करता था, तो कोई दूसरे वर्ग का। कालेलकर रिपोर्ट केन्द्र सरकार को भेजी गई। परन्तु सरकार ने पिछड़े वर्गों हेतु आरक्षण शुरू किए जाने के विरूद्ध निर्णय लिया। कलेलकर रिपोर्ट ने, तथापि, पिछड़ा–वर्ग संगठनों की कार्य सूची में प्रमुख स्थान पाया। उन्होंने एक और पिछड़ा–वर्ग आयोग नियुक्त किए जाने की माँग की। द्वितीय पिछड़ा–वर्ग आयोग, यथा मंडल आयोग, इसी का परिणाम था।

15.5 सार–संक्षेप

हमने इस इकाई में पढ़ा कि स्वातंत्र्योत्तर काल में, भारत में दलितजन और अन्य–पिछड़े–वर्ग हठधर्मी और राजनीतिक रूप से प्रबल हो चुके हैं। यद्यपि उनकी अधिकार–माँग हाल के अतीत में अधिक दिखाई पड़ती है, उनके अधिकार–माँग की प्रक्रिया काफी पहले ही शुरू हो चुकी थी। राज्य की नीतियाँ, उनके बीच सचेत वर्गों का उदय और अम्बेडकरवाद, लोहियावाद जैसी विचारधाराओं तथा राजनीतिक व सामाजिक मान्यता हेतु उत्कण्डा को उनकी अधिकार–माँग हेतु कारण माना जा सकता है। तथापि, उनकी अधिकार–माँगे देश भर में एकरूप नहीं रही है। परन्तु, दलितों व अन्य–पिछड़े–वर्गों की गणना राजनीतिक व सामाजिक ताकतों के रूप में होने लगी है।

15.6 अभ्यास

1) भारत में दलितों व अन्य–पिछड़े–वर्गों की सामाजिक–आर्थिक दशा पर चर्चा करें।

2) दलितों की अधिकार–माँग हेतु योगदान करने वाले कारक कौन–से हैं ?

3) भारत में पिछड़ी जातियों की अधिकार–माँग पर एक टिप्पणी लिखें।

अध्याय 16
राज्यीय राजनीति में भाषाई एवं नृजातीय अल्पसंख्यक

अध्याय की रूपरेखा

16.1 प्रस्तावना
16.2 भाषाई एवं नृजातीय अल्पसंख्यक कौन हैं?
16.3 भाषाई अल्पसंख्यक तथा राजनीति
16.4 नृजातीय अल्पसंख्यक तथा राजनीति
16.5 सार–संक्षेप
16.5 अभ्यास

16.1 प्रस्तावना

भाषाई एवं नृजातीय अल्पसंख्यक दल लोकतंत्र में एक महत्त्वपूर्ण स्थान रखते हैं। राजनीतिक प्रक्रियाओं मेंभागीदारी, वितरणकारी न्याय का लाभ उठाने की क्षमता, सुरक्षा, स्वतंत्रता, समानता, आदि के लिहाज से उनकासशक्तीकरण किसी लोकतंत्र के सफलता–स्तर का संकेतक है। भारत जैसे एक बहुसांस्कृतिक एवं विविधतापूर्णसमाज में नानाविध कारकों :- जाति, भाषा, धर्म, प्रजाति, संस्कृति, परंपराएँ, प्रथाएँ आदि :- पर आधारितबहुविध पहचानें लोकतंत्र में अपना स्थान बनाने में महत्त्वपूर्ण भूमिका अदा करती हैं। इन स्थिति–सूचकों परआधारित समाज और राजनीति में संघटन, संरक्षण, भेदभाव किसी लोकतांत्रिक व्यवस्था के महत्त्वपूर्ण हिस्से कानिर्माण करते हैं। इस इकाई में छात्रों को भारत में राज्यीय राजनीति में भाषाई एवं नृजातीय अल्पसंख्यकों सेपरिचित कराने का प्रयास किया गया है।

16.2 भाषाई एवं नृजातीय अल्पसंख्यक कौन हैं?

अल्पसंख्यक वर्ग ऐसे लोगों का एक समूह होता है जिसकी सदस्य–संख्या किसी अन्य समूह के मुकाबले कम होतीहै। यह एक तुलनात्मक शब्द है; एक समूह उस दूसरे समूह की तुलना में अल्पसंख्यक होता है जो कि बहुसंख्यकवर्ग का निर्माण करता है। किसी समूह अथवा समुदाय की अल्पसंख्यक सामाजिक स्थिति एकल स्थिति–सूचकअथवा उससे अधिक हो सकती है, यथा, भाषा, धर्म, संस्कृति, प्रथाएँ, प्रजाति, अर्थव्यवस्था, आदि। किसी समुदायका इस आशय का नामकरण कि वह एक भाषाई, धार्मिक अथवा सांस्कृतिक अल्पसंख्यक वर्ग है अथवा बहुसंख्यकवर्ग है, उस कारक के आधार पर निर्भर करता है जिससे उस समूह अथवा समुदाय की पहचान की जाती है।

भारत में विद्वजन सामान्य तौर पर किसी समुदाय को एकल स्थिति–सूचक :- भाषा, धर्म अथवा क्षेत्र :- केआधार पर सम्बोधित करते हैं। साथ ही, धर्म–आधारित पहचान निर्माण खासतौर पर साम्प्रदायिक माना जातीहै। परन्तु अमेरिकन अथवा यूरोपियन परम्पराओं का अनुसरण करने वाले विद्वजन पहचान–निर्माण को एक वअनेक दोनों ही संकेतकों पर नृजातीय अथवा साम्प्रदायिक मानते हैं। वे नृजातीय व साम्प्रदायिक को अदल–बदलकर प्रयोग करते हैं। भारतीय विद्वान आमतौर पर उस पहचान को नृजातीय के रूप में लेते हैं जो बहुत–सेकारकों से मिलकर बनती है, यथा :- भाषा, जाति, धर्म, संस्कृति, रीति–रिवाज, परम्पराएँ, प्रजाति, अर्थव्यवस्था,आदि। तथापि, दिपांकर गुप्ता का मानना है कि नृजातीयता और सम्प्रदायवाद परस्पर भिन्न हैं : नृजातीयताराष्ट्र–राज्य :- राज्यक्षेत्र व संप्रभुता :- के संदर्भ में संघटन की ओर संकेत करती है। वह संघटन जोराष्ट्र–राज्य निर्देशकों की ओर संकेत नहीं करता, साम्प्रदायिक संघटन होता है।भाषाई अल्पसंख्यकों की पहचान को दो स्तरों पर देखा जा सकता है :- राष्ट्रीय तथा राज्यीय/संघीय राज्यक्षेत्र।

राज्यों के भीतर भी पुनः ऊर्ध्वाधर और क्षैतिज स्तर होते हैं जहाँ भाषाई अल्पसंख्यक विद्यमान होते हैं। अखिलभारतीय स्तर पर भाषाई बहुसंख्यकों में हिन्दी भाषी आते हैं; अन्य भाषाई समूह भाषाई अल्पसंख्यक हैं। परन्तुऐसे भाषाई समूह जो अखिल भारतीय स्तर पर अल्पसंख्यक हैं, विभिन्न राज्यों में भाषाई बहुसंख्यक हैं। राज्योंके भीतर वे समूह जो बहुसंख्यकों की भाषा नहीं बोलते, भाषाई अल्पसंख्यक हैं। भारत के सभी राज्य एक सेअधिक भाषाई अल्पसंख्यक रखते हैं। भाषा के आधार पर राज्यों के गठन ने वहाँ से भाषाई विविधता को नहींमिटाया। उल्टे, हर राज्य में बड़ी संख्या में भाषाई अल्पसंख्यक रहते हैं। राज्यों के भीतर, उन क्षेत्रों में जिनकीसीमा अन्य राज्यों से लगती है, वहाँ ऐसे भाषाई अल्पसंख्यक पाये जाते हैं जो किसी अन्य राज्य के भीतर भाषाईसमूह से सम्बन्धित हो सकते हैं।

हमारे देश में 18 राष्ट्रीय भाषाएँ हैं जो संविधान की आठवीं अनुसूची में दी गई हैं। ये हैं :- असमिया, बंगाली,गुजराती, हिन्दी, कन्नड़, कश्मीरी, कोंकणी, मलयालम, मराठी, मणिपुरी, नेपाली, उड़िया, पंजाबी, संस्कृत,सिन्धी, तमिल, तेलुगु और उर्दू। हिन्दी को छोड़कर इनमें से अधिकांश भाषाएँ किसी–न–किसी राज्य की मुख्यभाषा के रूप में प्रचलित हैं। इन भाषाओं में से हिन्दी से अपेक्षा की जाती है कि जहाँ कहीं भी आवश्यक होअपनी शब्दावली में मुख्यतः संस्कृत और गौणतः अन्य भाषाओं से शब्द लें। इनके अलावा, राज्यों में विभिन्नसमुदायों द्वारा विभिन्न क्षेत्रों में सैकड़ों बोलियाँ और भाषाएँ बोली जाती हैं। इन समुदायों में से अनेक संविधानकी आठवीं अनुसूची में अपनी बोलियों और भाषाओं को शामिल करने की माँग कर रहे हैं। आठवीं अनुसूचीमें उनका शामिल होना राजनीतिक कारकों पर निर्भर करता है। दरअसल, सिंथिया ग्रॉफ का तर्क है कि भारतमें बहुत–सी भाषाएँ एक राजनीतिक प्रश्न बनी हुई हैं और अल्पसंख्यक भाषा का जनगणना कोटिकरण उससंख्या को प्रभावित करता है। ''भले ही अल्पसंख्यक भाषाओं को कार्यालयी भाषाओं के रूप में औपचारिकसंवैधानिक मान्यता प्राप्त नहीं है, अपने बोलने वालों के लिए वे समुदाय की पहचान बनाने में ज़रूर अहमियतरखती हैं और महत्त्वपूर्ण राजनीतिक प्रश्न भी हैं। यद्यपि अल्पसंख्यक भाषाओं को आठवीं अनुसूची में उल्लिखित18 भाषाओं की भाँति कार्यालयी मान्यता प्राप्त नहीं है, भाषाई अल्पसंख्यकों के ''उनकी भाषाओं के प्रतिषेध के प्रतिऔर कुछ भेदभाव से'' भाषाई व सांस्कृतिक हितों की रक्षा के लिए संविधान (अनुच्छेद 29–30 में) बचाव हैं।

तथापि, सांस्कृतिक व भाषाई संस्थाएँ स्थापित करने हेतु प्रावधानों को छोड़कर, भाषाई अल्पसंख्यकों को औरकोई संरक्षण प्राप्त नहीं है। भाषाई अल्पसंख्यकों को और कोई संरक्षण प्राप्त नहीं है। भाषाई अल्पसंख्यकों केमुद्दों पर ध्यान देने के लिए राजनीतिक स्थापन द्वारा कोई प्रयास नहीं किया जाता, क्योंकि वे राजनीतिक रूपसे अनिश्चय की स्थिति में रहते हैं। पटनायक जैसे कुछ विद्वानों का मानना है कि ''त्रि–भाषा फार्मूले मेंअल्पसंख्यकों की मातृ–भाषा शामिल नहीं है।'' त्रि–भाषा फार्मूले का अपनाया जाना भी राज्य–राज्य मेंभिन्न–भिन्न रहा; कुछ ने तीन तो कुछ ने चार भाषा फार्मूले को चुना। कुछ प्रेक्षकों का, दरअसल, तर्क है कित्रि–भाषा फार्मूला भेदभावपूर्ण है : हिन्दी–भाषा क्षेत्रों में वस्तुतः यह द्वि–भाषा फार्मूला है, जबकि अनेक राज्यों मेंभाषाई अल्पसंख्यकों के लिए यह कार्यतः एक चतुर्भाषा फार्मूला है

भारत में पहचान–आधार के रूप में भाषा के महत्त्व को बीसवीं शती–आरम्भ में मान्यता मिली, जब कांग्रेस नेस्वयं को भाषाई पद्धति पर संगठित किया था। परन्तु स्वतंत्रताप्राप्ति के पश्चात् कांग्रेस ने भाषाई आधार पर

राज्यों को गठित किए जाने संबंधी अनिच्छा तब तक दर्शायी जब तक कि राज्य पुनर्गठन आयोग ने राज्य केभाषाई संगठन हेतु अपने सिफ़ारिशें पेश नहीं कर दीं। यह भी आंध्र प्रदेश के एक गाँधीवादी पी. श्रीरामुलु कीमृत्यु के परिणामस्वरूप हुआ, जिन्होंने कि एक तेलुगु राज्य आंध्रप्रदेश की माँग करते हुए भूख–हड़ताल पर हीदम तोड़ दिया था। जिसके परिणामस्वरूप 1953 आंध्र प्रदेश राज्य का गठन हुआ। भाषाई आधार पर राज्योंके पुनर्गठन ने, बहरहाल, भाषाई प्रश्न का समाधान नहीं किया। नए राज्यों में अनेक ऐसी भाषाएँ थीं जो जनताके अल्पसंख्यक वर्गों द्वारा बोली जाती थीं। इन भाषाओं को औपचारिक मान्यता कतई नहीं मिली। इस बात नेराज्यों के भीतर भाषा– आधारित विवादों को जन्म दिया। भाषाई बहुसंख्यकों का आरोप है कि भाषाईअल्पसंख्यकों ने बहुसंख्यकों की भाषा को न समायोजित किया है, न आत्मसात किया है और न ही उसे आदरदिया है; जो कि परवर्ती के लिए अवश्यकरणीय है, जैसा कि उनसे उम्मीद की जाती है। भाषाई अल्पसंख्यकों का,दूसरी ओर, आरोप है कि उन बहुसंख्यक समुदायों द्वारा उनके खिलाफ़ पक्षपात किया जाता है जिन्होंनेपूर्ववर्ती पर अपनी भाषा थोपी है। यह अंततोगत्वा उनकी भाषा और संस्कृति के लुप्त हो जाने पर मज़बूर करतीहै। उनकी माँग है कि उनकी भाषा पर आधारित एक राज्य की स्थापना हो सकता है; कुछ लोग राज्यों केभीतर राज्यक्षेत्रीय स्वायत्तता की माँग करते हैं। इस प्रकार, देश के एक न एक राज्य में माँगों का उठाया जानाजारी है।

नृजातीयता और भाषाई पहचान के बीच गहरा संबंध है। कुछ विद्वजन नृजातीयता, भाषाई पहचान औरसम्प्रदायवाद के बीच कोई भेद नहीं करते। एक भाषाई अल्पसंख्यक वर्ग अपने सदस्यों के बीच बहुत से सहजगुणोंकी साझेदारी करता है। ऐसे किसी संघटन में, जो बस एक ही कारक :- भाषा :- पर आधारित हो, उस भाषाईसमूह के उन सदस्यों का सामूहिक संघटन वहीं होता है। ऐसा विशेष रूप से एक भाषाई समूह के सदस्यों कादूसरे भाषाई समूह के सदस्यों के साथ संघर्ष के संदर्भ में होता है। इसीलिए, संघटन के समय एक समूह कीनृजातीय पहचान और उसकी भाषाई पहचान, दोनों धुंधली पड़ जाती हैं।

16.3 भाषाई अल्पसंख्यक तथा राजनीति

भाषाई अल्पसंख्यकों की राजनीति पर मुख्य रूप से इन कारकों का प्रभाव पड़ता है : उनका स्वयं–संबंधी औरभाषाई बहुसंख्यक–संबंधी बोध, उनके प्रति भाषाई बहुसंख्यकों का विचार भाव, और भाषाई अल्पसंख्यकों–संबंधी भाषाई बहुसंख्यकों का प्रत्यक्ष ज्ञान। विभिन्न राज्यों में भाषाई बहु–संख्यकों की माँग रही है कि भाषाईअल्पसंख्यक वर्ग शैक्षिक संस्थाओं में शिक्षण–माध्यम और कार्यालयी भाषा के रूप में बहुसंख्यक वर्ग की भाषाअपना लें। उन्होंने यह काम तीन– या चार–भाषा फार्मूले के माध्यम से किया है। इन भाषाई बहुसंख्यक वर्गोंने संविधान की आठवीं अनुसूची में अपनी भाषा को

शामिल कर उसको संरक्षण दिए जाने की माँग की है। यहध्यान देने योग्य बात है कि एक कार्यालयी भाषा के रूप में उनकी भाषा को मान्यता दिए जाने अथवा आठवींअनुसूची में उसको शामिल किए जाने हेतु माँग एक स्वतंत्र माँग के रूप में विरले ही उठायी जाती है; यह उनकीअनेक माँगों में से एक है। इस संबंध में भाषाई अल्पसंख्यकों की माँगें भी नृजातीय अल्पसंख्यकों की माँगें हैं।

एक भाषाई अल्पसंख्यक वर्ग सहकालिक रूप से नृजातीय अल्पसंख्यक वर्ग भी हो सकता है। ये नृजातीयअल्पसंख्यक वर्ग अपने लिए अलग राज्यों की माँग भी करते हैं; उन्हें लगता है कि इस प्रकार के राज्यों में उनकीसांस्कृतिक एवं भाषाई पहचान सुरक्षित रहेगी। भारत के राज्यों में भाषाई बहुसंख्यकों और अल्पसंख्यकों के बीचदंगों के असंख्य उदाहरण मिलते हैं। इस पाठांश में भाषाई अल्पसंख्यकों और राजनीति के बीच संबंधों केउदाहरणों पर चर्चा की गई है।चलिए, उत्तर–पूर्व भारत से शुरुआत करते हैं। उत्तर–पूर्व भारत के राज्यों में बड़ी संख्या में भाषाई अल्पसंख्यकहैं। इस भूभाग के भाषाई समूहों का संबंध पुनः नृजातीय समूहों से जोड़ा जा सकता है। परवर्ती नृजातीय समुदायोंके दो गुटों से संबंध रखते हैं :- अल्पसंख्यक देशज समूह जो राज्य के बाहर कहीं से भी प्रव्रजन करके नहींआये हैं, और दूसरे वे जो अन्य राज्यों से आये और रोज़गार की तलाश में गत वर्षों में वहाँ बस गए। परवर्तीमें अल्पसंख्यक बहु–भाषी समूह शामिल हैं। इसके विपरीत पूर्ववर्ती में अनेक एक–भाषी अल्पसंख्यक समूह आतेहैं। उत्तर–पूर्वी राज्यों में असम ऐसा राज्य है जहाँ भाषाई अल्पसंख्यकों ने अपनी भाषा को सभी की कार्यालयीऔर न्यायालयी भाषा बनाने हेतु भाषाई बहुसंख्यकों के प्रयास का विरोध किया है। इन अल्पसंख्यक भाषाई समूहोंने ऐसी शिक्षण संस्थाओं को खोले जाने की बात कह अपनी निजी भाषाओं को संरक्षण दिए जाने की माँग करकेइसका विरोध किया है, जहाँ शिक्षण–माध्यम भाषाई बहुसंख्यक वर्ग की भाषा न होकर उनकी मातृ–भाषा हो।

असम में मुख्य भाषाई विवाद असमिया और ग़ैर–असमिया भाषाओं के बीच रहा है। जब असम एक संयुक्त राज्यथा, यानी असम से अन्य राज्यों को काट निकाले जाने से पूर्व, विवाद एक ओर असमियाओं और दूसरी ओरग़ैर–असमियाओं के बीच था। परवर्ती में बंगाली, जनजातीय भाषाएँ, आदि शामिल थीं। परन्तु असम में से अलगराज्यों के बन जाने के बाद, खासकर 1972 में मेघालय, असम में मुख्य अन्तर्विरोध बंगालियों और असमियाओंके बीच ही रहा। बंगाली ब्रह्मपुत्र घाटी में और असमिया बराक घाटी में अल्पसंख्यक भाषाई समूह थे। बंगालियोंको डर था कि कार्यालयी भाषा के रूप में असमिया लागू किए जाने से ब्रह्मपुत्र घाटी में बंगालियों की प्रगति मेंबाधा पड़ेगी।असम में असमिया–बंगाली भाषाई विवाद का संबंध औपनिवेशिक राजनीति से जोड़ा जा सकता है। असम परकब्ज़ा करने के कुछ वर्षों के भीतर ही, अंग्रेजों ने बंगाली को कार्यालयी भाषा बना दिया। असमियाओं ने आरोपलगाया कि अंग्रेजों ने ऐसा बंगालियों के दबाव में आकर किया और यह उनके प्रति भेदभावपूर्ण है। उनकी माँगथी कि असमिया को असम में कार्यालयी एवं न्यायालयी भाषा घोषित किया जाये। इसने दो भाषाई समूहों केबुद्धिजीवियों के बीच एक बहस छिड़ गई। बंगालियों का तर्क था कि असम के लिए किसी पृथक् न्यायालीय भाषाकी कोई आवश्यकता नहीं है, क्योंकि असमिया असमियाओं की एक बोली मात्र है। असमिया बुद्धिजीवियों का,दूसरी ओर, तर्क था कि असमिया बंगालियों की भाषिका नहीं है; यह एक स्वतंत्र भाषा है जिसकी अपनी लिपिऔर इतिहास है। बंगाली के स्थान पर असमिया को कार्यालयी भाषा के रूप में रखा जाना चाहिए। अंग्रेजों ने 1873 में कार्यतः असमिया को कार्यालयी भाषा घोषित भी कर दिया। तभी से इन दो भाषाई समूहों के बीच विवाद किसी–न–किसी रूप में जारी रहा।

स्वातंत्र्योत्तर काल, 1960, में जब असम सरकार ने असमिया को एक कार्यालयी भाषा के रूप में लागू किया तो इसने हिंसक रूप ले लिया। यह असम के खासी–प्रधान हिस्से में, एकजनजातीय राज्य हेतु माँग में भी परिणत हुआ। बंगालियों, अन्य ग़ैर–जनजातियों एवं जनजातीय समूहों समेत सभीग़ैर–असमिया समुदायों ने एक अलग राज्य के निर्माण हेतु एक आन्दोलन छेड़ दिया। मेघालय के बनने के साथही असमिया तदोपरांत कार्यालयी भाषा नहीं रही। परन्तु असम के भीतर भाषाई अल्पसंख्यक वर्गो, जनजातीयव बंगाली दोनों, का भाषाई बहुसंख्यक वर्गों, द्वारा भेदभाव संबंधी शिकायत किया जाना बरकरार है।भाषाई राज्यों के निर्माण ने उन समूहों को भाषाई बहुसंख्यक वर्गों का दर्जा दे दिया जो अखिल भारतीय परिदृश्यके संदर्भ में भाषाई अल्पसंख्यक थे। बल्कि इसने इन राज्यों के भीतर भाषाई अल्पसंख्यकों को नाज़ुक स्थितिमें भी धकेल दिया। भाषाई नीतियों में भेदभाव का सामना करने के अलावा, वे एक असाधारण प्रसंग में प्रबलभाषाई समूहों की कड़ी आलोचना का विषय भी बन गए। उदाहरण के लिए, भाषाई समुदाय जो एक राज्य मेंअल्पसंख्यक है, दूसरे में बहुसंख्यक होगा; यह बात विपरीततः भी सत्य है। इन समूहों के बीच विवाद, जो ज़रूरीनहीं कि भाषा–आधारित हो, उनके लिए दूसरे राज्यों में अपने अप्रत्यक्ष प्रभाव रखता है।

1992 में, दो दक्षिण भारतीय राज्यों :- तमिलनाडु और कर्नाटक :- में भाषाई समूह ही उग्र भाषाई दंगों में शामिल थे। ये दंगे एक तरीके से भाषा से ही संबंधित थे। यह उस विवाद का ही नतीजा था जो इन दो राज्यों के बीच कावेरी जल केबँटवारे को लेकर छिड़ा हुआ था। कन्नड़भाषियों द्वारा जानोमाल को नुकसान पहुँचाने के लिए तमिलभाषियोंको निशाना बनाया गया। अल्पसंख्यक तमिलभाषाई समूहों ने अपनी भाषा और संपत्ति की रक्षा किए जाने केलिए विशेष कदम

उठाये जाने की माँग की।पॉल आर. ब्रास का दावा है कि राज्य सरकारों ने अल्पसंख्यक भाषाओं के खिलाफ़ भेदभावपूर्ण नीतियाँ चलाईहुई हैं और केन्द्र सरकार ने भी उनकी रक्षा नहीं की है। उर्दू और उत्तर बिहार में बोली जाने वाली मिथिलाके प्रति रुख ऐसे ही उदाहरणों में शामिल है। इसके अलावा, उर्दू जो देश के अनेक भागों में बोली जाती है, औरउत्तर प्रदेश में एकमात्र सबसे अधिक बोली जाने वाली अल्पसंख्यक भाषा है, साम्प्रदायिक ताकतों द्वारा विवाद काविषय बना दी गई है। उर्दू को कार्यालयी भाषा का दर्जा दिए जाने के किसी भी प्रयास का जवाब कुछ समूहोंद्वारा यह कह कर दिया जाता है कि यह मुसलमानों का तुष्टीकरण है। परन्तु उर्दू–भाषी तबके, जिनमें हिन्दूव मुस्लिम दोनों शामिल हैं, उर्दू के विरोध को भाषाई अल्पसंख्यकों के खिलाफ़ पक्षपात किए जाने के प्रयास केरूप में देखते हैं।पंजाब में भी साठ के दशक के पंजाबी सूबा आन्दोलन के दौरान भाषाई मुद्दा हिन्दुओं व सिखों के बीचसाम्प्रदायिक फूट से जुड़ गया। आर्य समाज ने ग़ैर–सिख पंजाबियों के दृष्टिकोण को प्रभावित किया, जिन्होंनेजनगणना विवरण में अपनी भाषा हिन्दी घोषित की, जबकि वस्तुतः यह थी पंजाबी। ऐसा भाषा के साम्प्रदायीकरणऔर हिन्दुओं के इस भय के कारण था कि हरियाणा को निकालकर अलग पंजाब राज्य के निर्माण से वहाँ हिन्दूएक अल्पसंख्यक समुदाय के रूप में ही रह जायेंगे। उन्हें लगा कि हिन्दी को अपनी मातृ–भाषा के रूप में घोषितकिया जाना एक अलग पंजाब राज्य हेतु मुद्दे को कमज़ोर करेगा।

16.4 नृजातीय अल्पसंख्यक तथा राजनीति

जैसा कि पहले उल्लेख किया गया, भारतीय प्रसंग में नृजातीय पहचान उस भाषाई पहचान, जातीय अथवासाम्प्रदायिक पहचान से भिन्न, बहुत से कारकों पर आधारित है जो किसी एक गुण या लक्षण पर आधारित होतीहै। चूँकि नृजातीय पहचान एक सापेक्ष पहचान है, एक नृजातीय समूह की राजनीति दूसरे नृजातीय समूह हीराजनीति के आलोक में ही रूपायित होती है। पुनः नृजातीय राजनीति काफ़ी हद तक वास्तविक व काल्पनिककारकों पर निर्भर करती है। भारत के सभी राज्यों में नृजातीय अल्पसंख्यक पाये जाते हैं। परन्तु यह बहुधा ऐसेराज्यों में ही होता है कि उनकी राजनीति विशेष महत्त्व ग्रहण कर ले, जहाँ आत्म–निर्णयन् आन्दोलनोंहेतु राजनीति आन्दोलन देखे गए, यथा स्वायत्तता आन्दोलन, पृथकतावादी आन्दोलन, बहुत से राज्यों मेंइस प्रकार के आन्दोलन, आदि देखे जा रहे हैं। परन्तु उत्तर–पूर्व भारत, जम्मू–कश्मीर व पंजाब में येसर्वाधिक हठधर्मी हैं। इस पाठांश में हम इन राज्यों में राजनीति और नृजातीय अल्पसंख्यक वर्गों के बीचसंबंध का अध्ययन करेंगे। यहाँ नव–गठित राज्यों के प्रसंग में भी इस मुद्दे पर कटाक्ष करने का प्रयास कियागया है।

उत्तर–पूर्व भारत के राज्यों में दो प्रकार के नृजातीय अल्पसंख्यक पाये जाते हैं :- एक, वे जो वहाँ सदियों सेरहते आये हैं, और दूसरे वे जो उन्नीसवीं शताब्दी से देश के विभिन्न भागों से प्रव्रजन के फलस्वरूप वहाँ बसगये, और जिनका इस भूभाग में प्रव्रजन अब भी जारी है। प्रत्येक नृजातीय समूह को आगे उनकी पृष्ठभूमि,संस्कृति, आदि में विभाजित किया जाता है। आप्रवासी आदि उपनिवेशकों को आगे उनके मूल राज्यों में बाँटाजाता है, यथा वे राज्य जहाँ से उन्होंने प्रवास किया। परन्तु बहुसंख्यक नृजातीय समूहों के साथ अपने संघर्ष केचलते उनके भिन्नताएँ धुँधली पड़ जाती हैं और वे नृजातीय अल्पसंख्यकों के एक अनौपचारिक संघ में संगठितहोने लगते हैं। कभी–कभी एकमात्र अल्पसंख्यक वर्ग भी नृजातीय बहुसंख्यक वर्ग के साथ संघर्षरत रहता है, जोउसे विभिन्न नृजातीय अल्पसंख्यकों में बाँट देता है। उत्तर–पूर्व भारत में नृजातीय अल्पसंख्यकों की राजनीतिके कुछ सबसे महत्त्वपूर्ण उदाहरण इनसे जुड़े हैं :- नागालैण्ड में कुकी, असम में बोडो, संथाल व कार्बी तथामेघालय में ग़ैर–जनजातीय जन।

नृजातीय अल्पसंख्यक वर्ग कभी–कभी एक साझा अनुसरण में बहुसंख्यक समूहों में शामिल हो जाते हैं। परन्तुजब आन्दोलन अपना लक्ष्य प्राप्त कर लेता है, तो प्रबल नृजातीय समूह उन्हें उनका यथोचित तथा मान्यता दिएजाने से पीछे हट जाता है। यह उनमें उपेक्षा और पक्षपात का भाव जगाता है। परिणामतः वे भी अपने नृजातीयसमूह के लिए स्वायत्तता की माँग करते हैं। असम की बोडो और कार्बी जनजातियाँ इस प्रसंग में उपयुक्तउदाहरण हैं। इन दो जनजातियों ने 'आसू' (अखिल असम छात्र संघ) के नेतृत्व में असम में विदेशियों के खिलाफछह वर्ष लम्बे आन्दोलन में पूरे दिल से भाग लिया। परन्तु जब अ.ग.प. (असम गण परिषद्) ने सरकार बनाईतो अ.ग.प./'आसू' द्वारा, जिस पर कि असम के बहुसंख्यक नृजातीय समूह का प्रभुत्व था, उनके मुद्दों/समस्याओंकी उपेक्षा की गई। परिणामतः बोडो ने एक बोडोलैण्ड बनाये जाने की माँग को लेकर आन्दोलन छेड़ दिया।यही उदाहरण कार्बी आन्लोंग ज़िले की कार्बी जनजाति के लोगों पर भी लागू होता है।नृजातीय अल्पसंख्यकों की राजनीति नृजातीय बहुसंख्यकों की राजनीतिक प्रक्रिया से ही निर्धारित होती है।

चलिए, मेघालय के मामले में नृजातीय अल्पसंख्यकों का उदाहरण लेते हैं। नृजातीय अल्पसंख्यक वहाँ तीनस्थानीय जनजातियाँ हैं :- खासी, गारो, और जैन्तिया। प्रमुख नृजातीय अल्पसंख्यक हैं :- बंगाली, नेपाली,बिहारी और राजस्थानी/मेवाड़ी। साठ के दशक में ये दोनों नृजातीय समुदाय एक पृथक् मेघालय राज्य कोतत्कालीन असम से काट निकालने की माँग करने एकजुट हुए। एक पृथक् राज्य हेतु उनकी माँग के पीछे'मुख्य कारणों' में एक था :- असमियो को एक कार्यालयी भाषा बनाये जाने के खिलाफ़ उनकी आम शिकायत,जिसका कि उन्होंने असम में नृजातीय बहुसंख्यकों के

रूप में विरोध किया। उस समय उनके बीच संबंधों कीपहचान थी नृजातीय साम जस्य। परन्तु 1972 के मेघालय का गठन के वेला में, नृजातीय अल्पसंख्यकों वबहुसंख्यकों के बीच ये संबंध नृजातीय संघर्ष से अभिलक्षित हुए।

अपनी पहचान, परम्परा व संस्कृति की रक्षार्थ नृजातीय बहुसंख्यक वर्गों से संबंध रखने वाले राजनीतिज्ञों नेकुछ नीतियाँ चलायीं। उन्होंने संपत्ति कानून लागू किए, जिन्होंने ग़ैर–जनजातीय व जनजातीय लोगों को अन्यराज्यों से संपत्ति खरीदने, विरासत में पाने व उसे बेचने से रोका; वहाँ की स्थानीय जनजातियों अथवा नृजातीयबहुसंख्यकों के लिए राज्य सरकार की नौकरियों व राज्य विधानसभाओं में सीटें सुरक्षित कीं। इसके अलावा, बड़ीसंख्या में माँगें उठाई गईं हैं जो कि राज्य के बहुसंख्यक नृजातीय समुदाय का पक्ष लेने का प्रयास करती हैं।इन्होंने नृजातीय बहुसंख्यकों व अल्पसंख्यकों के बीच नृजातीय दरार को और चौड़ा करने में योगदान दिया। यहनृजातीय दंगों में भी परिणत हुआ।नृजातीय बहुसंख्यकों की राजनीति नृजातीय अल्पसंख्यकों की राजनीति को एक प्रसंग प्रदान करती है।नृजातीय बहुसंख्यकों की राजनीति से भिन्न, नृजातीय अल्पसंख्यकों की राजनीति हमेशा प्रबल राजनीतिक दलोंअथवा प्रभावशाली राजनीतिक संघटन का रूप नहीं लेती। यह उनके राजनीतिक एवं मानव अधिकारों के हननसंबंधी शिकायतों के रूप में व्यक्त होती है। वे चुने जाने, नौकरियाँ पाने व मौलिक अधिकारों का उपभोग करनेसंबंधी अधिकार आदि शब्दों में भेदभावपूर्ण रवैया अपनाये जाने की शिकायत करते हैं। ये बहुसंख्यक नृजातीय समुदाय संविधान की छठी अनुसूची में रखे गए विशेष अधिकार के रूप में अपने लिए राज्य द्वारा दिए गए विशेषउपायों की दुहाई देते हैं। दूसरी ओर नृजातीय अल्पसंख्यक यह तर्क देते हैं कि यदि उनके लिए विशेष कदम नउठाये गए तो नृजातीय बहुसंख्यक वर्ग उनके अधिकारों का अतिक्रमण करेंगे। नतीजन उनकी पहचान ही समाप्त
हो जायेगी।

एक अन्य क्षेत्र जो संविधान की धारा–370 के अन्तर्गत विशेष संरक्षण का लाभ उठाता है, वो है जम्मू–कश्मीर। इस राज्य में तीन मुख्य नृजातीय अल्पसंख्यक वर्ग हैं :- लद्दाख क्षेत्र की बौद्ध जनजातियाँ, जम्मू क्षेत्र की अवामऔर कश्मीरी पंडित। जम्मू–कश्मीर की राजनीति के संदर्भ में कश्मीरी पंडितों की नृजातीय पहचान की खासनिशानी धर्म ही है जबकि अन्य दो समूहों की पहचान है :- धर्म, भाषा और क्षेत्र। इन तीन समूहों ने कश्मीरियोंके प्रबल नृजातीय समूहों द्वारा भेदभाव किए जाने को महसूस किया। कश्मीरी पंडित अपने ही पैतृकनिवास–स्थान से विस्थापित होकर विप्लव के शिकार हो गए। उनसे भेदभाव का मुख्य आधार धर्म ही रहा है।उनकी राजनीति उनकी उत्तरजीविता, मानवाधिकारों और पुनर्वास आदि मुद्दों के इर्द–गिर्द ही घूमती रही। वेआतंकवादी गतिविधियों के शिकार हुए हैं क्योंकि वे एक नृजातीय अल्पसंख्यक वर्ग से संबंध रखते हैं। दरअसल,उनके कुछ प्रतिनिधियों ने प्रमुख नृजातीय समूह के रूप में कश्मीरी पंडितों वाले एक पृथक् राज्य को बनाये जानेकी माँग की है। जम्मू और लद्दाख क्षेत्रों में नृजातीय अल्पसंख्यकों की शिकायतों का आधार क्षेत्रीय भी है और धार्मिक भी।उनका आरोप है कि राज्य के प्रबल नृजातीय समूहों ने राज्य सत्ता हथियाई हुई है, जो कश्मीर–क्षेत्र में अपनाआधार मज़बूत करने में लगे हुए हैं। उनके विभिन्न धार्मिक व सांस्कृतिक कारक उनके प्रति भेदभाव को औरअधिक बढ़ा देते हैं। राजनीति में इसके अप्रत्यक्ष परिणाम लद्दाख क्षेत्र को संघ राज्य–क्षेत्र का दर्ज़ा दिए जानेऔर जम्मू क्षेत्र हेतु एक पृथक् राज्य बनाये जाने के लिए माँग में दिखाई पड़ते हैं। हिन्दू दक्षिण–पंथी राजनीतिकसंगठनों की माँग है कि राज्य को धर्म के आधार पर तीन हिस्सों में बाँट दिया जाये।

राज्यों में नृजातीय अल्पसंख्यक वर्ग एक ऐसा मुद्दा बन गए हैं जिस पर नृजातीय बहुसंख्यक वर्ग अपनी राजनीतिकरते हैं। उनकी विद्यमानता परवर्ती से संबंध रखने वाले राजनीतिज्ञों द्वारा खुद के विकास के प्रतिकूल के रूप में प्रकट की जाती है। नृजातीय अल्पसंख्यकों को नौकरी अवसरों को छीन लेने वालों, ज़मीन–जायदाद को झपटलेने वालों, उनके प्राकृतिक संसाधनों का अनुचित लाभ उठाने वालों (उत्तर–पूर्व के उदाहरण में) तथा अपनीसांस्कृतिक पहचान पर मँडराते खतरे के रूप में देखा जाता है। इन आरोपों में से कुछ तो कल्पनाजनित ही हैं।प्रबल नृजातीय समूहों से संबंध रखने वाले राजनीतिज्ञ ''मिट्टी के सपूतों'' की रक्षा किए जाने की माँग करतेहैं। वे अपने राज्य/नगर से ''बाहरी व्यक्तियों'' को निकाले जाने हेतु राजनीति आन्दोलन छेड़ते हैं। प्रायः हीयह नृजातीय हिंसा की ओर प्रवृत्त करता है।विशिष्ट राजनीतिक प्रसंग में, खासकर चुनावों से पूर्व अथवा पश्चात्''मिट्टी के सपूतों'' संबंधी माँगें और अधिक कर्कश हो उठती हैं। मुम्बई में आप्रवासी आदि–उपनिवेशकों केखिलाफ शिव सेना का आन्दोलन तथा उत्तर–पूर्व में इसी प्रकार के आन्दोलन नृजातीय अल्पसंख्यकों सेसंबंधित कुछ उदाहरण हैं जो राजनीतिक संघर्ष और संघटन का मुद्दा बनते जा रहे हैं।

16.5 सार–संक्षेप

भाषाई और नृजातीय अल्पसंख्यकों का सशक्तीकरण एक लोकतंत्र की सफलता का सूचक है। अल्पसंख्यक वर्गवे समूह हैं जिसकी सांख्यिक शक्ति दूसरे से कम है, यानी बहुसंख्यक वर्गों से। किसी भाषाई अल्पसंख्यक वर्ग कीपहचान का आधार होता है :- भाषा, जबकि नृजातीय अल्पसंख्यक वर्ग के पहचान–आधार बहुत से हैं। परवर्तीमें मुख्य रूप से जाति,

भाषा, धर्म, प्रथाएँ, परम्परा, अर्थव्यवस्था, आदि शामिल होते हैं। प्रायः भाषाई औरनृजातीय अल्पसंख्यक वर्गों की सीमाएँ परस्पर अतिक्रमण करती हैं। भारत में सामान्यतया विद्वजन ही एकलपरिवर्त्य :- भाषाई, साम्प्रदायिक (धार्मिक) अथवा जातीय :- पर बनी पहचान, और बहु–परिवर्त्य नृजातीयपहचान के बीच भेद करते हैं। अमेरिकी और यूरोपीय परम्पराओं के अनुयायी विद्वान नृजाति तथा भाषाई अथवासाम्प्रदायिक पहचान को अदल–बदल कर प्रयोग करते हैं।भारत के लगभग सभी राज्यों में भाषाई अल्पसंख्यक पाये जाते हैं। उनकी राजनीति सापेक्ष होती है। यह भाषाईनृजातीय बहुसंख्यकों की राजनीति से ताल्लुक रखकर ही होती है अथवा उसके प्रसंग में ही। भाषाई औरनृजातीय अल्पसंख्यक वर्ग बहुसंख्यक वर्गों द्वारा उपेक्षित और प्रतिपक्षपातपूर्ण महसूस करते हैं। परवर्तीअल्पसंख्यकों को झगड़े की जड़ अथवा अपनी राजनीति का लक्ष्य बना देते हैं। वे अपनी समस्याओं के लिएबहुसंख्यकों को ही उत्तरदायी मानते हैं। कई बार यह धार्मिक अल्पसंख्यकों और बहुसंख्यकों के बीच दंगों के रूप में सामने आता है। नृजातीय अल्पसंख्यक वर्ग बदले में बहुसंख्यक वर्गों से स्वायत्तता और अपनी भाषा कोसंविधान की आठवीं अनुसूची में शामिल कर उसे कार्यालयी भाषा बनाये जाने की माँग करते हैं।

16.5 अभ्यास

1) भाषाई अल्पसंख्यक वर्गों के अभिलक्षणों पर चर्चा करें।

2) भारतीय राज्यों में भाषाई अल्पसंख्यकों की राजनीति के अभिलक्षणों की पहचान कर उन पर चर्चा करें।

3) भारतीय राज्यों में भाषाई अल्पसंख्यकों की राजनीति के मापदण्डों पर चर्चा करें।

अध्याय 17
भारत में राज्य स्वायत्तता आन्दोलन

अध्याय की रूपरेखा

17.1 प्रस्तावना
17.2 स्वायत्तता आन्दोलनों के अभिलक्षण
17.3 भारतीय दृष्टांत
17.3.1 कांग्रेसी आधिपत्य का दौर : 1947–1977
17.3.2 जनता शासन का दौर : 1977–1979
17.3.3 गठबंधन राजनीति का दौर
17.4 सार–संक्षेप
17.5 अभ्यास

17.1 प्रस्तावना

भारतीय संघ की प्रकृति, जैसी कि संविधान में निर्धारित की गई, के विषय में बहस के चलते अब लगभग तीनदशक हो चुके हैं। सम्मति का आम रुझान इसे एक संघीय संविधान के रूप में लिए जाने पर रहा है, परन्तुएक बेहद मज़बूत एकात्मक अभिनति के साथ। गत कई दशकों के दौरान उसकी कार्यशैली, हालाँकि, राज्यों कीशक्तियों पर एक नियमित अतिक्रमण के साथ निश्चित रूप से एकात्मक पद्धति पर रही है, जिसका अर्थ यह हैकि संविधान केन्द्र के लिए ऐसी क्रियाविधियाँ प्रस्तुत करता है वह घटक राज्यों के अधिकारों व शक्तियों मेंअनधिकार हस्तक्षेप और काट–छाँट कर सके। नब्बे के दशक में गठबंधन राजनीति के दौर में, जो कि अबतक जारी है, इस प्रक्रिया को रद्द तो नहीं पर रोका अवश्य गया है; यह सब संघ सरकारों की विविध क्षेत्रीयपार्टियों अथवा वामपंथ के समर्थन पर निर्भरता की वजह से है। इसके अतिरिक्त, वे प्रावधान भी जो राज्यों केमुकाबले केन्द्र को सर्व–शक्तिमान बनाते हैं, विधायिका के मुकाबले कार्यपालिका को मज़बूत करने की ओरअग्रसर रहते हैं। आम भाषा में इस प्रक्रिया को शक्तियों के 'केन्द्रीकरण' के नाम से जाना जा सकता है। यहप्रवृत्ति बदले में राज्यों की ओर से एक जवाबी कार्रवाई को उकसाती है ताकि वे अपनी शक्तियाँ फिर से प्राप्तकर सकें।

17.2 स्वायत्तता आन्दोलनों के अभिलक्षण

राज्यों की ओर से प्रत्याक्रमण की एक अभिव्यक्ति ने आन्दोलन का रूप ले लिया है जिसकी चर्चा राज्य स्वायत्तताआन्दोलन के नाम से की जाती है। यह वित्तीय संसाधनों हेतु उस संघर्ष से कहीं अधिक है जो राज्यों की ओरसे सदा एक मिताचार रहा है। ऐसा इसलिए है कि केन्द्र और राज्यों के बीच शक्ति–विभाजन इस प्रकार कियागया है कि शक्ति–संतुलन राज्यों के विरुद्ध जाता है। विस्तार से बताने की बजाए चलिए एक छोटा–सा उदाहरणलेते हैं। लगातार बढ़ती आयों पर कर, जैसे उत्पादन–शुल्क व सीमा–शुल्क अथवा आयकर, जिन्हें आय के'लोचदार' स्रोत भी कहा जाता है, लगाने संबंधी सभी अधिकार केन्द्र के पास ही हैं। जबकि आय केऐसे स्रोत ही जो अचल हैं, जिन्हें 'अलोचदार' भी कहा जाता है, बिक्री–कर को छोड़कर, राज्यों के पास हैं। इसप्रकार राज्य संसाधन–विहीन हो जाते हैं और वे कोई भी काम हाथ में लेना चाहें उन्हें केन्द्र का मुँह ताकनापड़ता है।वित्तीय संसाधनों हेतु संघर्ष से परे, राज्यीय स्वायत्तता आन्दोलनों का एक राजनीतिक आयाम है, जो उन्हें एकविशिष्ट लक्षण प्रदान करता है। इस आयाम में अनु. 356 के तहत केन्द्र द्वारा अधिकारों का प्रयोग किए जाने,राज्य सरकार को बर्खास्त करने, राज्यपालों की नियुक्ति एवं पद–च्युति करने, राज्यों का संघीय दृष्टिकोण मेंअस्तित्व बनाये रखने संबंधी प्रश्न, व ऐसे ही अन्य प्रश्न शामिल होते हैं। इन सब में केन्द्र विवेकाधिकारों काप्रयोग करता है और राज्य नितांत केन्द्र की दया–दृष्टि पर रहते हैं। राज्य स्वायत्तता हेतु आन्दोलन इन मुद्दोंके इर्द–गिर्द ही केन्द्रित रहा है।

राज्य स्वायत्तता की व्याप्ति का **सरकारिया कमीशन रिपोर्ट** नामक दस्तावेज मेंसबसे अच्छी तरह प्रग्रहण किया जा सकता है।'राज्य–स्वायत्तता' हेतु माँगों के रूप में राजनीतिक सत्ता की केन्द्रीकरण प्रक्रिया तथा प्रति–प्रवृत्ति की अभिव्यक्तिदोनों को समझने का एक तरीका इसको दो स्तरों पर देखना है :- प्रथम, पूँजीपतियों व भूस्वामियों जैसे शासकवर्गों के एकीकरण व भेदीकरण और वे अपने प्रतिवादों को नियंत्रित करने का प्रयास किस प्रकार करते हैं, केमाध्यम

से; तथा दूसरे, इसका संबंध आम आदमी, कामगार वर्ग, कृषिवर्ग व अन्य श्रमजीवी लोगों की बढ़तीलोकतांत्रिक आकांक्षाओं एवं उनके प्रत्यक्ष संघर्षों से जोड़े जाने के माध्यम से। इन सब बलों का राजनीतिक दलोंव उनके संघों द्वारा प्रतिनिधित्व किया जाता है। ऐसा करने से पूर्व, राज्य स्वायत्तता हेतु इन माँगों को सहीसमझने के लिए उन आधाररूप बलों को समझ लेना ज़रूरी है जो राजनीतिक सत्ता के केन्द्रीकरण की ओरप्रेरित करते हैं। राज्यों व केन्द्र के लिए अर्थव्यवस्था की कार्यप्रणाली का विरोधात्मक परिणाम तथा किस प्रकारकी प्रतिक्रिया वह उत्पन्न करता है, महत्त्वपूर्ण है। एक बड़ा ही महत्त्वपूर्ण परिणाम पूँजीवाद के विकसन सेप्रभावित होता है।पूँजीवाद का विकसन, अपनी एक शर्त के रूप में, जिस उत्पादन हेतु वृहत्तर पण्य क्षेत्रों के विरचन को आवश्यकबना देता है। उक्त शर्त और पूँजी, जो हमेशा ही बढ़ती जाती है, संबंधी अपेक्षाएँ निर्णयन् के केन्द्रीकरण कीमाँग करती है। राज्य सत्ता का केन्द्रीकरण अंशतः पूँजीवादी विकास में निहित इसी आंतरिक तर्कसंगति काप्रकटन है। इसके परिणामस्वरूप राज्यों के अधिकारों का निरंतर क्षय अथवा उनके लिए स्वायत्तता से इंकारएक सहज भाव में इस या उस नेता अथवा इस या उस दल की इच्छा मात्र का विषय नहीं है; यहाँ और गहरेप्रभाव काम करते हैं। यह ऐसी प्रवृत्ति है जो संसार भर में प्रत्यक्ष–योग्य है। अमेरिका अथवा कनाडा में संघ केक्रमविकास का इतिहास यही दर्शाता है। इस प्रकार, राज्य स्वायत्तता और राज्य अधिकारों का विषय केवल एकसंवैधानिक स्तर पर संघीय व एकात्मक वरीयताओं के बीच सहज विकल्प से कहीं अधिक है, इस तथ्य के बावजूदकि सत्ता का संवैधानिक विभाजन बहुत महत्त्वपूर्ण है।सत्ता के केन्द्रीकरण की ओर झुकाव स्वाभाविक है परन्तु वह विभिन्न देशों में विशिष्ट परिस्थितियों में किस प्रकार हल निकालता है राजनीतिक बलों के विन्यास पर निर्भर है।

17.3 भारतीय दृष्टांत

हम भूमण्डलीय रुझानों की ओर न देखकर सिर्फ़ भारत का उदाहरण लेते हैं। चलिए, भारतीय राजनीति को तीन प्रमुख चरणों में बाँटकर भारतीय राजनीति पर नज़र डालते हैं :

(1) 1947 से 1977 तक कांग्रेस पार्टी का निर्बाध शासन;

(2) 1977 से 1979 तक जनता पार्टी का शासन व 1980 में कांग्रेस की वापसी; और

(3)1996 से आरंभ गठबंधन राजनीति का वर्तमान युग।

17.3.1 कांग्रेसी आधिपत्य का दौर : 1947–1977

भारत में विशेष रूप से, राजनीतिक केन्द्रीकरण प्रक्रिया को केन्द्र के साथ–साथ अधिकांश राज्यों में भी पहले 30वर्षों तक कांग्रेस पार्टी के कामोवेश निर्बाध शासन द्वारा आसान बना दिया गया और कांग्रेस शासन के आधिपत्यको मिल रही चुनौतियों की वजह से यह ज़रूरी भी हो गया था। कांग्रेस के प्रयास विकास के पूँजीवादी मार्ग परबढ़ते संकट की सूरत में एक असुरक्षित नेतृत्व द्वारा किए जाने वाले प्रयास ही थे। वास्तव में, जनता कीबुनियादी समस्याओं को हल करना तो दूर रहा, उनकी मुश्किलों को कम करने तक में अर्थव्यवस्था कीअसफलताओं के कारण, भारतीय राजनीतिक व्यवस्था एक अर्ध–स्थायी संकट की स्थिति में आ गई थी। कांग्रेसके राजनीतिक प्रभुत्व और राज्य सत्ता पर उसके आधिपत्य ने न सिर्फ़ उसे बार–बार उठ खड़े होने वालेराजनीतिक संकटों पर दमन अथवा चालाकियों से काबू पाने में मदद दी, बल्कि स्थिति की सवर्था तर्कसंगति द्वारा,राजनीतिक सत्ता की केन्द्रीकरण एवं संकेन्द्रण की ओर प्रवणता को भी गंभीर बना दिया। भारत में शासक–वर्गदलों के बीच विभाजनों की आदत होने के कारण कांग्रेस को इस केन्द्रीकृत सत्ता को आपात स्थिति रूपी सत्तावादीशासन में बदल डालने में कोई दिक्कत नहीं आयी। इसका परिणाम, जैसा कि हम सबने एक भयंकर रूप मेंअनुभव किया, महज संघीय सिद्धांतों का अपरदन तथा राज्य के अधिकारों व शक्तियों को नकारा जाना ही नहींथा बल्कि शासक वर्गों के हिस्सों समेत जनता की लोकतांत्रिक एवं नागरिक स्वतंत्रताओं को धता बताना भी था।हाल के बीते वर्षों में इस घटनाचक्र और एक संभावित भविष्य में उनके पुनरावर्तन की संभावना के संदर्भ मेंही राज्य–स्वायत्तता हेतु माँग के आस–पास संघर्ष महत्त्व पा लेता है और अपना संबंध जनता के लोकतांत्रिकअधिकारों हेतु संघर्ष से जोड़ कर दिखाता है।

उपर्युक्त परिप्रेक्ष्य में ही, हम राज्य सत्ता की केन्द्रीकरण प्रक्रिया के परिणाम में विभिन्न आयामों के बीचअन्तर्संबंधों को देखेंगे। हम भारत में विभिन्न राज्य–स्वायत्तता आन्दोलनों के मूल कारणों व आवश्यकताओं का भी अध्ययन करेंगे। विभिन्न आन्दोलनों के विविध वर्ग–आधारों :- उदाहरणार्थ, अकाली अथवा द्रविड़ आन्दोलन का प्रतिनिधित्व करते विभिन्न दलों, या फिर जम्मू–कश्मीर अथवा पश्चिम बंगाल, आदि :- को देखते हुए यह भी ज़रूरी है कि यह जाना जाये कि एक ही मुद्दे को लेकर लड़ रहीं इन विभिन्न पार्टियों के बीच क्या कोई वस्तुपरक सम्पूरकताएँ हैं। ये, वस्तुपरक सम्पूरकताएँ, महत्त्वपूर्ण विच्छिन्नताओं के बावजूद, राजनीति दलों के भाग्यों के साथ–साथ राज्य स्वायत्तता हेतु माँग की उच्चीकृत अभिव्यक्ति के लिहाज से भी 1967–1969 व 1977–1979 की अवधियों में महत्त्वपूर्ण समानताओं को स्पष्ट करने में मदद कर सकती हैं। इन दोनों ही अवधियों में कांग्रेस पार्टी का पतन तथा राजनीतिक उत्कर्ष हेतु क्षेत्रीय राजनीतिक दलों व

संरचनाओं का उद्‌गमन होते देखा गया। दोनों ही स्थितियों में, एक या दो राज्यों को छोड़कर, क्षेत्रीय अथवा आंचलिक रूप से आधारप्राप्त वे दल जिन्होंने कांग्रेस पार्टी की कीमत पर ही लाभ प्राप्त किया था, वे ही शासकवर्गीय क्षेत्रीय पार्टियाँ रहीं। इसी प्रकार, वे दल जिन्होंने इन दोनों अवसरों पर विभिन्न राज्यों में सरकारें बनायीं, एक सदृश नीति–अधिमान दृष्टिकोण के भीतर रहकर केन्द्र के साथ–साथ राज्यों में भी कांग्रेस पार्टी को विरोधी पक्ष प्रदान कर रहे थे; उदाहरणार्थ, पंजाब में अकालीदल, उत्तर प्रदेश में भारतीय क्रांति दल, तमिलनाडु में द्रविड़ मुन्नेत्र कड़गम, आदि। यहाँ यह तर्क दिया जा सकता है कि क्षेत्रीय शासकवर्गीय दलों के विकास और समेकन को स्थानीय रूप से स्थापित शासकवर्गीय समूहों–जैसे पंजाब, हरियाणा, पश्चिमी उत्तर प्रदेश, आदि में जमींदार एवं कुलक अथवा तमिलनाडु में ग़ैर–बड़े बुर्जुआ वर्ग :- के हितों द्वारा आमतौर पर इच्छानुकूल किया जाता रहा है। हमें यह दावा शायद सत्य–प्रतीयमान लगे कि विभिन्न राज्यों के बीच भूमिगत हितों में विभेदीकरण भूमि–धारणाधिकारों, भूमि विकास व भूमि–उत्पादकता,फसल विशिष्टिकरण, आदि के ऐतिहासिक रूप से वंशागत परिणामों में सबसे ऊपर केन्द्र द्वारा निवेशों व रियायतों के विभेदीय वितरण की वजह से ही है। आर्थिक संकट के हालातों में सभी जगह समान रूप से प्रभावी भूमिगत हितों को रियायतों की खैरात बाँटने में राज्य की अक्षमता भेदभाव और फलस्वरूप असंतोष की ओर प्रवृत्त करती है। यह क्षेत्रों के पार उसी वर्ग के भीतर हित–संघर्ष को जन्म देने की भी संभावना रखती है।

इसी प्रकार,हालाँकि एक अलग तरीके से, ग़ैर–बड़े बुर्जुआ वर्गों को उन बाज़ार नियमों के संचलन द्वारा वस्तुपरक रूप सेव्यवधान पहुँच सकता है, जो बड़े बुर्जुआ वर्गों के पक्ष में हों और इसी प्रकार स्थानीय रूप से स्थापित ग़ैर–बड़ेबुर्जुआ वर्गों के विकास में अड़चन डालते हों। इस प्रकार की स्थिति, भाषाधारिक–सांस्कृतिक दमन संबंधी स्पष्टअनुभवों के साथ, तमिलनाडु जैसे एक विशिष्ट जन–संयोजन वाले कुछ स्पष्ट रूप से सीमांकित क्षेत्रों में ग़ैर–बड़ेबुर्जुआ वर्गों के लिए भौतिक आधार प्रदान कर सकती है ताकि एक प्रभावशाली क्षेत्रीय दृष्टिकोण :- द्रविड़आन्दोलन:- वहाँ के जमींदारों के साथ एक गठबंधन शुरू कर सकें। इस प्रकार की परिस्थितियों में, स्थानीयरूप से स्थापित शासकवर्गीय समूह सत्ता अथवा विपक्ष में क्षेत्रीय दलों के माध्यम से अपने लिए अधिक सत्ताधिकारहेतु प्रयास करते हैं ताकि उन्हें तब अपने हितों की वृद्धि में प्रयोग किया जा सके जब उन्हें लगे किअखिल–भारतीय शासकवर्गीय दलों द्वारा उनकी पूर्ति सर्वोत्तम ढंग से नहीं हो रही है। ऐसी परिस्थितियों में, येशासकवर्गीय समूह आर्थिक संकट गहराने की वजह से जन्मे जन–असंतोष का लाभ उठाते हैं ताकि अपने–अपनेराज्यों के पक्ष में प्रतिपक्षकारी राजनीति को बढ़ावा दे सकें। इस प्रकार का विन्यास एक वस्तुपरक आधार प्रदानकरता है जिस पर क्षेत्रीय आन्दोलन फलते–फूलते हैं और राज्यों हेतु अधिक ''स्वायत्तता'' के लिए प्रयासकरते हैं।

उपर्युक्त के परिणामस्वरूप, 1967–1969 के दौरान, राजनीतिक एकाश्मक के रूप में कांग्रेस पार्टी के पतनहोने और क्षेत्रीय राजनीतिक दलों व दृष्टिकोणों का उत्कर्ष होने के साथ ही केन्द्र–राज्य संबंधों का प्रश्न एक नई तीक्ष्णता के साथ उठ खड़ा हुआ। 1977–1979 की अवधि में भी इसी दृश्यघटना की पुनरावृत्ति देखी गई। परन्तु 1967–1969 तथा 1977–1979 के बीच एक विशेष अंतर है, हालाँकि समानताएँ ही महत्त्वपूर्ण हैं।

कांग्रेस की 1967 की हार केवल आंशिक थी और केन्द्र में उसने कांग्रेस के लिए ख़तरा पैदा नहीं किया। 1977 से भिन्न, जब उसका बिल्कुल ही सफ़ाया हो गया था, 1967 के चुनावों ने राजनीतिक संकट से निबटने केलिए कांग्रेस द्वारा कुशल कपट–प्रबंध किए जाने की संभावना खुली छोड़ दी थी। 1967 में हुई कांग्रेसी की हारने पहले से कहीं अधिक सुस्पष्ट तरीके से उग्र नारों और लफ़्फ़ाज़ी था सहारा लेकर वामपंथ की ओरकुशलतापूर्वक खिसककर केन्द्र में कांग्रेसी सत्ता का प्रयोग करके ''अड़ंगेबाजी'' की ओर प्रवृत्त किया। इनगतिविधियों की सफलता, अन्य बातों के अलावा, केन्द्र में उस सत्ता पर निर्भर करती थी जो इन्दिरा गाँधी केनियंत्रण वाले राजनीतिक धड़े के पक्ष में समर्थनकारी राज्यीय कार्रवाइयों को आसान बना देता था।

17.3.2 जनता शासन का दौर : 1977 . 1979

केन्द्र में सत्ताधारी जनता पार्टी का स्वभाव किसी भी अन्य पार्टी से भिन्न था। यह अनेक विपक्षी दलों का एकजमघट ('भानुमति का कुनबा') था और इसका जन्म जन संघ से लेकर सोशलिस्टों तक के अनमेल विपक्षी गुटोंतथा जगजीवन राम के नियंत्रण वाली कांग्रेस पार्टी से टूटकर अलग हुए गुट के तेजी से एकजुट हो जाने केफलस्वरूप हुआ था। उनके हित एवं कार्यक्रम स्वभावतः बहुत भिन्न थे। एक असाधारण स्थिति :- इंदिरागाँधी की आपात्–काल शासन प्रणाली को शिकस्त देने की आवश्यकता :- उन्हें एक साथ ले आयी। ये राजनीतिकदल नव–गठित जनता पार्टी के हित और कार्यक्रमों का प्रतिनिधित्व करने लगे; जन संघ कुछ निश्चित क्षेत्रों मेंव्यापारिक टटपूँजियों या सामंती ज़मीदारों का, भारतीय लोकदल/भारतीय क्रांति दल/लोक दल उत्तरी भारत केतीन या चार राज्यों में ज़मीदारों व कुलकों का, 'स्वतंत्र' बुर्जुआ व तत्कालीन सामंती शासकों का; कांग्रेस(पुरानी) ही एकमात्र पार्टी थी जो, इंदिरा कांग्रेस की भाँति, संपूर्ण शासक वर्ग का प्रतिनिधित्व करती थी, औरसमाजवादी पार्टियाँ जो किसी वर्ग के साथ कोई निकट पहचान नहीं रखती थीं, सिवाय

इसके कि वे उग्रवाद औरकृषक जनवाद के अस्पष्ट संयोजन को प्रस्तुत करती थीं। अभिव्यक्ति हितों व प्रस्तुत दृष्टिकोणों के प्रतिबिम्बने उसे वर्ग–हितों के लिहाज से कांग्रेस से कतई भिन्न नहीं बनाया।

इस प्रकार के संघट्ट ने केन्द्र में सरकार तो बनायी परन्तु उसके विभिन्न घटक अन्य घटकों के साथ असुखकरगठजोड़ों में विभन्न राज्यों में सत्ता में रहे। किसी व्यवहार्य समझौता फ़ार्मूले के अभाव में, उनके विभिन्नसामाजिक आधारों व जन–समर्थन ने जनता पार्टी में भीतर उन्हें घुड़–व्यापार (नेताओं की खरीद– फ़रोख्त) परमज़बूर कर दिया ताकि नीतियों की इस कदर आलोचना की जाये कि जन–समर्थन बनाये रखा जा सके। यहभी हुआ कि जनता पार्टी अपने शासन की खातिर विभिन्न क्षेत्रीय दलों पर इतनी अधिक निर्भर रही कि जितनीकांग्रेस भी, 1969–1971 की संक्षिप्त अवधि को छोड़कर, कभी नहीं रही। अत्यावश्यक विषयों पर अन्तर्संसक्तिके साथ–साथ अंतः–दलीय मतैक्य के अभाव ने उसके लिए मुश्किल कर दिया कि अपनी इच्छा थोपे अथवा शासकवर्गों की प्रभावशाली ढंग से संरक्षण अथवा मार्गदर्शन प्रदान करे। इसने भारतीय राजनीति में संघीय प्रक्रिया कोऔर अधिक तरल और सौदेबाज़ी के लिए खुला बना दिया क्योंकि इसने संगठित व असंगठित दोनों ही तरीकोंसे जनशक्ति की अभिव्यक्ति को भी सरल बना दिया था। इस प्रकार की स्थिति ने एक संवैधानिक–न्यायसंगतअर्थ में राज्यों के अधिकारों में किसी भी परिवर्तन की ओर प्रवृत्त नहीं किया बल्कि विभिन्न राजनीतिक धारणाओंके तहत राज्यों को राजनैतिक रूप से बहुत लाभ पहुँचाया, जैसे पश्चिम बंगाल, अड़ंगा डाले जाने अथवाअत्यधिक परेशान किए जाने के भये से मुक्त होकर एक स्वतंत्र रास्ता चुने। इसी प्रकार, शासक वर्गीय व्यक्तियोंकी तुलना में मेहनतकश लोग बेहतर सौदेबाज़ी भी कर सकते थे।यह विभाजन, एक सैद्धान्तिक दृष्टिकोण से, पहले विद्यमान विभाजन से बुनियादी रूप से भिन्न नहीं था। परन्तुएक बहुत महत्त्वपूर्ण तथ्य था : प्रबल–वर्ग दलों हेतु समर्थन अधिकाधिक कणीकृत और अपेक्षाकृत अधिक समानवितरित हो गया था, और हो भी रहा था, जबकि पहले यह एक पार्टी के इर्द–गिर्द ही छाया रहता था, यथा कांग्रेसपार्टी। इसके अतिरिक्त, वामपंथी ताकतें, खासकर सी.पी.आई. (एम.), पहले किसी भी समय की अपेक्षाकृतअधिक शक्तिशाली हो गईं, यद्यपि अखिल–भारतीय संदर्भ में निर्णयकारी नहीं बन सकीं। इस घटनाचक्र केराजनीतिक प्रक्रिया हेतु ये निहितार्थ :- जनता पार्टी की संघट्ट प्रवृत्ति, अन्य शासक वर्गीय दलों का कणीकरणतथा वामपंथी ताकतों की बढ़वार :- दूरगामी प्रभाव रखते थे। इस प्रकार की स्थिति ने जन–शक्ति कीअभिव्यक्ति हेतु, यथा :- जन–आन्दोलन, कामगार वर्ग संघर्ष, कृषक आन्दोलन, आदि के साथ–साथ विभिन्नघटक राज्यों के अधिकारों के समेकन एवं स्वायत्तता हेतु संघर्ष के लिए :- एक प्रेरक वातावरण प्रदान किया।इसका उल्लेखनीय उदाहरण तुलनात्मक सहजता थी जिसके सहारे पश्चिम बंगाल की वाम मोर्चा के नेतृत्व वालीसरकार मूलभूत सुधारों को पूरा कर सकी। यहाँ जो ग़ौरतलब है, वो है :- जनता पार्टी की संघट्ट प्रवृत्ति;दूसरे शब्दों में, जो बात निर्णायक सिद्ध हुई, वो थी :- कांग्रेस पार्टी जैसे किसी एकाश्मक का अभाव। ऐसी स्थितिमें नितान्त भिन्न सैद्धान्तिक परिप्रेक्ष्यों वाले और विविध सामाजिक एवं वर्ग हितों का प्रतिनिधित्व करने वाले दलराज्यों के अधिकारों हेतु संघर्ष के लिए एकजुट हो गए। जाहिर है कि वे नितान्त भिन्न हितों को बढ़ावा देनेके लिए राज्यों हेतु और अधिक अधिकारों का प्रयोग करते।

ऑल इण्डिया अन्ना द्रमुक मुनेत्र कड़गम अथवा अकाली दल जैसी पार्टियाँ अपने राज्यों में प्रबल वर्गों के विशिष्टहितों का प्रतिनिधित्व करती हैं। ये पार्टियाँ स्थानीय रूप से स्थापित शासक–वर्ग समूहों के हित में अपने लिएवृहत्तर शक्ति हेतु प्रयास करती हैं, ऐसे वक्त में जब उनके हितों का केन्द्रीकृत राज्यों द्वारा सर्वोत्तम रूप सेध्यान न रखा जा रहा हो।वाम–लोकतांत्रिक दलों को, दूसरी ओर, लोकतांत्रिक अर्थव्यवस्था व लोकतांत्रिक राजव्यवस्था के हित में राज्यस्वायत्तता की ज़रूरत है। राज्यों के लिए अधिक अधिकारों हेतु उनकी तलाश सिर्फ़ तभी पूरी हो सकती है जबकामगार वर्ग एवं कृषिवर्ग के वर्ग अधिमानों को मूर्त रूप दिया जा सकता हो। इसकी नितान्त तर्कसंगति मेंशासकवर्ग शक्ति के भौतिक आधारों को गुप्त रूप से क्षति पहुँचाने के लिए राज्य–स्वायत्तता का प्रयोग शामिलहै। राज्य–स्वायत्तता संबंधी वाम–लोकतांत्रिक अवधारणा इसीलिए अकालियों अथवा द्र.मु.क./ऑल इण्डियाद्र.मु.क. जैसी पार्टियों वाली से एक बिल्कुल भिन्न प्रकार की राजनीति को बढ़ावा देने का प्रयास करती है।जबकि हर पार्टी ने अपने निजी विशिष्ट उद्देश्यों एवं वर्ग अधिमानों को आगे बड़ने का प्रयास किया, उनकाएक साथ आना किसी अवसरवादी राजनीति में सहायता नहीं करता। इस स्थिति ने एक ऐसी परिस्थिति कोसामने रखा जिसे **वस्तुपरक सम्पूरकता** कहा जा सकता है; यथा, राज्याधिकारों हेतु एक साझा संघर्ष के लिएविभिन्न दल अपने विविध अधिमानों को लेकर विभिन्न राजनीतिक उद्देश्यों के अनुधावन का प्रयास करते हैं।भारत के जैसी एक वृहद संघीय राज्य–व्यवस्था में यह कभी–कभी अपरिहार्य हो जाता है। इसी कारण, वह तर्कजो राज्य–स्वायत्तता आन्दोलन को उसके विविध वर्गीय एवं सामाजिक परिणामों की वज़ह से रद्द समझ लेता है,भ्रम–जनित है।

भारत में केन्द्र व राज्यों के बीच सत्ता–संतुलन और अधिक ठीक करके यह न सिर्फ़ एक बेहतर संघ शासन केविकास की ओर प्रवृत्त करेगा बल्कि एक अधिक लोकतांत्रिक समाज की ओर भी ले जायेगा। राजनीति को औरअधिक सहभागितापूर्ण बनाते हुए निर्णयन् को अधिकाधिक विकेन्द्रीकृत किया जायेगा। सत्ता के केन्द्रीकरण कोजब कभी भी औपचारिक लोकतांत्रिक दृष्टिकोण कार्यरूप देते हैं, राजनीति आम आदमी से दूर चली जाती है।सत्ता का केन्द्रीकरण राज्य

की कार्यवाही में सत्तावादी प्रवृत्तियों को भी बढ़ावा दे सकता है।राज्य–स्वायत्तता हेतु आन्दोलन निर्णायक बना परन्तु उसे एक स्थायी रूप प्रदान करने के लिए कोई बड़ासंवैधानिक परिवर्तन नहीं लाया जा सका। हम नहीं जानते कि क्या होता यदि जनता पार्टी ज्यादा चली होती।उसका अंत अप्रत्याशित ही रहा। सुरक्षित बहुमत वाले इंदिरा गाँधी के नेतृत्व में कांग्रेस पार्टी की वापसी के साथही राज्य–स्वायत्तता हेतु आन्दोलन धीरे–धीरे नेपथ्य की ओर चला गया।

17.3.3 गठबंधन राजनीति का दौर

वर्तमान क्षण में पहले की भाँति राज्य–स्वायत्तता हेतु कोई आन्दोलन नहीं है, हालाँकि राज्य के लिए अधिकवित्तीय संसाधन प्राप्त करने हेतु संघर्ष अभी जारी है। 1990 में, भारतीय राजनीति में सक्रिय ताकतों केसहसंबंध में एक सुस्पष्ट परिवर्तन आया। चलिए, उस पर यह जानने के लिए नज़र डालते हैं कि आज ऐसा

एक भी आन्दोलन क्यों नहीं है। हम सबने 1996 से भारतीय राजनीति में एक प्रतिमान को विकसित होते देखाहै जिसमें भारत नामक राष्ट्र–राज्य की सरकार केवल एक अथवा अन्य राज्यों में अपना आधार रखने वालेउतने ही राजनीतिक बलों व दलों से मिलकर बनी है। कोई भी अखिल–भारतीय पार्टी अथवा जिन्हें भारत में''राष्ट्रीय दल'' कहा जाता है, देश को सरकार देने में सफल नहीं रही है। परिपाटी अनुसार कहने पर, यहयूरोपीय दृष्टांत पर आधारित एक गठबंधनात्मक प्रतिमान है। परन्तु भारत की बहु–नृजातीय विशिष्टता केपरिप्रेक्ष्य में, यह एक और अधिक गहन विश्लेषण पर आधारित गठबंधन से कहीं अधिक है। यह राष्ट्र और राष्ट्रको बनाने वाले क्षेत्रों द्वारा देश का सह–शासन कहीं अधिक है। राष्ट्र–राज्य के स्तर पर केन्द्र को जो गठितकरता है, उनमें से उतने ही से मिलकर बनता है जो उसके पक्ष में बात करते हैं और राष्ट्र का वे उतना हीप्रतिनिधित्व करने का दावा करते हैं जितना कि वे जो विभिन्न क्षेत्रों के लिए ऐसा करने का दावा करते हैं।दरअसल, स्वतंत्रताप्राप्ति के आरंभिक वर्षों की ओर मुड़कर देखे जाने पर, यह रूपरेखा विभिन्न नैतिक बलों केबीच एक लम्बी ऊहापोह का परिणाम रही, यथा ''राष्ट्र'' का प्रतिनिधित्व कैसे और किसके द्वारा किया जायेगा;राष्ट्र (राज्य) के पहचान चिह्न क्या रहेंगे, आदि। राष्ट्र–राज्य एवं विभिन्न क्षेत्रीय राज्यों का प्रतिनिधित्व करनेवाली नानाविध शक्तियों के अपने–अपने दावों का जमघट लगाती यह एक धीमी प्रक्रिया का परिणाम है।

उपर्युक्त से यह बिल्कुल स्पष्ट है कि नब्बे के दशक में इस अवधि की पहचान रही :- एक कुछ–कुछ चिरस्थायीरीति से क्षेत्रीय दलों का सुस्पष्ट रूप से उठना। इस अल्प अवधि में ही (इस समय कोई दीर्घ अवधि नहीं हैजिसको भारतीय राजनीति में विश्लेषणात्मक रूप से देखा जा सके), इस प्रवृत्ति के बदलने के कोई आसार नहींदिखाई पड़ते। परन्तु क्षेत्रीय दलों के उठान को जो सूचित करता है वो भारत में केन्द्र व राज्यों के बीच किसीखुल्लम–खुल्ला संघर्ष अथवा टकराव का अभाव ही है, बेशक मतभेदों में से अधिकतर कितने भी मुद्दों पर दर्शायेजा सकते हों। मतभेदों के लिहाज से केन्द्र व राज्यों के बीच जो हो रहा लगता है, सहजीवी स्पर्धा की प्रकृतिमें है। इस प्रवृत्ति ने 1996–97 में दो यूनाइटेड फ्रण्ट मंत्रालयों के शासन काल में स्पष्ट और नियत रूपधारण कर लिया। यहाँ तक कि अपने अति देशप्रेमी राष्ट्रवाद व कट्टर सम्प्रदायवाद तथा केन्द्रीकृत होतीविचारधारा वाली भा.ज.पा. पर दबाव डाला गया है कि इस प्रतिमान को स्वीकार कर ले और इन प्रतिमानों केभीतर अपरिहार्य बनी व्यवहार संहिता के प्रति बनावटी प्रेम प्रदर्शित करे। सीमाओं पर यहाँ–वहाँ एक–आध क्षेत्रको छोड़कर, भारत की राष्ट्रीय एकता गहरी जड़ें जमाती लगती है। यहाँ इस दृश्य घटना के निर्माण में कारणोंव कुछ अनियत शृंखलाओं की तलाश करना एक बहस छेड़ने का प्रयास ही होगा।

17.4 सार–संक्षेप

भारत के विभिन्न राज्यों व क्षेत्रों का प्रतिनिधित्व करती क्षेत्रीय रूप से आधारित राजनीतिक पार्टियों का एकताकत के रूप में उभरना पहली बार 1967–72 की अवधि में हुआ (और सत्तर के दशकांत में यह प्रतिमानअपने आप फिर सामने आया, हालाँकि अपेक्षाकृत एक छोटे स्तर पर)। चलिए, यहाँ तुलना के लिए प्रथमउल्लिखित काल की पुनः चर्चा करते है, जो अपने आप प्रकट हो रहा है। संपूर्ण काल, जैसा कि हमने देखा,केन्द्र व राज्यों के बीच प्रचण्ड (एवं तीक्ष्ण) संघर्ष से जाना जाता है। निरन्तर झगड़े और परस्पर दोषारोपणभी होते रहे। केन्द्र सरकार ने क्षेत्रीय सरकारों पर राष्ट्र–विरोधी होने का आरोप लगाया; राष्ट्रीय एकता परउन्हें खतरा बताया। राज्य सरकारों ने केन्द्र पर सत्तावादी होने का दोष लगाया; उसे लोकतांत्रिक मनसत्रों तथासंघीय व्यवस्था, दोनों पर खतरा बताया। राज्यों में अधिकांश शासक दल :- तमिलनाडु, केरल, पंजाब, पश्चिमबंगाल, त्रिपुरा, कश्मीर व कई अन्य :- ऐसे दस्तावेज प्रस्तुत करने लगे जो राज्यों के अधिकारों की रक्षा हेतुउपायों को तफसीलवार बताते थे और इस बात के विवरणों की सूची भी पेश करते थे कि केन्द्र ने किस प्रकारउनके क्षेत्राधिकार में अतिक्रमण किया है व राज्याधिकारों का उल्लंघन किया है। इनमें से हर एक सरकार नेविविध वैचारिक दृष्टिकोणों, वर्ग अधिमानों, सामाजिक आधारों, इत्यादि का प्रतिनिधित्व किया। इस बात के झमेलेमें वे किंचित ही पड़े कि उन राज्यों के लिए इस वृहत्तर सत्ता जिसके लिए वे लड़ रहे थे, विभिन्न राज्यों द्वाराप्रयोग किस प्रकार किया जायेगा, बशर्ते कि वे उसे अपने निजी उद्देश्यों से न हासिल करें। राष्ट्र–राज्य कीसरकार के विरुद्ध जो बात उन्हें एक साथ ले

आयी वो थी :- भिन्न वैचारिक एवं वर्ग अधिमानों के बावजूद एकवस्तुपरक संपूरकता, जैसे कि तमिलनाडु, पश्चिम बंगाल अथवा पंजाब, इत्यादि के बीच है।

वर्तमान में केन्द्र (राष्ट्र–राज्य) व राज्यों (क्षेत्रीय सरकारों) के बीच कोई तीक्ष्ण विवाद नहीं है यद्यपि अनेकमतभेद अथवा हित–विवाद भी हो सकते हैं जो आर्थिक एवं वित्तीय अथवा मौद्रिक नीतियों तथा संस्कृति व भाषानीतियों के इर्द–गिर्द केन्द्रित हों। इस स्थिति ने केन्द्र–राज्य संबंधों के क्षेत्राधार को इस कदर बदल डाला है किराज्य–स्वायत्तता आन्दोलन के लिए कोई गुंजाइश ही नहीं बची है।

17.5 अभ्यास

1) स्वायत्तता आन्दोलन के अभिलक्षणों की पहचान कर विवेचना करें।
2) कांग्रेस आधिपत्य और जनता शासन के बीच स्वायत्तता आन्दोलनों की प्रकृति की तुलना करें।
3) गठबंधन राजनीति के युग में स्वायत्तता आन्दोलन पर टिप्पणी करें।